भारतीय विद्या एवं संस्कृतिके अनन्य गवेषक

राजस्थान - पुरातत्त्व - विभागके प्रधान

आचार्य श्री जिनविजयजीके

कर-कमलोंमें

●

विषय-सूची

प्रस्तावना

श्रीमुनि कान्तिसागरजी प्राचीन विद्याओंके मर्मज्ञ अनुसन्धाता हैं। जैन मुनि लोग पैदल यात्रा करते हैं। इस पैदल यात्राके समय मुनिजीने पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनेक ऐसे स्थलोंको देखा है जहाँ साधारणतः आजकलके आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न अनुसन्धाता नहीं पहुँच पाते। इन ऐतिहासिक स्थानों, मन्दिरों, देवमूर्तियों, कलाशिल्पोंका बड़ा ही रोचक वर्णन उन्होंने "खोजकी पगडण्डियाँ" नामक पुस्तकमें दिया है। यह पुस्तक न तो मौजी घुमक्कड़का यात्रा-विवरण है और न पुरातत्त्वके ऐकान्तिक आराधककी नीरस मापजोख। फिर भी इसमें दोनोंके गुण मौजूद हैं। मुनिजी प्राचीन स्थानोंको देखकर स्वयं आनन्द-विह्वल होते हैं और अपने पाठकोंको भी उस आनन्दका उपभोक्ता बना देते हैं। पुस्तकमें किसी प्रकारकी 'हाय-हाय' या उच्छ्वास-भरी भाषा बिलकुल नहीं है। सहज भावसे वे द्रष्टव्यका वर्तमान रूप और अतीत इतिहास बता देते हैं।

स्वभावतः उनका अधिक ध्यान जैन ऐतिह्य और परम्पराकी ओर गया है। जैनतीर्थोंकी यात्राका उन्हें अवसर भी अधिक मिला है और जैन-शास्त्रोंके वे अच्छे ज्ञाता भी हैं। फिर भी उनकी दृष्टि बहुत ही व्यापक और उदार है। उनका ऐतिहासिक ज्ञान बहुत गम्भीर है। वस्तुतः इस समय जैन परम्पराके अधिक आलोड़नकी आवश्यकता भी है। कम लोग पुरातत्त्वके जैन पहलूका परिचय रखते हैं। इसीलिए मुनिजीका यह प्रयत्न और भी महत्त्वपूर्ण और आकर्षक हो गया है।

मुनिजीके कहनेका ढङ्ग भी बहुत ही रोचक है। बीच-बीचमें उन्होंने व्यंग्य-विनोदकी भी हल्की छींटें रख दी हैं। इतिहासको सहज और रसमय बनानेका उनका प्रयत्न बहुत ही अभिनन्दनीय है। जो लोग इतिहास-

को शुष्क और दुरूह बनाते हैं वे मनुष्यको उसके यथार्थ रूपमें समझने देनेके सामूहिक प्रयत्नमें बाधा ही उत्पन्न करते हैं। मुनिजीने ऐतिहासिक तथ्योंको बड़े रोचक ढङ्गसे उपस्थित किया है। यह इस पुस्तकका बड़ा भारी गुण है।

मैं हृदयसे मुनिजीकी इस छोटी-सी पुस्तकका स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि उन्होंने अपनी लम्बी पैदल यात्राओंमें जो अनमोल रत्न संग्रह कर रखे हैं उन्हें धीरे-धीरे हिन्दी पाठकोंके सामने और भी अधिक मात्रामें रखते जायँगे। तथास्तु।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
७–९–५३ —(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

आत्म-वक्तव्य

यों तो सर्वसाधारणके लिए यह जानना अनिवार्य नहीं कि लेखक जो कुछ प्रसव करता है, उसके पृष्ठभागमें किस प्रकारकी प्रेरणा कार्य करती है? किन्तु पाश्चात्य परम्परासे प्रभावित मनोवैज्ञानिकोंको रचनाकी अपेक्षा उस चक्रके संचालनमें सहायक प्रवृत्तियोंके प्रति अधिक जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है। यह विचार प्रत्येक लेखकके साथ सम्बद्ध तो होना चाहिए पर ऐसा देखा कम ही गया है। व्यक्तिका समुचित मूल्यांकन निखरे हुए व्यक्तित्वपर अवलम्बित है। व्यक्तित्वका विकास जिन महान् प्रेरणाओंके आधारपर होता है, उनसे जनता स्वर्णिम निर्माणकी ओर भलीभाँति आकृष्ट हो सकती है। अनुभवसे सिद्ध है कि कभी-कभी जनताकी रुचिके परिष्कार व नैतिक उत्थानमें कृतिकी अपेक्षा कृतिरचना प्रेरकतत्त्व अधिक सफल व उत्प्रेरक प्रमाणित हुए हैं। स्थूल दृष्टि प्रकृतिके वाह्यावरण तक सीमित रहती है, अर्थात् वह कलाकारके कृतित्वपर ही स्तम्भित हो जाती है किन्तु द्रष्टा अपनी संज्ञा यहीं नहीं खो बैठता, वह अन्तर्जगत्के निगूढ़तम तत्त्वोंके तहतक पहुँचता है। कृतित्वका उचित मूल्यांकन वस्तुपरक न होकर भावना-परक है। वस्तु तो विषयका आंशिक व स्थूल रूपमात्र है। रूपकी अपेक्षा रूपनिर्माण-चित्तवृत्तिके मन्थनका महत्त्व अधिक है। जीवन कुछ ऐसा है कि न जाने किस समय किस सामान्य घटनासे बदल जाय। सचमुच जहाँतक मानवविकासका प्रश्न है विकसितमानवकी अपेक्षा उसके क्रमिक विकासकी घड़ियाँ अगणित उज्ज्वल व्यक्तित्वका निर्माण कर सकती हैं। विकास-विषयक प्रेरणा व्यष्ट्यात्मक होकर भी तत्त्वतः पूर्णतः समष्ट्यात्मक है।

मेरे वैयक्तिक जीवनमें अभिरुचि रखनेवालोंकी ओरसे कई बार जिज्ञासा प्रकट की गई कि जैनमुनि होते हुए भी मेरा विशिष्ट आकर्षण आध्यात्मिक साधनाके केन्द्रसम मंदिरोंकी अपेक्षा जीर्ण-विशीर्ण व वृक्ष-लताओंसे परिवेष्टित निर्जन खण्डहर व गिरिकन्दराओंके प्रति क्यों है?

प्राय: इसकी उपेक्षा करना ही उचित समझा। ऐसा अनुभवजन्य विश्वास रहा है कि रुचिका भावी प्रशस्त व परिष्कृत परिणाम संस्कारजनित होते हुए भी सर्वथा आकस्मिक नहीं है। भावजगत् रूपी रुचि-बीज मानस धरातलमें अवश्य ही किसी न किसी रूपमें रहते हैं। उच्च कोटिके प्राणवान् बाह्य संस्कारों द्वारा सामयिक परिस्थिति और प्रेरणाके अनुसार उनका पोषण होता है। विकसित जीवनके पृष्ठभागमें अवश्य ही कोई न कोई उत्प्रेरक व स्फूर्तिप्रद एक या अधिक घटनाएँ रहती हैं जो आगे चलकर उसे विशिष्ट संज्ञासे अभिषिक्त कर उसका अपना स्वतंत्र व आदर्शमूलक स्थान बना देती हैं। प्राय: देखा गया है कि बाल्यजीवनकी कतिपय विशिष्ट घटना या रुचि क्रमशः पोषिक होकर जीवनसाधनाको केन्द्रित कर लेती है।

बचपनसे ही मुझे निर्जनवन व एकान्त खण्डहरोंसे विशेष स्नेह रहा है। अपनी जन्मभूमि जामनगरको बात लिख रहा हूँ। वहाँका खण्डित दुर्ग ही मेरा क्रीड़ास्थल रहा है। "होडिया कोठा" और तत्सन्निकटवर्ती विशाल व स्वच्छ सरोवर सौराष्ट्रमें सौन्दर्यके प्रतीक समझे जाते हैं। आजसे २२ वर्ष पूर्वकी बात है—सरोवरके किनारेपर टूटे हुए खण्डहरोंकी लम्बी पंक्ति थी, जहाँ बारहों मास प्रकृति स्वाभाविक शृंगार किये रहती है। कहना चाहिए वे खण्डहर संस्कृति, प्रकृति और कलाके समन्वयात्मक केन्द्र थे। उन दिनों मैं गुजराती चौथी कक्षामें पढ़ता था। पढ़नेमें भारी परेशानीका अनुभव होता था पर अभिभावकोंका तक़ाज़ा इतना कड़ा व अटल था कि बिना शाला गये माँका प्यार छोड़कर भोजनतक मिलना असम्भव था। अधिक नियंत्रण व्यक्तिको कभी-कभी स्वच्छन्द बना देता है यदि उसका दृष्टिकोण स्वस्थ न हो तो। मैं और मेरी बहिनने अपना बचतका वैधानिक मार्ग सुगमतापूर्वक निकाल ही लिया। उन दिनों "पढ़ने" का तात्पर्य केवल इतना ही था कि शालाके समय घरपर न रहना। शालाके समय अपने बस्ते लेकर हम लोग सरोवर-तटवर्ती खण्डहरोंमें छिपा देते और वहीं खेला करते। क्षुधाका अनुभव होनेपर "आणदा बावा"

के चौकमें लगी फलोंकी दूकानपर चले जाते और फल चुराकर क्षुधा शान्त करते। जलाशयमें तृषा बुझाकर खण्डहरोंकी राह चल देते। पाँच बजते ही घरकी ओर चल पड़ते। बस यही प्रायः नित्यका क्रम था। शिक्षक या परिचित द्वारा घर शिकायत पहुँचनेपर कभी-कभी पिटाई भी खूब होती पर क्रम अपरिवर्तनीय ही रहता।

खण्डहर बनानेवालोंके प्रति उन दिनों भी हमारे बाल हृदयमें अपार श्रद्धा थी। इसलिए कि छिपकर खेलनेका वहाँ बड़ा ही अच्छा प्रबन्ध था। खण्डहरके खम्भोंपर खींची हुई आड़ी-टेढ़ी विलक्षण रेखाएँ कभी-कभी अवश्य ही चिन्ताका कारण बन जातीं कि हमारी शालाके ब्लेक बोर्डका ड्राइंग आखिर इन निर्जन पत्थरोंमें किसके लिए उत्कीर्णित कर रक्खा है और घण्टानादके साथ पूजे जानेवाले भगवान्‌की अबटूटी ये मूर्तियाँ, बिना पानी चढ़ाये यहाँ क्यों निखरी पड़ी हैं? निकट ही मन्दिरोंके जन-कोलाहलसे हमें आश्चर्य होता कि वहाँ भी भगवान् हैं और यहाँ भी। वहाँ जानेवालोंकी संख्या बहुत बड़ी थी और यहाँ केवल हम दो ही थे। इतना अन्तर क्यों? कभी-कभी बाल-मानस यह सोचनेको विवश करता कि शायद इस जेलमें भगवान् सजा तो नहीं काट रहे हैं? अपरिपक्व व भावुक मानस वस्तुविशेषके प्रति जो भी राय बनावें, ठीक है। भला तब हमें क्या पता था कि ये खण्डहर तो मानवताकी अखण्ड ज्योति और राष्ट्रिय पुरुषार्थ और लोकजीवनके प्रेरणात्मक भव्य प्रतीक हैं। जैन कुलमें उत्पन्न न होते हुए भी अल्प वयमें मैंने जैन-मुनि दीक्षा अंगीकार की। जैन-मुनियोंके लिए किसी भी प्रकारका वाहन-व्यवहार सर्वथा वर्जित है। अतः पाद-विहार अनिवार्य है। यातायातके साधनों द्वारा विश्वनैकट्य स्थापनके युगमें भी आज श्रमण-परम्परा उन्नत है। भारतकी एकमात्र यही ऐसी सांस्कृतिक संस्था है जो वैयक्तिक, नैतिक व आध्यात्मिक साधनाके साथ शोध-खोजमें भी गहरी अभिरुचि रखती आई है और रखती है। सौभाग्यसे जिस सम्प्रदायमें (खरतरगच्छमें) मैं दीक्षित हुआ उसका

सांस्कृतिक इतिहास सापेक्षतः अत्यन्त उज्ज्वल रहा है। जैन-साहित्य-सृजन और ललितकलाके परिपोषणमें इस सम्प्रदायका अपना विशिष्ट स्थान है। मेरे अभिभावक मुनिराज श्री मंगलसागरजी महाराज भी पुरातत्त्वान्वेषण व प्राचीन साहित्यमें पर्याप्त रुचि रखते हैं। उनकी एतद्विषयक अनुभूतिने मेरा मार्ग अधिक स्पष्ट किया। विहार प्रदेशमें आनेवाले प्राचीन स्थान और त्रुटित खण्डहरोंके प्रति वे मेरा ध्यान आकृष्ट करते और उनके महत्त्वपर मार्मिक प्रकाश डालकर मनोरंजन करते। मेरा निश्चित विश्वास रहा है कि इतिहास, पुरातत्त्व और कलाका सक्रिय ज्ञान ही आन्तरिक चेतनाको जगा सकता है। लेखनी थामनेके पूर्व ४ दर्जनसे अधिक खण्डहर देख चुका था। शिवाजी द्वारा विनिर्मित सोनगढ़के दुर्गने मुझे बहुत प्रभावित किया था। खण्डहरोंकी समस्त वस्तुओंका व्यवस्थित अध्ययन करनेके लिए, मैंने अपनी दैनिक क्रियाओंके बादका समय स्थिर किया। पुरातन शिल्पकृतियाँ, भास्कर्य, दुर्ग और भवनके विविधतम मनोहर भावोंको आत्मसात् करनेके लिए शिल्पशास्त्र, मूर्तिविधानशास्त्र-सूचित विषयपर वर्तमान प्राच्य व पाश्चात्य विद्वत्समाज द्वारा लिखित ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूर्व गवेषित खण्डहर-विवरणोंको सूक्ष्मतया देखना पड़ा। बाल्यकालीन संस्कार अनुकूल परिस्थिति पाकर पल्लवित-पुष्पित होने लगे और प्रत्येक वस्तुको गम्भीरताके साथ देखनेकी दृष्टि बनने लगी।

रसमय अनुभूतिको समुचित रूपेण व्यक्त करना उन दिनों मेरे लिए कठिन था। सौभाग्यवश चातुर्मासके लिए बम्बई जाना पड़ा। वहाँ प्राचीन गुजराती भाषा और साहित्यके गम्भीर गवेषक श्रीयुत मोहनलाल भाई दलीचन्द देसाई एडवोकेट (अब स्वर्गीय), भारतीय विद्याभवनके प्रधान संचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी और प्रख्यात पुरातत्त्वज्ञ डॉ० हंसमुखलाल धीरजलाल सांकलिया आदि अध्यवसायी अन्वेषकोंका सत्संग मिला। उनके दीर्घ अनुभव द्वारा शोधविषयक जो मार्ग-दर्शन मिला, उससे मेरी अभिरुचि और भी गहरी होती गई। मेरे

मानसिक विकासपर और कलापरक दृष्टि-दानमें उपर्युक्त विद्वत्त्रिपुटिने जो श्रम किया है, फलस्वरूप 'खण्डहरोंका वैभव' एवं प्रस्तुत पुस्तक है।

'खोजकी पगडण्डियाँ' तीन भागोंमें विभक्त हैं—ललितकला, लिपि और भौगोलिक यात्रा। तीनों विभाग एक ही विषयपर केन्द्रित हैं। जितना बौद्धचित्रकलापर अद्यावधि प्रकाश डाला गया है, उतना जैन चित्रकलापर नहीं। हिन्दीमें जैन-चित्रकलापर प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यन्त सीमित है। ललितकलाके समस्त निबन्धोंपर मुझे कुछ नहीं कहना, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो सका और उपलब्ध साधन मुझे प्राप्त हो सके, उनका उपयोग करनेका प्रयास किया गया है। भारतीय भित्ति-चित्र और मुग़ल राजपूत पूर्व विकसित चित्रकलाकी मूल्यवान सामग्री जैनाश्रित ग्रंथस्थ वाङ्मयमें ही सुरक्षित रह सकी हैं। हिन्दू धर्माश्रित चित्रकला-पर एक निबन्ध इसमें जाना आवश्यक था, किन्तु ठीक समयपर तैयार न हो सकनेके कारण न जा सका, इसका खेद है। इस विभागकी दूसरी मुख्य अपूर्णता चित्रोंका न होना है। मेरे जैसा भिक्षु उनको कहाँ जुटाता फिरता?

जीवन सतत पर्यटनशील रहनेके कारण कलाविषयक नवीन सामग्री उप-लब्ध होती ही रहती है। इन पंक्तियोंके लिखते समय अनायास मुझे एक ऐसी जैनाश्रित चित्रकलाकृति श्रीयुत चाँदमलजी सोगानी द्वारा प्राप्त हुई जिसके उल्लेखका लोभ संवरण नहीं कर सकता। मेरा तात्पर्य सचित्र भक्तामरस्तोत्रसे है। यों तो इसकी दर्जनों सचित्र प्रतियाँ मेरे अवलोकन-में आई हैं पर इस प्रतिका महत्त्व जितना धार्मिक दृष्टिसे है, उससे कहीं अधिक हिन्दी भाषाविज्ञान और चित्रकलाकी दृष्टिसे है। विशिष्ट प्रकारके भावोंका चित्र द्वारा प्रकाशन आजके मनोवैज्ञानिकोंकी देन मानी जाती है। यह कृति उसका अपवाद है। प्रत्येक काव्यके प्रत्येक वाक्यका इतना सुन्दर और सफल अंकन अन्यत्र शायद न मिले। कलाकारने एक एक भावमूलक वाक्यका स्वतंत्र चित्र खींचकर तात्कालिक मनोविज्ञानका सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है। मुग़ल चित्रकलाकी यह उत्कृष्टतम कलाकृति असावधानीका ऐसा शिकार बनी है कि लेखन-प्रशस्ति व बहु-

मूल्य चित्रका कुछ भाग नष्ट हो गया। सौभाग्यसे प्रशस्तिका जो आंशिक रूप बच सका, वह इस प्रकार है—

"संवत् १६९४ व्रपे (वर्षे) वैशाष सुदी ७ को मनोहरदास कास्थ (कायस्थ)। चियामुकीनै। संवतु १६९५ व्रपे चैत्र सुदी १ भौम वासरे लीपतं (लिखितम्) पं। सिरोमनि भक्तां-मर स्तवन। भावार्थ काव्यार्थ पंचासिका पुनं शुभमस्तु॥ पोथी लिपाई साहूवनराज गोलापूरव कर्म्म क्षयनिमित्ते।

पुस्तकके आदिमें 'भट्टारक श्री महिचन्द्र गुरुभ्यो नमः' अर्वाचीन लिपिमें लिखा है जो चित्रित व लिखित भक्तामरके बादकी है।

यात्राओंके विषयमें मेरा अनुभव रहा है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके मूलरूपको जितना पादविहारी भोलीभाली जनतामें बैठकर आत्मसात् कर अनेक विलुप्तप्राय सामग्रीको प्रकाशमें ला सकता है, दूसरे वाहन-विहारीके लिए सम्भव नहीं। जनजीवनमें मूल्यवान सांस्कृतिक तत्त्व आज भी किस प्रकार विद्यमान हैं और पाश्चात्य शिक्षासे प्रभावित मानस उसे किस तरह विस्मृत कर चुका है बल्कि कभी-कभी उपहास तक कर बैठता है आदि बातोंका प्रत्यक्ष परिचय बिना ग्रामीण मनोवृत्ति अपनाये नहीं पाया जा सकता।

दृष्टिसम्पन्न मानव जहाँ जायगा उसे अपने विषयकी ठोस सामग्री उपलब्ध हो ही जायगी। कला और शोध-परक अभिरुचिके कारण मैंने अपने विहारमें आनेवाले खण्डहर व पुरातन स्थानोंको देखना अनिवार्य समझा है। मेरे मार्गसे १०-५ मील भीतर भी कोई क्षेत्र पड़ता तो मैं उसे बिना देखे आगे नहीं बढ़ता हूँ—चाहे मुझे वहाँ जानेपर भले ही निराश ही क्यों न होना पड़ा हो। यद्यपि शोधकके जीवनमें निराशा-जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है एक ही स्थानकी यात्रा मुझे कई बार करनी पड़ी है। जब-जब मैं खण्डहरोंमें गया नवीन विचारोंसे प्रेरित हुआ हूं। कभी-कभी तो ऐसे स्थान भी अवलोकनमें आये जहाँ शोध-सामग्रीकी प्राप्तिकी आशा न थी, पर आकस्मिक उपलब्ध हो जाती।

बीहड़ वनोंमें आज भी भारतीय गौरव बिखर पड़ा है जहाँ पुरातत्त्व-विभागके कर्मचारी नहीं पहुँच पाते।

प्रस्तुत पुस्तकमें नालंदा, विन्ध्याचल, मैहर और पटनाकी यात्रा ही दे सका हूँ। ये यात्राएँ केवल भौगोलिक मात्र न होकर ऐतिहासिक हो गई हैं। इस बातका यथाशक्य ध्यान रखा गया है कि पुरातत्त्व-विषयक पारिभाषिक शब्दावलीके कारण अधिक दुरूह न हो जाय, और भाषाके आवरणमें कहीं मूलरूप ही ढक न जाय। मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि पत्थर और रेखाओंकी कविता भाव-विहारी कोमल हृदय ही पढ़ सकता है। ब्रह्माण्ड-व्यापी इसकी वास्तविक पहचान विशिष्ट चित्तवृत्ति द्वारा ही संभव है। तात्पर्य कलाकारके दानका सच्चा अधिकारी कलाकार ही हो सकता है। वहाँ बुद्धि काल-परक मर्यादाका परीक्षण करती है तो हृदय अन्तरात्माका।

इन पंक्तियोंके लिखे जाने तक डोंगरगढ़, बरहटा, धनसौर, पनागर और भोपालके खण्डहरोंकी यात्राएँ तैयार हो चुकी हैं; यदि संयोग अनुकूल रहे तो ये भी रुचि-शील पाठकोंके सम्मुख आ ही जायँगी।

खोजकी बिखरी हुई पगडण्डियोंको सामूहिक रूपसे उपस्थित करनेमें भारतीय ज्ञानपीठके उत्साही मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय और बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० ने जो प्रयास किया है तदर्थ मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ।

हमारा समाज शोधविषयक प्रवृत्तिमें कितनी रुचि रखता है, इसका एक उदाहरण देना आवश्यक समझता हूँ। मैं फ़रवरीमें नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) था। १३ फ़रवरीको एक सज्जनके यहाँ पगडण्डियोंके प्रूफ़्स और मूल पाण्डुलिपि पहुँची। इधर प्रेस व मंत्रीजीका तक़ाज़ा था कि मैं प्रूफ़्स शीघ्र भेज दूँ। मैं क्रमशः भोपाल आया। मैंने प्रेससे शिकायत की कि मुझे प्रेसकापी व प्रूफ़्स तो नहीं मिले हैं। यह बात जूनकी है। पोस्ट आफ़िस विभागीय जाँच करनेपर ज्ञात हुआ कि १३ फ़रवरीको डिलीवरी नरसिंहपुर दी जा चुकी है। जब मैंने उस सेठको और मेरे परिचित बाबू गोकुलचन्दजी कोचरको वेदना भरा पत्र लिखा कि आप वहाँ जाकर पता

तो लगाइए कि उस डिलीवरीका क्या हुआ ? जब श्री कोचरजी उनके वहाँ पहुँचे तो विदित हुआ कि एक रजिस्ट्री आई तो थी पर बेकार समझकर रद्दीके कमरेमें डाल दी गई है। श्रीमंत साहित्यकी कितनी सीमा तक उपेक्षा कर सकते हैं मुझे आज ज्ञात हुआ। श्रीगोकुलचन्दजी कोचरने बड़े परिश्रमपूर्वक खोजकर मुझे भिजवाया, तदर्थ मैं उनका भी आभार मानना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ।

परमपूज्य गुरुवर्य्य उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराज व मुनि श्री मंगलसागरजी महाराजने समय-समयपर मुझे सत्परामर्श देकर जो पथ प्रदर्शन किया है तदर्थ उनके चरणोंमें वंदनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जैनाश्रित चित्रकला पुरातन चित्र जो प्रकट किया जा रहा है वह मुझे मध्यप्रदेशके पुरातत्त्व-साधक श्री लोचनप्रसादजी पाण्डेय द्वारा प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत-पुस्तककी प्रस्तावना काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागके प्रधान और हिन्दी साहित्य और भाषाके गंभीर आलोचक श्री डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदीने लिखकर इसकी शोभा द्विगुणित कर दी है। श्री पांडेय तथा आचार्य श्री द्विवेदीका मैं चिरऋणी हूँ। पं० रामेश्वरजी गुरु M. S. C. (जबलपुर), प्रो० जगदीश व्यास M. A. (जबलपुर) व सुषमा साहित्य-मन्दिरके संचालक श्री सौभाग्यमलजी जैनको विस्मरण नहीं कर सकता जिन्होंने समय-समयपर अपनी सम्मतियोंसे और मेरे लेखन-कार्यमें हर तरहसे मदद देकर मेरी बड़ी सहायता की है।

अन्तमें मैं आशा करता हूँ कि इन पगडण्डियोंको, राजमार्गके रूपमें, कलाकार बदलकर शोधका भावी मार्ग प्रशस्त करेंगे। मेरी मातृभाषा गुजराती होनेके कारण यदि हिन्दी भाषा-विषयक दोष दिखें तो पाठक उदार चित्तसे क्षमा करें।

मोढ़-स्थानक
मारवाड़ी रोड, भोपाल
२१-९-१९५३

—मुनि कान्तिसागर

ललित-कला
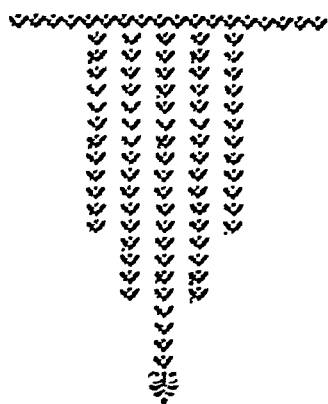
जैनाश्रित चित्रकला

चित्रकला

संसारकी ललित-कलाओंमें चित्रकला एक ऐसी कला है, जिसमें महान् तत्त्वोंका समीकरण हुआ है। न जाने कितने अतीत कालके मानवीय भावोंके आकर्षक और विचारोत्तेजक तत्त्वोंका समुचित अंकन सहज स्वभावसे इसमें स्फुरित हुआ है। इस कला द्वारा गम्भीर और व्यापक मनोभावोंको बड़ी आसानीसे जनताके सम्मुख रखा जा सकता है। पूर्वकालीन जानतिक उन्नतिके अस्तित्वके रहस्य और स्वर्णिम स्मृतियोंको चिरस्थायी बनाने और उनका प्रतिनिधित्व करनेकी अपूर्व क्षमता तत्कालीन चित्रकलामें है। विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्योंकी उच्चातिउच्च नैतिक विचारधारा, उनके रहन-सहन एवं तदंगीभूत जीवनगत घटनाओंकी वास्तविकता बहुत-कुछ अंशोंमें उस समयकी चित्रकलामें अन्तर्निहित है। कभी-कभी हृदयगत मूल्यवान् भावोंके प्रवाहका यथावत् व्यक्तीकरण शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पर रंग और रेखाओंके माध्यमसे विशिष्ट कोटिके अकथनीय विचारोंका उद्घाटन बड़ी सहूलियतसे हो सकता है। रेखाएँ सुस्पष्ट होकर विशेष अर्थ और गम्भीरताका वास्तविक रहस्य उपस्थितकर मानव-हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वास्तविक चित्र एक उत्तम खण्ड-काव्यसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चित्रकर्त्ताको भी एक आदर्श कविसे कम प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सफल चित्रकारकी कल्पनाशक्ति, विचार-स्वच्छता एवं वास्तविकताका यथावत् अंकन करनेकी शक्ति कविकी मानसिक पृष्ठभूमिसे भी बढ़कर होती है। मुझे स्पष्ट शब्दोंमें कहना चाहिए कि सच्चे अर्थमें वही कलाकार

है, जो मूक भाषामें, अपने मस्तिष्क एवं हृदयके गूढ़तम भावोंके प्रवाहकी धाराएँ अस्खलित रूपसे साधारण उपकरणों द्वारा प्रवाहित करनेकी अपूर्व क्षमता रखता है। अतः यदि व्यापक रूपमें उसे उच्च कोटिका दार्शनिक कहें, तो क्या अनुचित है। वह विश्व-भाषा—तेजोमयी पर शब्दशून्यवाणी—में केवल रेखाओंके अतुलित बलपर अपना परिष्कृत हृदय बहा देता है। कलाकारकी चिन्तनसीमा विस्तृत एवं उसकी विचार-धारा भी अन्तर्मुखी होती है। कलाकारके संसारमें विचरण करनेके लिए उसके मूलभूत तत्त्वोंको आत्मसात् करना पड़ता है। जिन्होंने प्राचीन चित्रोंके आभ्यन्तरिक रहस्यको समझनेका थोड़ा-बहुत यत्न किया है, वे जानते हैं कि भावपूर्ण रेखांकनके देखते ही चित्रान्तर्गत ऊर्मियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। द्रष्टाके हृदय-कमलपर उनका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः मानवकी चित्तवृत्तियोंके अनुभव एवं हृदयगत ऊर्मियोंको उपस्थित करनेमें चित्रकला ही सर्वोच्च जीवित कला है। चित्रकला विश्व-लिपि है, विश्व भाषा है।

व्यापकता

प्राचीन भारतमें चित्रकला उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ थी। गार्हस्थ्य-जीवनके प्रधान उपकरणसे लगाकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन इससे ओतप्रोत था। पुरातन साहित्यपर यदि हम दृष्टि केन्द्रित करें, तो विदित होगा कि चित्रकलाके महत्त्व, चित्रोंकी आवश्यकता और उनके उपकरण, मानव-जीवनमें उनका स्थान, शरीरके भिन्न-भिन्न अंग-उपाङ्गोंसे सम्बन्धित रंग, विषयोंका विशद विश्लेषण आदि उसमें भरा पड़ा है। प्राचीन कला कृतियाँ भी उसमें वर्त्तमान हैं। यदि विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखें, तो चित्रकलामें चित्रित भाव-भंगिमा, शारीरिक गठन एवं सर्वाङ्गपूर्णताका अच्छा आभास मिले विना न रहेगा। चित्रकलाके छोटे-छोटे सिद्धान्तका भी जो विशद् विश्लेषण हमारे पूर्वजोंने किया था, वैसा विचार अन्य

राष्ट्रोंमें सम्भवतः न मिले। कालचक्रका प्रभाव अबाध गतिसे चलता ही रहता है। चित्रकला भी कालकी गति और बलको देखकर अवश्य प्रभावित हुई है, जैसा कि विभिन्न कालीन साहित्यिक संकेतोंसे स्पष्ट है। प्रसंगवशात् यह लिखना भी आवश्यक है कि जिन प्राचीन चित्रोंकी रेखाओं और रंगोंमें सजीवता थी, वह भित्ति-चित्र-कलाके बाद विलुप्त-सी हो गई। अजन्ताका कलाकार अपनी सामान्य रेखाओंके बलपर एक सम्पूर्ण विषयको आसानीसे अपनेमें मिला लेता है। परन्तु एलोरामें यह बात नहीं पाई जाती। अर्थात् शैलीकी विभिन्नता स्पष्ट है। नहीं कहा जा सकता कि भित्ति-चित्रोंके निर्माणकर्त्ताओंने किस आनन्दमें विभोर होकर हृदय और मस्तिष्कके चंचल भावोंका परित्याग कर तूलिकाओंके जरिये उपर्युक्त चित्र विश्वको इसीलिए भेंट किये कि वे भी अपनी मस्तीके भावोंसे आविर्भूत कलात्मक कृतियोंसे लाभ उठा सकें। उन कलाकारोंका परम आदर्श स्वान्तःसुखाय था। वे लक्ष्मीके दास नहीं कलादेवीके परम साधक—उपासक थे।

जैन-चित्रोंकी प्राचीनता

ईस्वी पूर्व छठवीं सदीमें चित्रकलाका इतना विकास हो चुका था कि बुद्धदेवको उसमें भाग न लेनेके लिए श्रमणोंको आदेश देना पड़ा। तात्कालिक मगधके इतिहास व वैशालीकी खुदाईमें प्राप्त भाजनों-पर की गई चित्रकारीसे स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों यह कला वर्ग विशेषकी रुचिपोषक न होकर जनतामें भी व्याप्त थी। मगध श्रमण-संस्कृतिका ईस्वी पूर्व छठवीं शतीमें प्रमुख केन्द्र था। यद्यपि उस समयकी चित्रकलापर प्रकाश डाल सकें, वैसी कृतियाँ, भाजन चित्रकारीको छोड़कर, उपलब्ध नहीं हैं, पर तत्कालीन टेराकोटा—मृण्मूर्तियाँ व अन्य चूना पलस्तरवाले कुछ-एक कलात्मक प्रतीकोंसे उस समयकी रेखाओंका परिचय पाया जा सकता है। मूर्ति और चित्रमें

रूपगत भेद भले ही हो, पर धर्मागत एकता रहती है। जैनोंके ग्यारह अंगोंका चतुर्थांग समवायांग सूत्र है। इसमें ७२ कलाओंका निर्देश करते हुए रूपनिर्माण कलाका उल्लेख किया है जो चित्रकलाका परिचायक है; क्योंकि रूपनिर्माणमें भाव-व्यक्त्यर्थ आधार अपेक्षित है, चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल। आधार जितना सूक्ष्म होगा उतनी ही कला श्रेष्ठ समझी जायगी। तात्पर्य मूर्तिकी अपेक्षा, कला-विवेचकोंने चित्रकलाको, इसलिए अधिक महत्त्व दिया है कि इसमें कलाकारको अत्यन्त सीमित स्थानमें आत्मस्थ सौन्दर्य व लोक-रुचिकी वृद्धि करनेवाले सूक्ष्मतम अंगोंको व्यक्त करना पड़ता है, जो गम्भीर चिन्तन, दीर्घकालीन साधना और मर्मभेदी निरीक्षणपर ही अवलम्बित है।

प्रसंगतः एक बातका उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, वह यह कि ईस्वी पूर्व रूपनिर्माण शब्द व्यापक अर्थका द्योतक रहा जान पड़ता है, कारण कि महामेघवाहन श्री खारवेलके शिलोत्कीर्ण लेखमें भी रूप शब्द आया है जो इस प्रकार है—"ततो लेखरूप ग्रणनाववहारविधिविसारदेन—अर्थात् बादमें लेख, रूपगणना, व्यवहारविधिमें उत्तम योग्यता प्राप्त करके। इस रूपशब्द पर बहुत कम लोगोंने ध्यान दिया है। डॉ० भगवान्‌लाल इन्द्रजीने रूपका अर्थ चित्रविद्या किया है और पभोसाके लेखमें—जिसे इस पंक्तिका लेखक स्वयं देख चुका है—"श्रीकृष्णगोपीरूपकर्ता" में डॉ० बूलरने रूपका अर्थ प्रतिमा किया है। निसग्गिय पाचित्तिय नामक बौद्ध-ग्रन्थकी टीका सामन्त पासादिकामें रूपं छिन्दित्वाकतो मासको, रूपं सामुट्ठापेत्वा कतमासकोमें 'रूप'का अर्थ "सिक्के परकी मूर्ति" है।[1]

प्राचीन जैन-साहित्यके तलस्पर्शी अध्ययनसे ज्ञात होता है कि उसमें भारतीय चित्रकलापर प्रकाश डालनेवाले, उनका महत्त्व बतानेवाले,

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृ० ५०६।

किस समय चित्रकलाकी व्यापकता, किन सामाजिक परिस्थितियोंके कारण अधिक बढ़ चली थी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यात्मक ज्ञातव्यों-का पता चलता है। ऐसे उल्लेखोंकी, भारतीय कला-समीक्षकोंने आज तक उपेक्षा की है। जब बौद्ध-संस्कृति व चित्रकलाके विषयोंको स्पष्ट करनेके लिए उनके द्वारा निर्मित साहित्यकी मदद ली जाती है, तो फिर जैनाश्रित चित्रकला व उसके गम्भीर अध्ययनमें जैन-साहित्यको उपेक्षित रखना, क्या उसके साथ अन्याय नहीं है।

जैन-साहित्यमें चित्रकला विषयक जो भी उल्लेख आये हैं वे केवल पौराणिक ही नहीं हैं, अपितु उनमेंसे कुछ-एकका ऐतिहासिक दृष्टिसे भी महत्त्व है। तात्कालिक समसामयिक अन्य ऐतिहासिक साधनों द्वारा, तथाकथित तथ्यपूर्ण उल्लेखोंका समर्थन भी होता है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि भारतीय रूप-निर्माण पद्धतिकी सभी धाराओंका अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा; जब तक वर्णित उल्लेखोंका उचित पर्यवेक्षण नहीं हो जाता।

षष्ठांग नायाधम्मकहा—ज्ञाताधर्मकथा में उक्खितणाय अध्ययनमें महाराजा श्रेणिकका जो प्रसंग वर्णित है, वह भारतीय गृह-निर्माणकला, तदंगीभूत उपकरण एवं चित्रकलापर प्रकाश डालता है। भवनका वर्णन करते हुए चित्रकलाका उल्लेख इन शब्दोंमें किया गया है:—

अब्भितरओ पत्त सुविलिहियचित्तकम्मे—जिसके भीतरी भागमें उत्तम और पवित्र चित्रकर्म किया गया है।[1]

आठवें मल्लि अध्ययनमें भी भित्तिचित्रोंका उल्लेख किया गया है[2]। यह प्रसंग एक चित्रकारसे सम्बन्ध रखता है। मिथिलाके राजा कुम्भराजके पुत्रने एक चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवारपर एक

---

१ ज्ञाताधर्मकथा—पृष्ठ १२।

२ ज्ञाताधर्मकथा—पृष्ठ १४२-४३।

शिल्पीने केवल अँगूठा देखकर राजकुमारी मल्लिकाका पूरा चित्र बना दिया। राजकुमारको यह देखकर सन्देह उत्पन्न हुआ कि राजकुमारीसे शिल्पीका अच्छा सम्बन्ध नहीं, और उसने शिल्पीको प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। परन्तु, बादमें, सच्ची बात सामने आई। राजकुमारका भ्रम दूर हुआ, और शिल्पीको प्राणदण्ड देनेके बजाय निर्वासित किया।

मूल उल्लेखमें तूलिका शब्द आया है, यही शब्द उपनिषदोंमें भी पाया जाता है। उपर्युक्त उल्लेखका आंशिक उद्धरण इसीलिए लिया है कि उन दिनों भी तादृश्य चित्रपद्धति कितनी विकसित थी।

उपर्युक्त ग्रंथके तेरहवें अध्ययनमें नन्दमणियारकी कथामें, जनताके आरामके लिए राजगृहसे बाहर, श्रेणिककी अनुमतिसे एक चित्र-सभा निर्माण करनेका उल्लेख इन शब्दोंमें दृष्टिगोचर होता है—

ततेणं से णंदे पुरच्छिमिल्ले वनसंडे एगं महं चित्तसभं करावेत्ति[1]।

उपरोक्त उल्लेख उस समयकी परिष्कृति लोकरुचिका परिचायक है।

उत्तराध्ययनसूत्रके ३५वें अध्ययनमें जैन-मुनियोंके लिए स्पष्ट उल्लेख है कि, 'चित्रवाले मकानमें निवास करनेकी इच्छा, भिक्षु (मुनि) मनसे भी न करे[2]। ठीक, इसी उल्लेखका समर्थन और न ठहरनेके उद्देश्यको स्पष्ट करनेवाला दूसरा उल्लेख दशवैकालिक सूत्रमें आया है। यह आर्य शय्यंभवसूरिकी मुनि-मार्ग निदर्शक कृति है, जिनका

---

१ वही पृष्ठ १७९।

२ मणोहरं चित्तहरं।
मल्लधूवेण वासिअं।
सकवाडं पंडुरुल्लोअं।
मनसावि न पच्छए।
उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३५, श्लो० ४

निर्वाण वीरनिर्वाणके ५८ वर्ष बाद हुआ। वर्णित उल्लेखमें सूचित किया गया है, "कि भित्तिचित्रको—चित्रांकित नारीको अथवा विविध अलंकारोंसे सुसज्जित जीवित स्त्रीको भी नहीं देखना। यदि दृष्टि पड़ भी जाय, तो सूर्यके सम्मुखसे जिसप्रकार दृष्टि खींच लेते हैं उसी प्रकार हटा लेना"[1]। आर्य भद्रबाहु[2] स्वामीने कल्पसूत्रमें सचित्र यवनिकाका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"अप्पणो अदूरसामंते नाणामणिरयणमंडियं
अहिअपिच्छणिज्जं महग्घवरपट्टणुग्गयं
सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणं इहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-
वालग-किन्नर-रुरुसरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलयभित्तिचित्तं
अब्भिं- तरिअं जवणियं अंछावेइ।"

पादलिप्तसूरि द्वारा रचित तरंगलीला (रचना-काल विक्रमकी तीसरी शती) परसे श्री नेमिचन्द्रसूरि द्वारा अवतारित 'तरंगवती' कथामें (रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी) चित्र-पटोंका विशद् उल्लेख है। जब अजण्टाकी कला विकसित हो रही होगी, उन दिनों वहाँ वाकाटकोंका राज्य था। पादलिप्तसूरिके समयमें वस्त्र-पटोंका अंकन भी स्वतंत्रता पूर्वक किया जाता था। वर्णित चित्र न केवल धर्ममूलक ही थे, अपितु प्रकृतिसे भी सम्बद्ध जान पड़ते हैं। 'वसुदेवहिन्दी'में चित्रित यक्ष-प्रतिमाका उल्लेख हुआ है[3]। यह ग्रन्थ विक्रमकी छठवीं शताब्दीमें निर्मित

---

१ चित्तभित्तिं न निज्झाए।
नारिं वा सुअलंकिअं।
भक्खरं पिव दट्ठुणं।
दिट्ठिं पडि समाहरे। अध्य० ८, गा० ४।

२ इनका स्वर्गवास ईस्वी पूर्व ३५७में हुआ।

३ चित्तकम्म लिहिया विव जक्खपडिमा एक्कचित्ता अच्छइ पृ० ७२।

हुआ। उस समय अजण्टाके महत्त्वपूर्ण भित्तिचित्रोंका अंकन हो चुका था। वहाँके चित्रोंमें समर्याद श्रृंगारसूचक यक्ष दम्पत्तिका भव्य चित्र है। इस कालके अन्य साहित्यिक ग्रंथों तथा चित्रोंमें यक्षोंका व्यापक उल्लेख मिलता हैं। सम्भव है ईस्वीपूर्व सातवीं शतीमें प्रचलित जिस यक्षपूजाका वर्णन जैनागमोंमें आया है, सम्भव है गुप्तकालमें भी यक्ष मान्यताके अवशेप रहे होंगे। यक्ष-चित्रकी सूचना अजण्टाके वर्णित चित्रकी ओर तो इंगित नहीं करती ?

अभी तक जिन उल्लेखोंकी चर्चा उपयुक्त पंक्तियोंमें हुई, वह कलाके अभ्यासियोंके लिए अच्छा मार्गदर्शन कराती हैं; पर अब यहाँ मुझे एक ऐसा उल्लेख उद्धृत करना है जो न केवल चित्रकारकी कुशलतापर ही प्रकाश डालता है, अपितु उसकी व्यावहारिक पद्धतिकी ओर भी संकेत करता है। यह उल्लेख प्रासंगिक होते हुए भी तात्कालिक कलात्मक वातावरणका संकेतात्मक परिचय देता है। उल्लेख इस प्रकार है—

चित्ताकारो पच्छा अमवेतूणं पमणजूतं करेति तत्तियं वा वण्णयं करेति जत्तिएणं सम्पति

आवश्यक चूर्णि, पृ० ५५७।

"चित्रकार, विना नापे ही पीछेसे प्रमाणयुक्त चित्र तैयार करता है ? या उतना ही रंग तैयार करता है, जितनेसे चित्र पूर्णतः अंकित हो जाय।"

विक्रम संवत् ९२५ में **श्रीशीलांकाचार्य** रचित **चउपणमहापुरुष चरियम्**में उल्लेख आया है कि भगवान् पार्श्वनाथने दीक्षाके पूर्व, राजीमती व नेमिजिनके भित्तिचित्र, एक प्रासादमें देखे थे।

महामुनि स्थूलभद्रकी एक महत्त्वपूर्ण जीवन घटनासे जैन-समाजका, एक भी व्यक्ति शायद ही अपरिचित होगा, वह यह कि उन्होंने, पाटलीपुत्रकी शोभारूप गणिका कोसाकी चित्रशालामें चातुर्मास यापन किया था। पूर्व परिचित गणिकाका गृह, षटरस भोजन, श्रृंगारिक हाव-

भावयुक्त कोशाकी चेष्टा, वर्षा ऋतु और वेश्याकी चित्रशालामें चातुर्मास ये सब घटनाएँ, साधकके जीवनमें बाधक हो सकती हैं, यह अनुभवका विषय है। पर अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति सम्पन्न व समभावी महामुनि स्थूलभद्रके ऊपर उपर्युक्त घटनाओंका लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ा। तात्पर्य कि उस समय प्रत्येक श्रीमन्तके घरोंमें, राज-सभाओंमें और राज-भवनोंमें स्वतन्त्र चित्र-शालाएँ निर्माण करानेकी प्रथा थी। वात्स्यायनसूत्रसे व चित्रकला विषयक अन्य उल्लेखोंसे उपर्युक्त पंक्तियोंका समर्थन होता है।

उपर्युक्त सूचनात्मक संकेतोंके अतिरिक्त अनुयोगद्वार सूत्र, परिशिष्ट पर्व आदि अनेक जैनसाहित्यिक ग्रन्थोंमें सैकड़ों, चित्रकला विषयक विस्तृत, विवेचनात्मक व व्यावहारिक उल्लेख संगृहीत हैं। स्थानवृद्धिके कारण उन सभीका उल्लेख या संकेतमूलक परिचय नहीं दिया जा सका।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त उल्लेखोंमें ऐतिहासिक तत्त्व कितना है? यद्यपि यह प्रश्न सरल नहीं कि शीघ्रतासे हल कर लिया जाय। इसपर मैं अभी तो अधिक विवेचनमें न जाकर इतना ही कहना उचित समझता हूँ कि इन उल्लेखोंकी सत्यता समझनेके लिए हमारे पास एक दृष्टि चाहिए। बुद्धिजीवी इस बातसे इन्कार नहीं कर सकता कि साहित्य तात्कालिक समाजका प्रतिबिम्ब ही नहीं है। कलाकार सामयिक तथ्योंको व्यक्त करते समय प्राचीन परम्पराका अनुसरण करता हुआ भी, तत्सम सामयिक कलात्मक व रूढ़िगत, सामाजिक तत्त्वोंकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता। जिस समय उपर्युक्त ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ, उस समयकी चित्र कलात्मक-पद्धतिका अंकन इन ग्रन्थोंमें हुआ ऐसा समझना चाहिए। इन पंक्तियोंके पीछे कोरी भावुकता नहीं, तथ्य भी है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैं सूचित कर चुका हूँ कि उल्लिखित कतिपय उल्लेख ऐसे हैं, जिन्हें सम-सामयिक चित्रोंसे या ऐतिहासिक उल्लेखोंसे परखा जा सकता है। चित्र-कलाको परखनेका माध्यम है, उसकी रेखाएँ व रंग, यही चित्रकी आत्मा है। इन्हींके माध्यमसे कलाकार असीमित भावोंको सीमितकर आनन्दकी

सृष्टि करता है, रसका संचार करता है, एवं उत्प्रेरक भावनाओंका सूत्रपात करता है। तात्पर्य कि मूक चित्रोंके, रंग व रेखाएँ, स्वर है। तज्जनित शब्द अपरिवर्तनशील रहता है। यह सादृश्य चित्रोंको छोड़कर, विश्वमें कहीं न मिलेगा। विष्णुधर्मोत्तरपुराणके चित्रसूत्रको हृदयंगम किये विना चित्रोंके भाव, उनकी भाषा, अनेक भावोंको व्यक्त करनेवाली उनकी रेखाएँ और रस सूचक रंग एवं शैलीका समुचित ज्ञान नहीं हो सकता। विलकुल इसी दृष्टिकोणको ध्यानमें रखकर, जैनसाहित्य-वर्णित चित्र कलात्मक उल्लेखोंका, व समसामयिक क्रमिक विकसित प्राप्त भारतीय भित्तिचित्रोंकी परम्पराका निष्पक्ष व तलस्पर्शी अन्तः परीक्षण हुए विना, कथित परम्पराका हार्द नहीं समझा जा सकता। तात्पर्य कि उपलब्ध चित्रोंके प्रकाशमें इन और अप्रकाशित अन्य उल्लेखोंका सिंहावलोकन किया जाय वा उपलब्ध उल्लेखों द्वारा प्रदर्शित किंचित् स्पष्ट मार्गकी रेखाओंको ठीकसे समझकर इन उपलब्ध चित्रोंको समझा जाय और समसामयिक शिल्पावशेषोंकी रेखाओंका भी निरीक्षण किया जाय। इस प्रकार तुलनामूलक अध्ययन ही उपर्युक्त प्रश्नका उचित उत्तर दे सकता है।

समस्त संसारमें जितने भी प्राचीन कलाके उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, वे प्रायः भित्तिचित्रके हैं। पुरातन गुफ़ा, धर्मस्थान, राजप्रासाद या श्रीमन्तोंके निवास-स्थानोंपर विविध प्रकारके चित्रांकनोंका समर्थन कलात्मक ग्रन्थोंसे होता है। मैं यहाँपर चौदहवीं शताब्दीके एक ग्रन्थका उद्धरण देनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता। 'ठक्कुर फेरु'ने स्वरचित 'वास्तुसार'के गृह प्रकरणमें उल्लेख किया है कि गृहके मुख्य द्वारपर कलश आदि चित्रित हों तो बहुत शुभकारक समझना[1]। गृहमें

---

१. सहमेव जे किवाड़ा पिहियेती य उग्घडंति ते असुहा।
चित्ताकलसाइसोहा सविसेसा मूलदारि सुहा ॥१३६॥

किनके चित्र होने चाहिए और किनके नहीं ? इन पर भी ग्रन्थकारने विचार किया है, जैसा कि योगिनियोंके नाटक, महाभारत, रामायण और राजाओंके युद्ध, ऋषियोंके व देवोंके चरित्र आदि विषयक चित्रोंका अंकन गृहस्थोंके घरमें न होना चाहिए[1]।

इस प्रकारके अंकन शुभ माने गये हैं—

फलवाले वृक्ष, पुष्प लताएँ, सरस्वती व नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, वर्धापनादि मांगलिक चिह्न और सुन्दर स्वप्नोंकी माला, ऐसे चित्रोंके अंकन गृहमें शुभ माने गये हैं।"[2]

फेरुके उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिक हैं, उस समयकी परम्पराका भास होता है। अट्ठारहवीं शतीतक तो उपरिलिखित विचारोंका पालन किया जाता था, जिसका पता १७ और १८ शतीके नगर वर्णनात्मक साहित्य-गजलोंसे अवगत होता है, पर बादमें इस प्रथाका सार्वत्रिक परिपालन कम हुआ है। मैंने स्वयं (नासिक जिलेके) चाँदवड़में अहल्याबाई होलकरके निजी राजप्रासादकी भित्तिपर रामायण और महाभारतके चित्र देखे हैं, जो महाराष्ट्र-तूलिकाके श्रेष्ठतम निदर्शन हैं।

प्राचीन जैन-भित्तिचित्र

जिस प्रकार राजभवन और सार्वजनिक स्थानोंपर लोक-रुचिके पोषक चित्र अंकित करवाये जाते थे, ठीक उसी प्रकार धार्मिक स्थान जैसे गुफा या देव मन्दिरोंकी दीवालोंपर भी अपने-अपने सम्प्रदायोंके महापुरुषोंकी विशिष्टतम और उत्प्रेरक घटनाएँ व अन्य सांस्कृतिक

---

१ जोइणिनट्टारम्भं अरहरासयणं च नियाजुद्धं।
रिसिचरिअ देवचरिअं इअचित्तं गेहि नहु जुत्तं॥

२ फलियतरु कुसुमवल्ली नवनिहाणजुअलच्छी किलसं वद्धावणयं सुमिणावालयाइ सुहचित्तं,

वास्तुसार, गु० संस्करण, पृ० ६७-६।

चित्र अंकित करवाये जाते थे। यह प्रथा प्राचीन थी। मूर्ति-चित्र व्यक्तिगत वस्तु थी, जो हरेक व्यक्ति, इच्छा रहते हुए भी, नहीं बनवा सकता था, भित्तिचित्रोंसे सभी लाभान्वित हो सकते थे, अशिक्षित भी भावोंसे प्रेरणा पाकर धर्मगत रहस्यको आत्मसात् कर सकते थे।

भित्तिचित्रोंकी आलेखन-पद्धतिपर मैं अन्यत्र विचार व्यक्त कर चुका हूँ। प्राचीन जैन-भित्तिचित्र मध्यप्रदेशकी पहाड़ीमें प्राप्त हुए हैं। इनका उल्लेख स्वतन्त्र निबन्धमें किया जा चुका है।

यद्यपि जैनाश्रित भित्तिचित्रोंकी संख्या सापेक्षतः अल्प है, पर जो भी हैं, वे जैनत्वका सफल प्रतिनिधित्व करते हुए, तात्कालिक लोक-रुचिका प्रदर्शन भली भाँति कर लेते हैं। मुझे लिखते प्रसन्नता हो रही है कि प्राचीन कालकी इस प्रथाका विकास मध्यकालीन जैनोंने खूब किया, और आज तक जैन-समाजने, आंशिक रूपसे इस पद्धतिको सुरक्षित रखा है।

पल्लव कला

पल्लव कला भी भारतीय चित्रकलामें श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

जोगीमाराके जैनाश्रित भित्तिचित्रोंके बाद पल्लव भित्तिचित्रोंका स्थान आता है। यह स्थान तंजोरके समीप पदुदुकोटा राज्य स्थित पहाड़ियोंमें अवस्थित है। इसे सिद्धण्णावास·सित्तन्नवासल भी कहते हैं। यहाँ मुनियोंकी समाधियाँ काफी हैं। ये गुफाएँ किसी समय जैन-मुनियोंका आश्रम स्थानके रूपसे प्रसिद्ध रही होंगी। नामसे तो यही ध्वनित होता है कि वीतरागके प्रशस्त पथका अनुसरण करनेवाले स्वपर-कल्याणरत, मोक्षकामी मुनियोंने अपने जीवनकी बहुमूल्य अन्तिम घड़ियाँ वहाँ व्यतीत की होंगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सत्य है कि यह आत्मशोधनका पुनीत स्थान अवश्य रहा है, जहाँ आत्मलक्षी संस्कृतिके साधक विश्रान्ति

लेते थे। प्रकृति अपना स्वाभाविक सौन्दर्य यहाँ फैलाये रहती थी। गुफाओं-का निर्माण भी ऐसे दुर्गम स्थानपर हुआ है, जहाँपर प्रमादपूर्वक गमन असम्भव है। थोड़ी भी असावधानी जीवनको खतरेमें डाल सकती है। गुफाके स्थानपर ई० सु० पूर्व तृतीय शताब्दीका एक लेख पाया गया है, जो इस बातका द्योतक है कि उन दिनों भी यहाँ जैनविहार था, तब बादमें इसे बढ़ाकर, अलंकरणों द्वारा सजाकर, पूर्व सम्बन्ध जागृत किया।

इन गुफाओंका आध्यात्मिक महत्त्व तो है ही, पर भारतीय चित्र-कलाकी दृष्टिसे भी अनुपेक्षणीय है। यहाँ पर जो मंडोदक चित्र पाये गये हैं उनका अपना सांस्कृतिक व कलात्मक महत्त्व है। सर्वोत्कृष्ट और बृहत्तर चित्र गुफाकी छतपर हैं, अतिरिक्त स्तम्भोंपर भी चित्रित हैं। अद्यावधि सुरक्षित चित्रोंमें दालानकी छतका भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण और वैविध्यका प्रतीक है। समस्त भाग कमलपुष्पोंसे छाया हुआ है। तालाबका दृश्य तो अत्यन्त चित्ताकर्षक है।

कमलके मध्यमें मत्स्य, हंस, महिषी, हाथी और हाथोंमें धारण किये हुए तीन श्रावक हैं। कमलदण्डोंकी आड़ी-टेढ़ी रचना इतनी सुन्दर और सजीव प्रतीत होती है कि कुछ क्षणोंके लिए अजन्ताके कमलांकन भी विस्मृत हो जाते हैं। सामनेके स्तम्भपर खिलते हुए कमल, कलाकारकी दीर्घकालीन भावनाके परिचायक हैं। स्तम्भोंपर नायिकाओंकी आकृतियाँ हैं। पर एक आकृति इतनी सुन्दर और सम्पूर्ण है कि हृदय नहीं चाहता इससे दूर हटा जाय। सौन्दर्यपुंजका एकीकरण सचमुच अनुपम है। उनकी भावभंगिमा, अंगविन्यास, वस्त्र-पहनाव विस्मयजनक है। प्रो० दूब्रीलने इसे देवदासी माना है, जैसा कि दक्षिण भारतकी प्रथा रही है। पर जैन-संस्कृति तो सदासे त्याग प्रधान रही है और देवदासी-जैसी प्रथा जैन-धर्ममें कभी नहीं रही। इस प्रकारकी आकृतियाँ अप्सराओंका प्रतिनिधित्व करती हैं।

यहीं एक स्तम्भपर राजाका चित्र अंकित है, जो बड़ा ही मार्मिक

है। सित्तन्नवासलके चित्र व मूर्तियाँ भारतीय स्थितिशील कलाके क्रमिक विकासकी कड़ियाँ हैं; पर खेद है, जिस संस्कृतिसे उनका सम्बन्ध है, शताब्दियोंतक जिस समाजका उनने प्रतिनिधित्व किया, वह आज उनको भूल चुका है। उनका सांस्कृतिक मूल्यांकनतक विदेशियोंको करना पड़ा!

कलाकी इस संग्रहात्मक सामग्रीसे तत्रस्थ जनता तो वर्षोंसे परिचित थी। पर सीधेसादे जानपद क्या समझें कि ये हाथी, घोड़े और कमल, भारतीय कलाके उज्ज्वल प्रतीक और चित्र श्रमण-परम्पराके इतिहासके नक्षत्र हैं। इनको प्रकाशमें लानेका श्रेय मि० हैवेल और मि० लौंगहार्स्टको है। स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग्जमें मण्डोदकके चित्र प्रकाशित हैं।

इतने विवेचनके बाद, अब इनके इतिहास, शैली व निर्माणकाल पर भी, थोड़ा-सा दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

जिस भू-भागपर आज जैन-गुफाएँ हैं वहाँ उन दिनों पल्लवोंका राज्य था, जैसा कि वहाँ एक शिलोत्कीर्ण लिपिसे सिद्ध है। पल्लव-वंशीय राजा महेन्द्रवर्म्मन् (लगभग ई० स० ६००-६२५) ललितकलाओंकी सभी शाखाओंमें गहरी रुचि रखते थे। काव्य और संगीतके प्रति इनका कैसा आकर्षण था, इसका उल्लेख मान्दुर लेखमें आया है। इसने मामन्दुर की गुफाएँ उत्कीर्णित करवायी थीं। सित्तन्नवासलकी और मामन्दुर स्थापत्यशैलीमें अन्तर नहीं है। सित्तन्नवासलकी गुफाएँ जैन-संस्कृतिसे सम्बन्ध रखती हैं। महेन्द्रवर्म्मन (प्रथम) ने अप्पर नामक विद्वान्के प्रबोधसे जैनधर्म ग्रहण किया था। अप्पर प्रथम तो जैन था पर बादमें शैव स्त्रीके सौन्दर्यपर अपने-आपको समर्पित कर, शैव हो गया, फलतः महेन्द्रवर्मन् अपने आपको चित्रकलारिपु लिखता है। नृत्यकलाका भी वह पण्डित था। कहा तो यह भी जाता है कि इसने नृत्यकलापर स्वतन्त्र ग्रन्थका प्रणयन किया था। नृत्यकलासे अभिन्न संगीतपर भी पाण्डित्यपूर्ण अधिकार रखता था। संगीत विषयक अर्थात् स्वर सूचक

संकेतवाले लेख स्व० डॉ० हीरानन्दशास्त्री (एपिग्राफिया इण्डिका वॉ १२) व मि० टी० ए० गोपीनाथ रावको मिले थे। उनको समझनेके लिए जैनागमका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि किंचित् शब्द विन्यास-को छोड़कर शेप भागमें पर्याप्त साम्य है।

श्री गौरीशंकर चटर्जीने स्वरचित "हर्ष" (पृ० २६२) में सूचित किया है कि "हर्पके समकालीन महेन्द्रवर्मके शासन कालमें एक नवीन शैलीका विकास हुआ, जिसका नाम महेन्द्रशैली पड़ा। महेन्द्रवर्माने ईंट तथा पत्थरके अनेक मन्दिर बनवाये। जैसा कि जुभो डुव्रेयिल कहते हैं, "वे (महेन्द्रवर्मा) तामिल सभ्यताके इतिहासमें एक महान् व्यक्ति थे।" शिल्प तथा चित्रकलाके विकासमें उन्होंने जो कुछ योग दिया, उसीके आधारपर यह दावा आवृत है। उपर्युक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट हो जाता है कि पल्लव वंशीय महेन्द्रवर्मन् ललित कलाओंके उपासक व उन्नायक थे। उनके समयमें ही अर्थात् सातवीं शती ईस्वीमें सित्तन्नवासलका निर्माण हुआ। इस गुफामें ५ जिनमूर्ति हैं। एकका चित्र अभी मेरे सम्मुख है। औरोंको भी मैं देख चुका हूँ। अजन्ताकी बौद्ध-मूर्तियोंमें और इनमें स्थापत्य व मूर्तिकलाकी दृष्टिसे बहुत कम अन्तर है। यहाँकी दीवालोंके पलस्तर, अलंकरणशैली, डिज़ाइन भी अजन्ताका स्मरण दिलाती है। प्रो० डुवीलने, जो पल्लव कलाके माने हुए विशेषज्ञ हैं, पल्लवकला-पर स्वतन्त्र निवन्ध लिखा है, (इण्डियन एण्टीक्वेरी मार्च १९२३) उनका तो मन्तव्य है कि पल्लव स्थापत्य व चित्रशैली स्वतन्त्र है। पर अजन्ताके प्रभावसे प्रभावित है। मूर्तिकला और चित्रकलासे पल्लवका दान स्मरणीय रहेगा।

महेन्द्रवर्मन् स्वयं विद्वान् भी था। इनके मत्तविलास प्रहसनसे जैन-संस्कृतिकी—आर्हतोंकी व्यापकताका अच्छा आभास मिलता है। उसमें एक कापालिक आर्हतोंकी आलोचना करता बताया गया है। यह महेन्द्रवर्मन्के धर्म-परिवर्तनका प्रभाव विदित होता है।

पल्लवोंके वाद भी सामान्य भित्तिचित्र उपलब्ध तो होते हैं— जैसे उड़ीसाकी भुवनेश्वरकी जैन-गुफाएँ, पर वे शैली व उपयोगिताके ख्यालसे विशेप महत्त्व नहीं रखते। वे तो केवल क्रमिक विकासकी कड़ियाँ मात्र हैं।

भारतीय चित्रकलाकी परम्परा अजण्टा, सित्तान्नवासल, वाघ, वादामा और एलौराके वाद दूसरी दिशामें मुड़ गई है, अर्थात् उपकरण या माध्यम वदल गये। पूर्व भित्तिचित्रोंका वाहुल्य था तो वाद ग्रन्थस्थ चित्रोंका। उत्तर व पश्चिमीय भारतमें सहस्रावधिक ग्रन्थस्थ चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध हुए हैं। दोनोंकी धाराएँ पृथक्-पृथक् हैं। उनके कलाकार किस विशिष्ट पद्धति से अनुप्राणित हैं, स्पष्टतः नहीं कह सकते; पर उपलब्ध चित्रोंकी शैली व भारतीय सांस्कृतिक इतिहासके कतिपय उल्लेखोंके प्रकाशमें, कहनेका साहस किया जा सकता है, कि उत्तरभारतीय अधिकतर प्रतीक एजण्टाकी कलासे प्रभावित हैं। यह शैली तिव्वत व ब्रह्मदेव तक फैली हुई थी। यद्यपि यहांके कलाकारोंने लेखन-पद्धति व अन्य उपकरणोंमें पर्याप्त स्वातन्त्र्यका परिचय दिया है। तत्तत् प्रान्तीय प्रभावसे अभिपिक्त वे प्रतीक रेखाओंकी मौलिकताओंको सुरक्षित रखे हुए हैं। शिल्पस्थापत्य व तत्कालीन धातु-मूर्तियोंसे उपर्युक्त पंक्तिका समर्थन होता है। इतिहाससे सिद्ध है कि वौद्धोंका तिव्वतके साथ सांस्कृतिक सम्वन्ध था। वहुतसे वौद्ध साधु भी कुशल कलाकार थे। इन्हींके द्वारा अजण्टाशैली किंचित् परिवर्तनके साथ फैली।

पश्चिमीय भारतमें जो चित्रपद्धति दशम शतीके वाद विकसित हुई, उसके वीज या कलाकारोंका उत्प्रेरक, एलौर-शिल्प रहा है। चित्र व शिल्पकलाके तुलनात्मक अध्ययनसे ज्ञात होता है कि एलौराकी गुफाओंमें उत्कीर्णित शिल्प रेखाएँ जैनाश्रित चित्रकलाकी प्रेरणा-शक्ति हैं। अजण्टाके वाद चित्रकलाकी समाप्तिपर जो आवरण पड़ता है, वह एलौराकी गुफाओंमें जाकर उठता है, यहाँ की कला, अजण्टाके

समान भौतिक नहीं हैं, अपितु विशुद्ध अध्यात्मिक हैं। दक्षिण भारतकी चित्रकलाके इतिहासमें एलोराका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम भारतीय जैनाश्रित कलाकारोंने एलोराके शिल्पसे प्रेरणा ली; पर चित्र-लेखनमें प्रान्तीय उपकरण व शैलीको उपेक्षित न रखा। एलोरा और ग्रन्थस्थ चित्रकलाके बीचके सम्बन्धको जोड़नेवाले जैनाश्रित चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध नहीं होते; पर हाँ, दक्षिण भारतमें इतिहासकी कड़ियोंको जोड़नेवाली लड़ियाँ उपलब्ध होती हैं। जिसके परिचयके लिए स्टेलाक्रामरि का "ए सर्वे ऑव पेंटिंग इन द देकन" और एनुअल रिपोर्ट "आर्किलाजिकल रिपोर्ट निज़ाम स्टेट" देखना चाहिए।

परिवर्त्तन

बारहवीं शताब्दीसे जैन-कला पुनः अपना रूप बदलकर पुनरुज्जीवित होने लगी, क्योंकि विजयी शासक अपनी मदोन्मत्त मनोवृत्तिके वशीभूत होकर भारतीय संस्कृति और कलाके गौरवको उच्चासन प्रदान करानेवाली कला-कृतियोंको नष्ट करनेपर तुले हुए थे, जब जैन-राजकर्मचारी गण और श्रीमन्तवर्ग भारतीय साहित्य और ललित-कलाओंके संरक्षण एवं सृजनमें तल्लीन थे। राज्याश्रय भी प्रचुर परिमाणमें मिलता था। गुजरातके सुविख्यात कलाकार श्रीयुत् रविशंकर महाशंकर रावल निम्न शब्दोंमें सूचित करते हैं :—

> "भारतीय कलाका अभ्यासी जैन-धर्मकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन तो उस (जैन-धर्म) कलाका महान् आश्रयदायक और संरक्षक मालूम होता है। वैदिक कालसे प्रारम्भकर मध्यकालीन देव-देवियोंकी कला-सृष्टिके शृंगारसे हिन्दू-धर्म लादा जा रहा था। समय-प्रवाहके साथ कला भी शनैः-शनैः उपासनाके परम पवित्र स्थानसे पतित होकर इन्द्रिय विलासका साधन बन रही थी। कदाचित् प्रकृतिको ही उस समय ये सब बातें अमान्य

हों। तदनुसार मुसलमानोंके भीषण आक्रमणोंने उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न कर दी। हिन्दू-धर्मने दरिद्रता और निर्बलता स्वीकार की और सोमनाथ–जैसा पावन तीर्थ खण्डहर बन गया। उस समय कलाश्री पूज्य और पवित्र भावसे प्रश्रय देनेवाले जैन राज्यकर्मचारी-गण एवं धनवान्-वर्गके नाम और कीर्त्ति अमर रखकर कलाने अपनी सार्थकता सिद्ध की। महमूद ग़ज़नवीकी संहार-वृष्टि समाप्त होते ही गिरनार, शत्रुञ्जय और आबूके शिखरोंपर कलाकारोंके औज़ार गर्जित हो उठे और सम्पूर्ण जगत् आश्चर्यके सागरमें डूब जाय ऐसे अमरावती—देवताओंकी नगरीकी भाँति चमक उठे।....प्रत्येक धर्म-साधक उपर्युक्त कला-सृष्टिमें महान् एकाग्रता, पवित्रता और मनका समाधान प्राप्त करता। जैन-धर्मने कलाको जो कीर्त्ति और यश उपार्जित कराई, उसपर सारा भारत गौरवान्वित है और समस्त भारतका यह अमर उत्तराधिकार है[1]।

ग्रन्थस्थ जैन-चित्रकला

भारतीय राजपूत और मुग़ल चित्रकलाके पूर्व अर्थात् १६वीं शताब्दीके पूर्व मिलनेवाली चित्रकलाको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कोटिमें वे चित्र आते हैं, जिनकी उपलब्धि नेपाल और उत्तर-बंगालमें ११वीं शताब्दीमें होती है। द्वितीय श्रेणीमें वे चित्र हैं, जो गुजरात, काठियावाड़ और राजपूताने तथा तन्निकटवर्ती स्थानोंमें ११वीं शताब्दीके अन्तके मिलते हैं। दोनोंमें एक-दूसरेका अनुसरण या परस्पर सम्बन्ध रहा है, ऐसा ज्ञात नहीं होता। उभय कलाओंमें पर्याप्त वैषम्य है, अर्थात् उभय शैलीके चित्रोंकी कला प्राचीन भारतीयोंने अपने-अपने ढंगकी निर्मित की है। पूर्वकी कला प्रधानतया बौद्ध-ग्रन्थोंमें एवं पश्चिमकी

---

१. 'श्रीजैनचित्रकल्पद्रुम', पृ० २९।

कला जैनोंके हस्तलिखित धर्ममान्य ग्रन्थों व ताड़पत्रीय प्रतियोंमें उपलब्ध हैं। यही जैनाश्रित ग्रन्थस्थ चित्रकलाका प्रारम्भ काल है।

ताड़पत्रोंको विविध प्रकारसे संस्कारितकर उनपर कथा-प्रसंग व पूर्व आचार्योंके चित्र मिलते हैं, जिनको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। प्रथम विभागका आरम्भ महाराज सिद्धराज जयसिंह चौलुक्यके राज्योदय-से होता है। वि० सं० ११५७ (ई० ११००) की चित्रित निशीथचूर्णि उपलब्ध होती है, जो जैनाश्रित कलामें सर्वप्राचीन है। इस बीच जैन-पोथियाँ बहुत लिखी गईं। वि० सं० १३४५ (ई० १२८८) में यह काल पूर्ण होता है। उपर्युक्त कालीन युगके चित्रोंकी रेखाएँ तो उतनी सुन्दर नहीं हैं; पर रंगोंकी विविधताका बाहुल्य है। द्वितीय श्रेणीके चित्र काष्ठ-फलकों, हस्तलिखित पुस्तकोंकी विशेष सुरक्षाके हेतु बनी काष्ठकी पेटियों तथा प्राचीन वस्त्रोंपर चित्रित किये गये हैं। तृतीय विभागमें वे चित्र भी समाविष्ट किये जा सकते हैं, जो कश्मीरी कागजपर अंकित हैं। विक्रम-की १५वीं शतीसे इनकी शुरुआत होती है। यही कला १६वीं सदीके अन्तिम समय तक अपने स्वतन्त्र प्रवाहमें प्रवाहित होती रही; पर बादमें राजपूत और मुग़ल कलाओंके प्रभावमें आकर वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठी। तृतीय श्रेणीके चित्रोंमें जैन-चित्रोंके अतिरिक्त वे चित्र भी आ सकते हैं, जो वैष्णव सम्प्रदायके बालगोपाल-स्तुति, गीतगोविन्द, दुर्गासप्तशती आदि धर्मग्रन्थोंमें अंकित हैं।

नाम करण

१५वीं शताब्दी पूर्व जितनी भी कलात्मक चित्र कृतियाँ प्राप्त होती हैं, वे केवल जैनधर्ममान्य ग्रन्थोंमें ही प्राप्य हैं। प्राप्ति-स्थान भी पश्चि-मीय भारत है। अतः कला-समालोचकोंने जैनकला या श्वेताम्बर-कलाके नामसे सम्बोधन किया। श्री नानालाल चमनलाल मेहताने इस शैलीको गुजरातीकला नाम दिया, परन्तु विचारणीय प्रश्न तो यह

रह जाता है कि इस कलाकी सीमा केवल गुजरात तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसके उदाहरण पश्चिम भारतके प्रत्येक भूभागमें मिलते हैं। विक्रम संवत् १५२२ में युक्तप्रान्तके जौनपुर, मालव प्रान्तान्तर्गत माण्डवगढ़में क्रमशः कल्पसूत्र और उत्तराध्ययन (सं० १५२९) चित्रित किये गये हैं। इनके और गुजरातमें पाये गये जैनाश्रित चित्रोंमें अन्तर नहीं है। इस शैलीकी व्यापकताका मुख्य कारण श्रीयुत् साराभाई नवाब यह मानते हैं कि गुजरातके स्वतन्त्र हिन्दू राजाओंके आश्रयमें मुग़ल शासन करते थे, अतः चित्रकारोंका भी आदान-प्रदान हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं[1] और यह असम्भव भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि उन दिनों इस प्रकारकी प्रथा भारतमें थी, जैसा कि तात्कालिक साहित्यसे सिद्ध है। कुछेक चित्रित प्रतियोंमें चित्रकारके नाम भी मिलते हैं। चित्रकार "देईयाक" (संवत् १४७४) ने खम्भातमें कालककथाके चित्रांकित किये। "मुग़ल" सम्राट् अकबरके दरबारमें जितने भी प्रधान चित्रकार थे, उनमेंसे 'माधव' 'केशव' और 'भीम' तीनों गुजराती थे। उन्होंने अपनी कला-कृतियोंमें अपने आपको गुजराती शब्दसे सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट है कि अकबरके दरबारमें गुजरातके कलाकारोंका समुचित आदर होता था। गुजराती कलाकारोंकी इस प्रतिष्ठासे सिद्ध होता है कि मुग़ल समय पूर्व गुर्जर-चित्रकलाका एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था[2]।"

सुप्रसिद्ध चित्रकला मर्मज्ञ श्री रायकृष्णदासजीने ११वीं शतीसे १५वीं शतीतकके समस्त तथाकथित प्रतीकोंकी शैलीको अपभ्रंशशैलीकी संज्ञा दी है। यही परम्परा सूचित समय बाद 'राजस्थानी'के रूपमें परिणित हो गई। यदि वह स्वतन्त्र जैनशैली होती तो एकाएक इतना परिवर्तन न होता। रायजीने यह भी कहा है कि वर्णितशैलीके चित्रोंका

---

१. साराभाई नवाब—"जैनचित्रकल्पद्रुम", पृ० ३१।

२. साराभाई नवाब—ज्ञानोदय व० ३, अं० ४, पृ० २८४।

निर्माण व उपलब्धि, अपभ्रंश भाषा-भाषी भूभागमें ही हुई है। इस शैलीके प्रथम दर्शन एलोराकी गुफान्तर्गत चित्रित, गरुड़स्थ विष्णु व नन्दीपर स्थित शिवके चित्रोंमें होता है। इसका प्रभाव केवल पश्चिम भारतीय चित्रोंपर है ऐसी बात नहीं है, पर दक्षिण भारतीय चित्रकलाकी १३वीं शतीतक विकसित परम्परापर भी दृष्टिगत होता है। विजयनगरकी चित्र-पद्धति भी इससे कम प्रभावित नहीं।

सुप्रसिद्ध तिब्बतीय इतिहासकार पण्डित तारानाथका मन्तव्य है कि अपभ्रंशशैलीका प्रादुर्भाव राजस्थानमें हुआ, और क्रमशः अपनी मौलिकताके बलपर सारे देशमें फैली। जिन्होंने राजस्थानके शिल्प स्थापत्य व मूर्तिकलाका गम्भीर अध्ययन किया है, वे तारानाथकी बातको निर्भ्रान्त नहीं कह सकते। मैं तो कम-से-कम विश्वास कर सकूँ, ऐसी स्थितिमें नहीं हूँ। इस सम्बन्धमें मैंने शान्तिनिकेतन, "कलाभवन"के आचार्य व भारतके प्रतिनिधि कला-समालोचक श्रीयुत् नन्दलालजी बसुसे इस सम्बन्ध-में बातचीत की थी और उस समय मेरे पास वर्णितशैलीके कलात्मक जो प्रतीक थे। वे उन्हें बताये भी, आपने दृढ़तापूर्वक कहा कि जैनाश्रित चित्रकलाका मूल एलोराके शिल्पमें है। सांस्कृतिक इतिहास भी इस बातका समर्थन करता है।

इस शैलीके चित्रोंका प्राप्ति स्थान (अधिकतर) गुजरात होनेसे इसे 'गुजरातीकला' नाम दिया गया जान पड़ता है।

"जो कुछ भी हो, इस शैलीका उद्गम स्थान दक्षिणको माननेके पर्याप्त कारण हैं। सबसे पहले हम इस शैलीका दर्शन एलोराके कैलाश-नायके ९ शताब्दीके चित्रोंमें पाते हैं, और हो सकता है कि जिस तरह अपभ्रंश भाषाने सर्वप्रथम दक्षिणमें साहित्यिक रूप ग्रहण कर गुजरात, राजपूताना तथा मालवामें प्रवेश किया, उसी तरह अपभ्रंश चित्रशैली भी यहाँसे उद्भूत होकर देशमें चारों ओर फैल गई। यह बात असम्भव नहीं है, क्योंकि अपभ्रंशके कवियों और मध्यकालीन चित्रकारोंमें सांस्कृ-

तिक एकता अवश्य मानी जाती थी। राजशेखरने अपनी 'काव्य-मीमांसा'में तो कविसभामें अपभ्रंशके कवियों और चित्रकारोंको एक ही श्रेणीमें स्थान देनेकी बात कही है।"[1]

दक्षिणमें 'अपभ्रंश' शैलीका जन्म हुआ, पर इसके क्रमिक इतिहासकी सामग्री गुजरातमें ही और वह भी जैन-भण्डारोंमें ही मिलती है।

जैनाश्रित गुर्जरकला भारतीय चित्रकलाके इतिहासमें बहुत ही महत्त्वका स्थान रखती है। वह राजपूत और मुग़ल कलाओंको जन्म देनेके सौभाग्यसे मण्डित है। स्पष्ट शब्दोंमें मुझे कहना चाहिए कि इतःपूर्वकालके चित्र जैनोंने ही निर्माण करवाये और सुरक्षित भी रखे। खुशीकी बात है कि चित्रकाल और किसी-किसीमें चितारेका नाम तक उल्लिखित मिलता है। कुछ चित्र ऐसे भी देखनेमें आते हैं, जिनमें ईरानी क़लमका स्पष्ट मिश्रण है। ईरानी प्रभाव कब आया, यह ज़रा विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय तो, सूचित प्रभाव सर्वप्रथम, उस कल्पसूत्रकी प्रतिमें दृष्टिगत होता है, जो १४७६ ईस्वी जौनपुरमें[2]

---

१. डॉ० मोतीचन्द "दक्खिनीकलम" शीर्षक निबन्ध, कला-निधि व. १, सं० १, प० २७।

२. मुनि श्रीजयविजयने 'तीर्थमाला'में यवनपुर—जौनपुरका उल्लेख इस प्रकार किया है—

अनुक्रमें जउणपुरि आविया जिनपूजी भावन भावीयई
दोइ देहरइ प्रतिमा विख्यात पूजी भावई एकसो सात, ८०,
'प्राचीन जैनतीर्थमाला', पृ० ३१।

इस उल्लेखसे सिद्ध है कि १८वीं शताब्दी तक तो वहाँ जैनोंका वास था। जौनपुरमें लिखे कुछ ग्रन्थ भी मिलते हैं। मुग़ल इतिहासमें जौनपुरका स्थान महत्त्वपूर्ण था। उन दिनों पटना और दिल्लीके बीच यही बड़ा नगर था।

लिखी गई थीं। इनमें आलेखित चौहत्तर हाशिये हैं। दयाविजय संग्रहकी एक प्रति जो पन्द्रहवीं शतीके अन्त और सोलहवींके आदिम भागमें चित्रित की गई थी, उससे जाना जाता है कि उस समयका गुजराती कलाकार, न केवल ईरानी कलासे परिचित ही था, अपितु उनमें व्यवहृत कलात्मक अलंकारोंका उपयोग भी अन्य कृतियोंमे करता था। इनके मार्जिनमें प्रदर्शित आखेट विषयोंमे ईरानी योद्धाओंकी वेशभूषा १५वीं शतीके अन्तिम चरणकी है। इस प्रकार अनेक कृतियाँ पश्चिमीय भारतमे निर्मित हुई हैं।

यदि अभिलषित विषयका समीचीन विभागीकरण करें, तो चार भाग आसानीसे किये जा सकते हैं—(१) ताड़पत्रोंपर चित्रित और बोर्डर्स वगैरह। (२) ताड़पत्रीय ग्रन्थोंको भली प्रकार बाँधकर मजबूत रखनेके लिए काष्ठफलक स्वतन्त्र बनते थे। उनके आभ्यन्तरिक भाग विशेषरूपसे साफ़ किये जाते थे और उनके ऊपर किसी जैनाचार्य, तीर्थंकर या किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओंके चित्र अंकित रहा करते थे। (३) वस्त्रोपरि चित्रित चित्र। (४) कश्मीरी कागजकी पोथियोंपर खींचे गये चित्र। प्राचीन कालमें व्यापारियोंके वही-खातोंके बेकार काग़ज़ोंका कूटा तैयार करवाकर उनपर एक साफ़ काग़ज़ लगवाकर चित्र अंकित करवाये जाते थे। प्रतिमा-चित्रोंकी अधिकता इसी कोटिकी है। इनमें ताड़पत्रीय कलाको प्राचीन कहना संगत जान पड़ता है।

चित्रांकनका ढंग

यहाँपर विचार इस बातका करना है कि जैन-पोथियों और विभिन्न उपकरणोंपर चित्रांकन किस ढंगपर होता था। यह विषय जितना कठिन है, उतना ही रुचिकर भी है। प्राचीन सचित्र और अर्द्धचित्रित प्रतियाँ मैंने बहुत-सी देखी हैं—कुछ मेरे संग्रहमें भी हैं। अतः यह बात मैं अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ कि प्रधानतः ग्रन्थ-लेखक और चित्रकार भिन्न-भिन्न

होते थे, तथापि निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता है कि लेखक और चित्रकार एक नहीं होते थे। आज भी कुछ ऐसे साधु हैं, जिनका चित्रात्मक प्रतिकृतियोंमें सिद्धान्ततः विश्वास नहीं है; पर वे चित्र सुन्दर बना लेते हैं, इसलिए कि विचारविहीन मानव उन्हें देखकर फँस जायँ। इसे तेरापन्थी श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा गया है, लिखनेवाला चित्रके प्रधान स्थानको छोड़ देता था। प्रतिका लेखन-कार्य धारावाहिक रूपसे चलता था। चितारेकी स्मृतिके लिए कहीं-कहीं पर प्रसंगसूचक शब्द भी लिख देते थे। चितारे सर्वप्रथम मोटे और भद्दे रूपमें सफ़ेद, नीला और यदि स्वर्णकी स्याहीका काम बताना हो तो पीला आदि रंगोंसे चित्रकी विशेष प्रकारकी पृष्ठभूमि तैयार कर लेते थे, जिसमें रक्त वर्णकी प्रधानता रहती थी। बादमें उसपर सुन्दर सूक्ष्म तूलिकाओंसे (जहाँतक मेरा ध्यान है, प्राचीनकालमें चूहेके या गिलहरी[1] की पूँछेके चूलोंकी बारीकसे बारीक तूलिकाएँ बनती थीं) बारीक रेखाएँ खींचकर उनमें यथोचित रंग भर देते थे। उनमें स्त्रियों और पुरुषोंको

---

१. प्राचीन परम्पराके लेखक और चित्रकार गिलहरीको विशेष ढंगसे पकड़ते थे। एक विशाल वस्त्र बिछाकर उसपर विभिन्न प्रकारके अन्नकण या परिपक्व खाद्य बिखेर दिये जाते थे, एवं एक बड़ी चलनीमें लकड़ी फँसा कर उसे पतली रस्सीसे बाँधकर एक आदमी दूर रस्सी पकड़े बैठ जाता था। ज्योंही गिलहरी खाद्यके लोभसे चलनीके नीचे आती, त्योंही रस्सी खींच लेते थे, जिससे वह चलनीमें गिरफ्तार हो जाती थी। बादमें आदमी उसकी पूंछके बाल काटकर पाँच मिनटके भीतर ही उसे छोड़ देता था। बालोंको एकत्र कर मयूर-पंखके अग्रिम भागमें रस्सीसे बाँध दिया जाता था। यही सूक्ष्म तूलिका-निर्माण-विधान है। आजतक कहीं-कहीं इसी प्रयोगसे काम चलता है। यह तो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तूलिकाकी बात है। बड़ी तूलिका बनानेके लिए अश्व-पूँछके बाल काममें लाये जाते थे।

मुखाकृतियोंपर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्त्रों एवं आभूषणोंपर भी कम ध्यान नहीं दिया जाता था। नासिकापर अधिकतर लाल रंगका उपयोग होता था। जैन-साधुओंके वस्त्र मोतीवत् श्वेत दिखाये जाते थे। प्राचीन चित्रोंके अवलोकनके बाद मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि इन चित्रोंमें पाँच प्रकारके रंगोंका प्रयोग होता था। शरीरकी भव्यता, शृङ्गारिक आभूषणोंकी विलक्षणता, विशिष्ट शैलीकी भाव-भंगिमा, शारीरिक गठन और अंग-प्रत्यंगका समीचीन उठाव, नीले रंगके विभिन्न शैलीके हाशियेपर चित्रित जंगली जानवरोंके भव्य चित्र—जैनाश्रित चित्रकलाकी ये कुछ विशेषताएँ हैं।

कागज़की पोथियाँ इस प्रकार भी चित्रित की जाती थीं। सर्वप्रथम कश्मीरके कागज़को सुन्दर ढङ्गसे कतरकर उसे नमकके पानीमें डुबोकर निकाल लिया जाता था, जिससे उसकी उम्र बढ़े और घुटाईमें चमक भी आये। बादमें उसपर इच्छित रंगका लेपकर स्निग्ध पाषाणसे खूब घुटाई होती थी, ताकि सलवटें निकल जायँ और रंगोंकी चमक भी निखर उठें। चारों ओर बोर्डर अलगसे खींचा जाता था। लाल और बदली रंग विशेषरूपसे व्यवहृत होते थे। उसपर स्वर्ण या रजतकी स्याहीसे लिखी हुई लिपि चमक उठती थी। अध्यात्मतत्त्व वेदी श्रीमद्देवचन्द्रजीकी अध्यात्मगीताकी दो प्रतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, जिनकी लेखन एवं चित्रकला उपर्युक्त ढङ्गकी है। उनके हाशियोंपर प्रकृतिका तादृश चित्र मनोहर और भव्य है। चित्रकला ही आध्यात्मिक भावोंकी धारा बहाने लगती है और ग्रन्थका विषय तो वही है। उभय सामञ्जस्य आकर्षक है। यद्यपि यह कृति १९वीं शतीकी चित्रित है, पर भावोंकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व-पूर्ण है। प्राकृतिक चित्रोंका इतना अच्छा संकलन, इस शताब्दीकी अन्य कृतियोंमें नहीं मिलता, इसमें 'भारण्ड' पक्षीका अङ्कन विशेष आकर्षणको लिये हुए है। इससे पता चलता है कि उन दिनों वह भारतमें अवश्य ही रहा होगा। १८वीं शताब्दीकी एक आयुर्वेदिक कृति मेरे संग्रहमें है, इसमें

भारण्ड पक्षीके अण्डोंके छिलकोंका प्रयोग चक्षु-ज्योति वृद्ध्यर्थ आया है और अनुभूत प्रयोग है। अतः यह मानना पड़ता है, तबतक वह यहाँ था। अब तो पता नहीं लगता।

ताड़पत्रीय चित्र (प्रथम भाग, वि० सं० ११५७–१३५६)

अद्यावधि जो प्राचीन जैन-साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसका अधिकांश भाग ताड़पत्रोपरि लिखित है। जैनेतर साहित्य यों तो भूर्जपत्रपर भी लिखा हुआ प्राप्त हुआ है; पर जैन-भण्डारोंमें कुछ ऐसे मूल्यवान् ग्रन्थ मिले हैं, जो ताडपत्रोंपर उल्लिखित होनेके साथ उनकी लिपिकी मरोड़ भी शुद्ध जैन है। प्राचीनकालीन लेखन-विषयक उपकरणोंपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि उस समय अपने देशमें काग़ज़का प्रचलन नहीं था। मध्य-एशियासे मुसलमानों द्वारा इसका आगमन भारतमें हुआ। उनके साथ काग़ज भी स्थायी व्यवहारकी वस्तु बन गया। आज भी भारतके कुछ भागोंमें ताड़के पत्र ग्रन्थ-लेखनके काममें आते हैं; पर कलाकी दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं। यों तो ताड़के वृक्ष कई प्रकारके होते हैं; पर उन सबमें 'श्रीताल' मज़बूत, स्निग्ध और सुन्दर होता है, जो मलबारसे आता था। अतः इसीपर लिखित सैकड़ों ग्रन्थ मिले हैं। १५वीं शताब्दी तक जैनोंने लेखनमें इनका व्यवहार किया।

भारतीय चित्रकलाका विकास ताड़पत्रोंपर भी ख़ूब हुआ। स्पष्ट कहा जाय, तो ताड़पत्रोंपर जो चित्रकला अवतरित हुई और विकसित होते-होते आजतक यत्किंचित् अंशमें सुरक्षित रह सकी है, उसका सम्पूर्ण श्रेय जैनों-को ही मिलना चाहिए; क्योंकि उन्होंने अपने द्रव्यको बहाकर कलाकारोंकी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्त्तिकर उच्चश्रेणीकी कला-कृतियाँ सर्जित करवाई। मैं गर्वके साथ कह सकता हूँ कि भारतीय मध्यकालीन चित्रकलाके नमूने इनको छोड़कर अन्यत्र नहींके बराबर मिलते हैं। इनके अध्ययनके बिना भारतीय चित्रकलाका अध्ययन अपूर्ण रहेगा।

जैन-धर्मके इतिहास-पटपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है

कि दक्षिण-भारतमें दिगम्बर और पश्चिम-भारतमें श्वेताम्बर जैनोंका आधिपत्य था और वर्त्तमानमें भी है। जिस कालकी ताड़पत्रीय चित्रकला-का उल्लेख यहांपर किया जा रहा है, वह युग जैनोंके लिए स्वर्णका था। चौलुक्य और बघेले राजा जैन-धर्मको आदरकी दृष्टिसे ही नहीं देखते थे; अपितु उनके राज-कालमें शासनके ऊँचे-से-ऊँचे पदोंपर जैन ही नियुक्त थे। वे न केवल शासक ही थे, अपितु कई तो उच्च श्रेणीके विद्वान्, ग्रन्थ-कार और कलाके उपासक भी थे। स्वाभाविक रूपसे चौलुक्य राजा शिल्पादि ललित-कलाओंमें बहुत अभिरुचि रखते थे। परमार्हत श्रीकुमार-पाल राजाने जो कार्य कलाके उन्नयनमें किया है, वह अद्वितीय है। इतःपूर्व गुजरातमें ज्ञानभण्डार थे या नहीं, यह एक प्रश्न है; परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कुमारपालने सर्वप्रथम अपनी राजधानीमें ज्ञानागार खुलवाया और ताड़पत्र मँगा सैकड़ों ग्रन्थ लिखाकर विद्वानोंको सुविधाके लिए वितरण कराये।

वि० सं० ११५७की चित्रित एक निशीथचूर्णिकी सचित्र प्रति मिली है, जो महाराज जयसिंहके राज्यमें लिखी गयी। ज्ञाताधर्मकथा आदि तीन अंगसूत्र भी इस कालकी सचित्र कृतियाँ हैं। महाराज कुमार-पालके राज्यकी ओघनिर्युक्ति (वि० सं० १२१८) और ६ अन्य ग्रन्थ चित्रित उपलब्ध हुए हैं। उनमेंसे प्रथम ग्रन्थमें स्वयं कुमारपालका भी एक चित्र है, जो इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। अन्य ग्रन्थोंमें पौराणिक शासन देवियोंके चित्र हैं, जो भारतीय शिल्प और प्रतिमा-निर्माणकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी हैं। सौभाग्यकी बात है कि चित्र साफ़ है। श्वेताम्बर ताड़चित्रके और भी नमूने उपलब्ध हैं; पुरातत्त्वाचार्य श्रीमान् जिन-विजयजी "चित्रकलाकी दृष्टिसे ताड़पत्रीय पुस्तकोंका आकर्षण" शीर्षकमें अपने विचार इन पंक्तियोंमें व्यक्त करते हैं—

"पुरातन इतिहासके उपादानकी दृष्टिसे इन ताड़पत्रीय पुस्तकोंका क्या महत्त्व है, यह तो संक्षेपमें हमने ऊपर बताया ही है। इसके सिवा

एक और सांस्कृतिक उपादानकी दृष्टिसे कुछ ताड़पत्रीय पुस्तकोंका अधिक आकर्षण है। वह है चित्रकलाकी दृष्टिसे। ताड़पत्रीय पुस्तकोंमेंसे किसी-किसीमें कुछ चित्र भी अंकित किये हुए उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इन चित्रोंमें विशेषकर जैन-उपास्य देव तीर्थंकरोंके प्रतिविम्ब होते हैं; पर साथ-में कुछ और-और दृश्योंके चित्र कहीं-कहीं मिल जाते हैं। ऐसे दृश्योंमें प्रधानतया जैनाचार्योंकी धर्मोपदेशके स्वरूपकी अवस्थाका आलेखन किया हुआ मिलता है। इस आलेखनमें आचार्य सभापीठपर बैठे हुए धर्मोपदेश करते बतलाये जाते हैं और उनके सम्मुख श्रावक और श्राविकागण भाव भक्तिपूर्ण उपदेश श्रवण करते दिखाये जाते हैं। कहीं कुछ ऐसे ही और भी अन्यान्य प्रसंगोचित दृश्य अंकित किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं। गुफाओंके भित्ति-चित्रोंके अतिरिक्त ऐसे छोटे, परन्तु विविध रंगोंसे सज्जित, इतने पुराने चित्र हमारे देशमें और कोई नहीं मिलते। इसलिए चित्र कलाके इतिहास और अध्ययनकी दृष्टिसे ताड़पत्रकी ये सचित्र पुस्तकें बड़ी मूल्यवान् और आकर्षणीय वस्तु हैं[1]।"

पश्चिम-भारतकी भाँति दक्षिण-भारतके जैन-भण्डारोंका परिशीलन अद्यावधि समुचित रूपेण नहीं हुआ। अतः कुछ लोगोंने मान लिया कि दिगम्बर जैन चित्रकलाके नमूने नहीं मिलते। सच बात तो यह है कि दिगम्बर जैन विद्वानोंने अभी तक अपने पूर्वजों द्वारा संरक्षित विपुलतम ज्ञानराशिका समीचीन पर्यवेक्षण ही नहीं किया। देशी और विदेशी विद्वानोंने इन चित्रोंपर जो-कुछ कार्य किया है, उससे हमें विश्वास हो जाता है कि दक्षिण-भारतके जैनोंने ताड़पत्रीय ग्रन्थोंको तो सचित्र बनाया ही है, पर साथ-ही-साथ अन्य चित्रोंकी भी कलात्मक सृष्टि करनेमें वे पश्चात्पाद नहीं रहे। मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियमसे 'Tirupatti Kunram' (१९३४) नामक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ मि० टी० एन०

---

१. 'जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह', प्रस्तावना, पृ० २०।

रामचन्द्रम् द्वारा लिखित प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रकाशित चित्रोंसे दक्षिण-भारतकी जैन-चित्रकला-पद्धतिका सामान्य आभास मिलता है। इनमेंसे अधिकांश चित्र भगवान् ऋषभदेव और महावीरकी जीवन-घटनाओंपर प्रकाश डालते हैं; परन्तु फिर भी उस समयके पहनाव, नृत्यकला (प्लेट ५३-५४-५५-५६-५७-५८-६०-६१) के तत्त्वोंका परिज्ञान हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमेंसे सभीको उत्कृष्ट कला-श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता, तथापि इनका अपना वैशिष्ट्य है।

श्रीधवलाका स्थान दि० साहित्यमें महत्त्वका है। मूडबिद्रीमें इसकी एक प्रति लिखी हुई मिली है, जो सचित्र है। षट्खण्डागम भाग ३में कुछ चित्रोंका प्रकाशन हुआ है। इनमेंसे ऊपर उभय चित्र बड़े भावपूर्ण हैं। तीर्थंकरोंकी पद्मासनावस्था, वीतरागमुद्रा और यक्ष-यक्षिणीके मुखसौरभ विस्मयकारक भव्यताको लिये हुए हैं। द्वितीय चित्र दिगम्बराचार्योंके प्रतीत होते हैं। एक चित्र—जो दाहिनी ओर है—आचार्य हेमचन्द्र सूरजीके प्रमुख ताड़पत्रीय चित्रका स्मरण करा देता है। उभय-साम्य स्पष्ट है। शेष पत्रोंमें बाहुबली स्वामी और अन्य तीर्थंकर परमात्मा के भावोंके अंकनके बाद अन्तिम पत्रमें जैनोंके भौगोलिक इतिहाससे सम्बन्धित चित्र हैं। इन चित्रोंके मध्य-भागमें कमलाकर चक्र सुन्दररूपसे चित्रित है। खेद इस बातका है कि जहाँपर चित्र प्रकट किये गये हैं, वहाँ उनकी कला एवं समय-सूचक-विवरण नहीं हैं। अतः मूल चित्रके अभावमें निश्चित निर्माण-समय कैसे किया जा सकता है।

जैसलमेरकी चित्र समृद्धि

भारतीय चित्रकलाके संरक्षणमें खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनभद्र सूरिजीका स्थान सबसे आगे है। आपने जैसलमेरमें जैनज्ञानभण्डारकी स्थापनाकर भारतीय संस्कृतिके मूल्यवान् साधनोंकी रक्षा की। यदि आप उन दिनों इस महत्त्वपूर्ण संरक्षणपर ध्यान न देते तो आज हमें,

चित्रकलाकी महत्त्वपूर्ण सामग्रीसे वंचित रह जाना पड़ता। अभीतक जैसल-मेरकी ख्याति तालपत्रीय प्रतोंके कारण थी, पर मुनि पुण्यविजयजीकी गवेषणाने प्रमाणित कर दिया कि मध्यकालीन भारतीय कलाके इतिहासपर प्रकाश डालनेवाली मौलिक सामग्रीका भी वह अनुपम संग्रह है। आपने चौदह काष्ठफलक और ताड़पत्रके चित्र खोज निकाले। इनमेंसे कुछ एकका प्रकाशन उपर्युक्त शीर्षक सूचित ग्रन्थमें हुआ है। शेष भविष्यमें प्रकट होंगे। ऐसी आशा है।

काष्ठपर चित्र

रूपनिर्माणमें जैनाश्रित कलाकारोंने अद्वितीय नैपुण्यका जो सुपरिचय दिया है, वह स्पर्द्धाकी वस्तु है। कलाकारोंने रूपाधारके लिए कोई निश्चित निर्णय नहीं किया है, वे किसी भी प्रकारके आधारसे अन्तःसौन्दर्यको 'रूप-दान' देनेको सक्षम थे। कवि कीट्सने मृण्पात्रमें शिल्पनैपुण्यका प्रतीक देखकर उस अमर रचनाकी प्रेरणा पाई, जो सौन्दर्य विवेचकोंके लिए मन्त्र-रूप है—"ब्यूटी इज ट्रुथ, ट्रुथ इज ब्यूटी।" कलाका विचार आधारसे नहीं, पर पात्रगत आधेयसे होता है। उपादानसे कला धन्य होती है, कला-कारके नैपुण्य, उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि-वृत्ति एवं प्रतिभासे। प्रसिद्ध चित्र-कार माइकेल एंजेलो ठीक ही तो कहा करता था कि—"पत्थरके हर टुकड़ेमें मूर्ति है, भास्कर उसके अनावश्यक अंशोंको तराशकर मूर्तिको प्रकाशमें ला देता है, जो लोकचक्षुके अन्तरालमें है।" श्रीरवीन्द्रनाथका मन्तव्य है कि उच्च कोटिकी कलाके उपादान सर्वत्र भरे पड़े हैं। पर हैं कितने व्यक्ति ऐसे जो बिखरे हुए अमूर्त तथ्योंको एकत्र कर सत्यकी ओर, जनताको उत्प्रेरित कर सके और कलाकी अन्तःवाणीके उन्नत आदर्शको समझ सके। जिस प्रकार रसज्ञता दैवी वरदान है, उसी प्रकार रूपदान भी। रूपशिल्प या चित्रमें महत्ताका अभाव नहीं, अभाव होता है कुशल कलाकारका।

उपर्युक्त शीर्षकसे बहुतोंको आश्चर्य होगा कि लकड़ीपर भी चित्र हो सकते हैं ? पर इसमें विस्मयकी कोई बात नहीं है। सामान्य आधारके सहारे सुन्दर रससृष्टि करना ही तो कलाकारकी कुशलता है। इस विषय-पर मैं अन्यत्र स्वतन्त्र रूपसे विचार कर चुका हूँ[1]। अतः यहाँ तो प्रासंगिक रूपसे इतना ही कहूँगा कि जैनाश्रित कलामें २५०० वर्ष पूर्वसे काष्ठका व्यवहार, कलाकारोंने सफलतापूर्वक किया है। जैनागम एवं तदुत्तरवर्ती साहित्यिक ग्रन्थोंसे भी इसका समर्थन होता है। यहाँ मैं केवल चित्रकला-विषयक काष्ठोंकी ही चर्चा करना उचित समझता हूँ।

भोजपत्रपर लिखे ग्रन्थोंकी सुरक्षाका नैपाल व कश्मीरियोंने, क्या और कैसा प्रबन्ध किया था, यह तो नहीं बता सकता, पर जैनोंने ताड़पत्रों-पर लिखित ग्रन्थ-रक्षाकी जो व्यवस्था की थी, वह हमारे सम्मुख है। कलात्मक कृतियोंकी रक्षाके उपादान भी तो कलापूर्ण होने चाहिएँ न ? लेखनकार्यमें उपयोगी ताड़पत्र स्वभावतः ढाई-तीन फुटसे कम लम्बे नहीं होते। अतः उनको सुरक्षित रखनेके लिए मध्य-भागमें तीन या आवश्यकता-नुसार अधिक, छिद्र बनाकर मजबूत रस्सीमें पिरोकर काष्ठफलकोंमें कसकर बाँधे जाते थे, जैसे कोई शत्रुको बाँधता हो। ऐसे फलकोंके भीतरी भाग-को खूब स्वच्छ-स्निग्धकर, पृष्ठभूमि निमित्त कोई रंगसे पॉलिसकर, तदुपरि कथाप्रसंगोंको स्पष्ट करनेवाले, तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओंपर बेधक प्रकाश डालनेवाले, तीर्थंकरोंके या महान् शासन प्रभावक आचार्यके सांस्कृ-तिक कार्योंसे सम्बद्ध, या प्रकृतिके सौन्दर्यका प्रतिनिधित्व करनेवाले आक-र्षक चित्र अंकित किये जाते थे। इस प्रथाका पालन ब्रह्मदेश, तिब्बत तथा चीनमें भी किया जाता था।

उपर्युक्त पंक्ति-वर्णित काष्ठफलकोंका पता सर्वप्रथम जैसलमेरमें तब लगा, जब स्वर्गीय आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी अपने उपाध्याय

---

१. भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग, पृष्ठ ११९।

मुनि सुखसागरजी आदि सुयोग्य शिष्यों सहित वहाँके जिनभद्रसूरि स्थापित ज्ञानभण्डारका अन्वेषण कर रहे थे। यही प्रथम जैनाचार्य थे, जिनने श्रीसंघका विश्वास[1] प्राप्तकर, प्राचीन साहित्यका जीर्णोद्धार किया। आपके साथ १८ तो मात्र लिपिक ही थे। यह घटना वि० सं० १९८२ की है। आपको यहाँपर जैनसाहित्यान्वेपण करते समय दो काष्ठफलक सचित्र दृष्टिगोचर हुए। इनको आपने, वहाँके पुरातन विचारके लोगोंको समझा-बुझाकर उन्हें बड़ौदा स्टेट फ़ोटोके लिए भेजा, जो बादमें "गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरिज़"के अपभ्रंश काव्यत्रयीमें प्रकाशित हुए। इन फलकोंपर तात्कालिक प्राकृत भाषाके उद्भट कवि व उत्कृष्ट क्रिया पात्र श्रीजिनवल्लभसूरि और अपभ्रंश भाषाके लोक कवि श्रीजिनदत्तसूरिजीके

---

१. विश्वास शब्दका प्रयोग मैं सकारण ही कर रहा हूँ। इतःपूर्व वहाँपर जैन-मुनि पहुँचे थे, वे वहाँके लोगोंकी धार्मिक भावनाका अनुचित लाभ उठाकर, भंडारसे बहुमूल्य पुस्तकें चुरा लाये थे, जो आज गुजरातके प्रसिद्ध ज्ञानभंडारकी शोभा है। विद्वानोंमें न जाने यह दोष क्यों आ गया है। स्व० बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर भी बताते थे, उन्होंने एक अति प्रसिद्ध विद्वान्को रागमालाके चित्रोंका एलबम अवलोकनार्थ दिया, उन्होंने वर्षोंतक रखा, बहुत तक़ाजेके बाद जब एलबम वापिस मिला तो वे चित्र ही नदारत थे। नाहरजी जहरका घूँट पीकर रह गये। इन पंक्तियोंके लेखकका भी ऐसा ही अनुभव है। जब वह कलकत्तामें था तब एक विद्वान्को, कवि जामीके हजके वर्णनका एक हस्तलिखित ग्रन्थ, केवल एक सप्ताहके लिए दिया, इसमें विशुद्ध ईरानी क़लमके पाँच चित्र थे। स्वर्णकी भूमिपर काली रेखाओंमें चित्र थे। कला और सौंदर्यकी दृष्टिसे तो अमूल्य थे ही, पर साथ ही इसपर जहाँगीरके कुतुबख़ानेकी मुहर भी लगी थी। मैंने बहुत प्रयास किया, पर प्राप्त करनेमें अभी तक असफल रहा। अभी भी हमारा राष्ट्रीय चरित्र कितने निम्न स्तरपर है?

ऐतिहासिक चित्र अङ्कित हैं। ये चित्र जब प्रकाशित हुए, तब इनपर कलालोचकोंका ध्यान नहीं गया, बल्कि साम्प्रदायिक समझकर उपेक्षित कर दिये।

१९४२के भीषण राष्ट्रिय आन्दोलनके समय, भारतका एक प्रतिभा सम्पन्न और गवेषणाके कार्यमें, लोकसेवामें सम्पूर्ण जीवन देनेवाले महान् संशोधक, सदलबल जैसलमेर पहुँचा और पाँच माहतक अविरत भावसे रक्त-शोषक श्रम कर वहांके पुरातन ज्ञानभण्डारोंको छान डाला, वह वयो-वृद्ध व्यक्ति और कोई नहीं, भारतीय विद्याभवन (बम्बई) के भूतपूर्व आचार्य और राजस्थान पुरातत्त्व विभागके वर्तमान अवैतनिक सञ्चालक श्रद्धेय पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी थे। आपने दो काष्ठफलक और खोज निकाले, जो भारतीय मध्यकालीन इतिहास और चित्रकलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इन फलकोंका प्रकाशन भारतीयविद्या—सिंघीस्मृति—अङ्कमें हुआ है।

इन फलक-चित्रोंका धार्मिक महत्त्व तो निर्विवाद है ही, पर इनसे अधिक मूल्य है चित्रकलाकी दृष्टिसे। परिचय देते हुए मुनिश्रीने लिखा है—

"चित्रपट्टिकाके रंग आकर्षक व रेखाएँ सुन्दर, सुभग और सुमार्जित हैं। स्त्री, पुरुष और यतिमुनियोंकी आकृतियाँ अच्छी बनी हुई होनेके कारण उनका अङ्गविन्यास सम्यक् रीत्या मरोड़वाला बनाया गया है। स्त्रियोंके कर्णकुण्डल ध्यान आकृष्ट कर सकें, वैसे हैं। स्तनमण्डलका उन्नत वर्तुलाकार तो अजन्ताके चित्राङ्कनकी ही परम्पराका प्रत्यक्ष परिचय देता है। इनसे हमें यह भी आभास मिल सकता है कि अजन्ताकी चित्र-कला और गुजरात, राजस्थान अर्थात् पश्चिम भारतकी चित्रकलाका परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है।"[1]

इस विषयपर सुप्रसिद्ध कलाविद् श्रीनानालाल चमनलाल मेहता

१. भारतीयविद्या भा० ३, पृ० २३५।

विस्तारसे लिख रहे हैं। मैं केवल इतना ही कहूँगा कि ये चित्र उस समय-की सामाजिक व संगीत तथा नाट्यपद्धतिपर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनके निरीक्षणसे स्पष्ट हो जाता है कि ये एलोराकी कलासे खूब प्रभावित हैं। उस समयका कलाकार स्थिर भावोंका अङ्कन तो करता ही था, पर गतिमय भावोंको भी सफलताके साथ तूलिकामें लपेट लेनेमें भी सक्षम था। डा० मोतीचन्द इन फलकोंपर लिखते हैं—

'उन्हें देखकर मुझे यह पता चला कि ताड़पत्रपर लिखे चित्र मध्य-कालीन भारतीय पश्चिमकलाके जिन अंगोंपर प्रकाश डालनेमें अक्षम हैं, वह प्रकाशन इन पहलियोंसे मिलता है।'[1]

मुनि श्रीजिनविजयजीके वाद मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी जैसलमेर पहुँचे और आपने १४ सचित्र काष्ठफलक ढूँढ़ निकाले। इनसे पश्चिम भारतीय चित्रकलापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये सब प्रायः वारहवीं शतीके आसपासके हैं जैसा कि उनमें चित्रित कमलवेलसे सिद्ध है। इन फलकोंमें सापेक्षतः वैशिष्टय है, वह यह कि 'गेंडा' व 'जिराफ़'का अङ्कन। डॉ० मोतीचन्दका अभिमत है कि भारतीय चित्रकलामें शायद यह प्रथम अङ्कन है। यों तो विश्वविख्यात कोणार्क (उड़ीसा) मन्दिरके थरमें जिराफ़ है, पर वह अङ्कन १३वीं शतीके मध्यका है।

प्राचीन शिल्पके प्रकाशमें इनको देखें तो पता चलेगा कि कलाकारने उससे जो प्रेरणा ली है वह वैयक्तिक है या पारम्परिक। मुझे पारम्परिक ही जान पड़ती है। कमलवेल तो अमरावती, साँची और मथुरा शैलीका अनुकरण स्वरूप जान पड़ती है।

श्रीयुत् साराभाई नवावके संग्रहमें भी एक कलापूर्ण काष्ठफलक है। इसपर भरत और वाहुवलिके चित्र अङ्कित हैं। वि० सं० १४२५की दो काष्ठ पट्टिकाएँ पुष्पमालावृत्तिकी प्रतिमें पाई गयी हैं, जो ३३ + ३

---

१. जैसलमेर नी चित्र समृद्धि, प्रावकथन।

इन्च है। दोनोंपर भगवान् पार्श्वनाथके १० पूर्वभव एवं पञ्चकल्याणकोंका अङ्कन है। काम वहुत सूक्ष्म है। पर असाववानीसे वहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। सौभाग्य इतना ही है कि रेखाएँ वच गयी हैं। सं० १४५४की सूत्रकृतांगपर भी एक पटली मिली है। इसपर भगवान् महावीरके कुछ भव व दूसरी ओर कल्याणकोंके भाव हैं। चित्र वहुत स्पष्ट व सुरक्षित है। यदि दूसरी पटिका भी उपलव्व हुई होती तो और भी प्रकाश मिलता। लेखनका निर्देश होनेसे इनका विशेष महत्त्व है।

१५वीं शतीतक तो तालपत्रोंका रिवाज था पर वादमें इनका स्थान काग़ज़ने लिया और काष्ठफलकोंका स्थान पेटियोंने या पुट्ठों[1]ने लिया। पर हाँ काष्ठ-चित्र परम्पराका प्रवाह प्रकारान्तरसे चलता रहा। अव हस्त-लिखित ग्रन्थोंके लिए तदाकार वक्स वनने लगे थे। इनपर भी सुन्दर चित्रकारी मिलती है। ऐसे नमूने मेरे संग्रहमें हैं। एकपर सरस्वतीका चित्र है, एकपर गणेश[2]का।

१६वीं शताव्दीके वाद काष्ठचित्र परम्पराका अच्छा विस्तार हुआ जान पड़ता है। जो प्रसंग काष्ठफलकोंपर चित्रित किये जाते थे, अव उनने वृहत्तर रूप धारण किया। जैनमन्दिरोंकी काष्ठछतों व दीवालोंपर जैन-संस्कृतिसे सम्वद्ध अनेक भावोंका अंकन पश्चिम भारतमें हुआ, इस परिवर्तनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी लोकरुचि कलाकी ओर झुकी हुई थी।

जैनाश्रित काष्ठ चित्रकलाका विकसित भाग अभीतक विद्वज्जगत्को

---

१. पुराने वहीखातोंके काग़ज़ोंको कूटकर प्रताकार पुट्ठे वनाये जाते थे। इनमें भी श्रमणोंका कलाकौशल परिलक्षित होता है। इनकी कटाई इतनी सुन्दर व भावपूर्ण होती थी कि स्वयं चित्रके रूपमें वदल जाती थी। वादमें फिर चाँदीके पुट्ठे भी वनने लगे थे। इस कलापर ध्यान देना जरूरी है।

२. इसका चित्र "भारतीय विद्याभवन" परिचयपत्रमें प्रदर्शित है।

अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका है। मैंने ऐसे कुछ चित्र सूरत व अहमदाबादके जैनमन्दिरोंमें देखे हैं। मुग़लकलाके पूर्व इतिहासपर ये चित्र अच्छा प्रकाश डाल सकते हैं, कारण एक प्रकारसे मैं इन्हें वयःसन्धिकालीन चित्र मानता हूँ। राजपूत और मुग़ल चित्रकी बीचकी कड़ियाँ इन्हींमें बिखरी हैं। भारतीय चित्रकला मर्मज्ञोंका मैं साग्रह इस ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ। अहमदाबाद, सूरत, राधनपुर, पाटन और खंभातके मन्दिरोंमें इनका अच्छा संग्रह है। मुझे सखेद लिखना पड़ता है, कि हमारे मन्दिरोंके कलाशून्य हृदयवाले व्यवस्थापकों द्वारा ऐसी मूल्यवान् सामग्रीका बहुत बड़ा भाग तो नष्ट हो चुका। अवशिष्ट भागकी सुरक्षाका वैज्ञानिक प्रबन्ध अपेक्षित है।

ताड़पत्रीय चित्रकला

अब दूसरा विभाग अल्लाउद्दीन खिल्जीके आक्रमणके बाद आरम्भ होता है। प्रथम विभागकी अपेक्षा इस श्रेणीके ताड़पत्रीय चित्र (वि० सं० १३५७-१५००) अत्यन्त सुन्दर उपलब्ध हुए हैं। रंगों और रेखाओंका विकास उन दिनों उन्नत पथपर था, जैसा कि तात्कालिक चित्रोंकी सजीवतासे जान पड़ता है। सिद्धहैमव्याकरण (वि० सं० १४२७) के कल्पसूत्र और कालक-कथाकी अनेक प्रतियाँ भी प्राप्त हैं। उपर्युक्त विभागोंकी चित्रित प्रतियोंका यहाँ केवल उल्लेख ही करना उचित है। इनमेंसे कुछ चित्रोंका प्रकाशन श्रीजैन-चित्र-कल्पद्रुममें हुआ है।

वस्त्रोंपर चित्र

भारतवर्षके विभिन्न भागोंमें और तिब्बतमें कपड़ोंपर भी अपने-अपने मनोभावोंके अनुकूल चित्र और लेखन-कार्य होते थे। वस्त्रोंके उभय भागोंके छिद्रोंको बन्द करनेके लिए गेहूँ या चावलका विशेष रूपसे माँड़ तैयार करके लेप कर दिया जाता था। सूखनेके अनन्तर मोहरेसे

वस्त्रोंकी खूब घुटाई होती थी। प्राचीन जैन-ज्ञान-भण्डारोंमें वस्त्रोंपर चित्रित और लिखित बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो चुकी है; परन्तु उनपर कलात्मक अध्ययन उचित रीतिसे अद्यावधि नहीं हो पाया है। विक्रम संवत् १४०८की एक प्राचीन वस्त्र-चित्रकृति मिली है, जिसपर माता सरस्वतीका भव्य चित्र अंकित है। एक पंचतीर्थी पट भी मिला है, जो इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। मि० एन० सी० मेहताने इसका परिचय इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स (१९३२) में दिया है; पर वह अनेक ऐतिहासिक भूलोंसे भरा पड़ा है। उदाहरणके लिए वनराजके परिपालनमें पूर्णरूपसे सहायक श्रीशीलगुणसूरिको उनका गृह-मन्त्री बताया गया है।

वि० सं० १९३९ में बम्बईमें आचार्य श्रीपूज्यजी श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने एक विज्ञप्तिपत्र मुझे दिखाया था, जो २२ हाथ लम्बा और १॥ हाथ चौड़ा रहा होगा। उसपर चित्र तो नहीं है; पर दोनों तरफ़के बोर्डर बहुत अच्छे रंगोंसे सुसज्जित है। उसका लेखनकाल वि० सं० १४३१ है। वह पट सिंघी-सिरीजमें छप भी चुका है। इस प्रकारके विज्ञप्तिपत्र-विषयक पट प्रायः वस्त्रोंपर ही पाये जाते हैं, जिनका भौगोलिक दृष्टिसे बहुत बड़ा महत्त्व है। ऐसे पटोंका एक संग्रह भी एण्श्येण्ट विज्ञप्तिपत्राज[1] (डॉ०

---

१ विज्ञप्तिपत्रोंकी जैनाश्रित चित्रकला भारतीय कलामें अपना स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण स्थान रखती है। कहना न होगा कि यह जैनोंकी बहुत बड़ी मौलिकता है। वे भारतीय इतिहास, रेवेन्यु-विभाग एवं म्यूनिसिपैलिटीके स्थान-निर्णयमें विशेष सहायक प्रमाणित हुए हैं। जैन-धर्मगुरुओंको प्रत्येक गाँवोंका समूह अपने यहाँ पधारनेके लिए विशिष्ट शैलीमें उनके गुणोंकी वर्णना करते हुए विज्ञप्तिपत्र भेजा करता था। उस पत्रमें गाँवके प्रधान चौराहे, बाज़ार, राजा-महाराजाओंके प्रासाद एवं धनी गृहस्थोंके विशाल महल, धर्मस्थानोंके चित्र (जिनमें मस्जिदें भी सम्मिलित हो जाती थीं) प्रसिद्ध वापिकाएँ एवं वहाँकी स्त्री, पुरुष तथा रीति-रिवाज आदिका सुन्दर सजीव चित्रण किया जाता था। बीकानेर और उदयपुरके

हीरानन्द शास्त्रीके सम्पादकत्वमें) नामसे निकला है। वसंतविलास भी एक जैनाश्रित चित्रकलाका उत्कृष्टतम वस्त्र-चित्रात्मक उदाहरण है। संसारमें यह अपने ढंगकी बेजोड़ कृति है। लेखन-काल वि० सं० १५०८ अहमदावाद है। विशेषके लिए 'रूपम्' (अंक २२-२३) देखना चाहिए। विदेशके कला-मर्मज्ञोंकी तीक्ष्ण दृष्टिसे यह पट बच न सका। आर्थिक लोभके पीछे वह आज फ्रेयर गैलेरी आर्ट, वाशिंग्टनकी शोभा बढ़ा रहा है।

इनके अतिरिक्त जैनतान्त्रिक साहित्य वस्त्रपर अधिकतर मिलता है। सूरिमन्त्र, वर्द्धमान विद्या, चौंसठ योगिनी, ह्रींकार, ऋषिमण्डल, नवपदमण्डल, हनुमानपताका, पंचांगुली एवं ज्वालामालिनी देवियोंके वस्त्रोपरि चित्रित पट प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। तान्त्रिक पटोंकी परम्पराका विकास न केवल भारतमें हुआ, बल्कि तन्निकटवर्ती तिब्बत और नेपालमें भी हो रहा था। हाल ही में तिब्बतीय चित्रकलाका एक उत्कृष्टतम उदाहरण—स्पष्ट कहा जाय तो सत्रहवीं शतीकी कलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक वस्त्रपट—मेरे देखनेमें आया है, जो धारिणी और बोधिसत्त्वकी विभिन्न मुद्राओंसे सम्बन्धित है। यों तो पटमें लाल, भूरा, बैंगनी, हरा, श्याम, गेरुआ आदि कई रंगोंका व्यवहार कलाकारने

विज्ञप्तिपत्र उपलब्ध विज्ञप्तिपत्रोंमें सबसे बड़े क्रमशः १०८ और ७२ फुट लम्बे हैं। इन पटोंमें प्रमुख दुकानोंके नाम, मकानोंके नाम एवं राज्यके विभिन्न महकमें बहुत सुन्दर रूपसे वर्णित हैं। उस समयके राजस्थानकी सामाजिक एवं ऐतिहासिक विशाल सामग्री इन पटोंमें है। सैकड़ों विज्ञप्तिपत्र ऐसे भी मिले हैं, जो शिष्यों द्वारा अपने गुरुओंको प्रेषित किये गये हैं। उनसे भारतका भौगोलिक वर्णन एवं चित्र काव्यादिका वैशिष्ट्य प्रस्फुटित होता है। भारतीय चित्र एवं वर्णनकी दृष्टिसे इन पटोंका स्थान महत्त्व-पूर्ण है। मैं आशा करता हूँ कि कला-प्रेमी अपनी उपेक्षित मनोवृत्तिका परित्याग कर इस महान् सामग्रीकी ओर भी ध्यान देगा।

उत्तम ढंगसे किया है, फिर भी नीले रंगकी पट-पृष्ठभूमिमें जो तादृश्य लक्षण भासित होते हैं, सम्भवतः वे अन्यत्र न मिलेंगे। चारों ओर उठे हुए बादल, सरोवरमें खिले कमल, पटका प्राकृतिक सौन्दर्य और भी बढ़ा देते हैं। गौतम बुद्धकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रचलित मुद्राओंमेंसे १८ प्रधान मुद्राओंका सजीव परिचय उसमें अंकित है। ऐसे ही कुछ बौद्ध एवं जैनपट मेरे निजी संग्रहमें एवं स्वर्गीय पूरणचन्दजी नाहर, स्व० बहादुर-सिंहजी सिंघी, अर्द्धेन्दुकुमार गांगुलीके संग्रहालयोंमें तथा प्रोविन्सियल म्यूज़ियम लखनऊ, इण्डियन म्यूज़ियम कलकत्ता आदिमें सुरक्षित हैं। आजतक वस्त्र-चित्र-जैसा विषय कला-समालोचकोंके सम्मुख समुचित रूपसे नहीं आया था।

सोलहवीं शतीके प्रथम चरणमें जैन-साहित्यके महान् संरक्षक श्रीजिनभद्रसूरिजीके समयका एक विशाल चित्रपट—जैन-तन्त्रशास्त्रोंपर प्रकाश डालनेवाला—पालनपुर-निवासी श्रीयुत् नाथालालभाई छगन-लालके पास था, जिसपर अतीव सुन्दर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन किया गया था। वह पट मुग़ल-राजपूत-पूर्व कलाकृतियोंमें सर्वश्रेष्ठ था; परन्तु वर्तमानमें इस पट द्वारा ब्रिटिश म्यूज़ियम सुशोभित हो रहा है। इसी आचार्यके समयका एक और पंचतीर्थी वस्त्रपट बीकानेरके आचार्य गच्छीय ज्ञानभण्डारकी पेटियोंमें बन्द पड़ा है, जिसे क्षणिक मुक्तिका सौभाग्य शायद ही प्राप्त होता हो। सौभाग्यकी बात है कि उपर्युक्त पट ऐतिहासिक प्रशस्तिसे अलंकृत है। इससे ८० वर्ष पूर्वका एक पट बीकानेर-के नाहटा-कला-भवनमें है, जिसपर हिन्दी-गद्य-साहित्यके आदि-ग्रन्थ-निर्माता श्रीतरुणप्रभसूरिका ऐतिहासिक चित्र अंकित है।

सतरहवीं शतीके अन्तिम चरणके कुछ ऐसे वस्त्र मैंने देखे हैं, जिनपर जैन-धर्मके मुख्य सिद्धान्त एवं प्रधान मन्त्र—जैसे **अहिंसा परमो धर्मः**, **णमो अरिहंताणं**—विशेष रंगके सूत्रसे इस ढंगसे बनाये गये हैं, मानो वस्त्र बुनते समय ही विशेष रूपसे ग्रथित सूत्र-तन्तुओंसे बन गये हों।

मध्य-प्रान्तमें काष्ठके पुराने ठप्पे मिले हैं, जिनपर वस्त्रोंपर छपनेवाली लताएँ और चित्र अंकित हैं। आजकल भी इसी प्रकारके ठप्पे बनते हैं। यह कला उन दिनों भारतमें चतुर्दिक् व्याप्त थी, जिसका स्थान वर्तमानमें मिलोंने ग्रहण कर लिया है। इस यन्त्रवादके युगमें भारतकी न-जाने कितनी ही मौलिक कलाएँ विलुप्त हो गई और होती जा रही हैं।

अठारहवीं शताब्दीके शत्रुञ्जय, गिरनार आदि जैन-तीर्थोंके विशाल पट वस्त्रोंपर चित्रित उपलब्ध हुए हैं, एवं पुराने वन्दनवार, चन्दवों और पूठियोंमें तो इतना सुन्दर काम मिलता है, जो भारतीय वस्त्रकलाका प्रतिनिधित्व कर सकता है।

काग़ज़पर जैनाश्रित चित्रकला

(वि० सं० १४६८-१९५०)

भारतके छोटे-मोटे प्रान्तोंमें मुसलमानोंके आक्रमणोंके कारण जानतिक वातावरण अशान्त पथकी ओर अग्रसर हो रहा था। १४-१५ वीं शताब्दीमें प्रजामें जाग्रतिका सूत्रपात हुआ, जिसका प्रभाव जीवनके प्रत्येक अंगपर पड़ा। इस सामाजिक उत्थान और जाग्रतिका यह भी एक कारण हो सकता है कि वह समय अपने उत्तरदायित्व और बाहुबलपर ही जीवित रहनेका था। यदि कोई राज्याश्रयसे आत्म-रक्षाकी आशा करता, तो सम्भवतः परिस्थिति कुछ और ही होती। अल्लाउद्दीन खिल्जीके सरदारोंने हिन्दू-संस्कृति और कला-सम्बन्धी अनेक साधनोंको जान-बूझकर नष्ट कर दिया। सचमुचमें आर्य-सभ्यता उस कालमें बड़े संकटका सामना कर रही थी। ब्राह्मणवर्गने सरस्वतीसे नाता छोड़ दिया था; पर जैन-मुनियोंने शारदामाताको कभी अपूज्य नहीं रहने दिया, बल्कि वे द्विगुणित उत्साहसे उपासना करनेमें व्यस्त रहने लगे, जैसा कि तत्कालीन जैन-साहित्य और कलात्मक सर्जनसे स्पष्ट जाना जाता है। इन दिनों तालपत्रोंका स्थान कश्मीरी काग़ज़ोंने ले रखा था। लेखक काग़ज़को तालपत्रीय साइजमें

काटकर उसपर चित्र वगैरह बनाते थे। प्रारम्भिक कलामें रंग और रेखाएँ तो एक-सी मिलती हैं; पर समयकी गतिके साथ उनमें भी क्रमशः परिवर्त्तन हो गया। पूर्वकालीन चित्र केवल तीर्थंकर भगवान्‌के भवों और उनके पंचकल्याणक या कोई गणधर आदिके मिलते थे; पर अभिलषित कालमें कुछ परिवर्त्तन हुआ। इस युगकी कलाकृतियोंमें कल्पसूत्र और कालक-कथा सर्वप्रथम आते हैं। इनका पारायण प्रत्येक जैनीके लिए वर्षमें एक वार अनिवार्य था और अब भी है। यही कारण है कि बड़े-बड़े मुनि भी अपने हाथोंसे स्वर्ण और रजतमय स्याहीसे कलापूर्ण ढंगसे ग्रन्थ लिखते और कोई-कोई चित्रित भी करते थे। खरतरगच्छीय उत्कृष्ट विद्वान् कमलसंयमोपाध्यायने अपने हाथसे पचासों कलाकृतियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका महत्त्व अनेक दृष्टियोंसे है। उन्हें कलासे विशेष अभिरुचि थी।

कल्पसूत्रकी एक प्रति, जो अहमदावादमें सुरक्षित है, इतने महत्त्वकी प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आँका जा चुका है। भारतीय नाट्य, संगीत और चित्रकला, तीनों दृष्टियोंसे इनका स्थान अपूर्व है। इन चित्रोंमें राग, रागिनी, मूर्छना, तान आदि संगीतशास्त्रके अनुसार हैं, और आकाशचारी, पादचारी, भौमचारी वगैरह भरतमुनिके नाट्यशास्त्रमें वर्णित नाट्यके विभिन्न रूप बड़े ही भावपूर्ण हैं। प्रत्येककी मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावोंका स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्न कर साधारण मानवको भी अपनी ओर आकृष्ट करती है। यही उक्त प्रतिकी कुछ विशेषताएँ हैं। श्रीयुत् साराभाई नवावकी धारणा है—मुग़ल-काल-पूर्व जैनाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्रित नाट्य और संगीत शास्त्रोंके इतने रूप भारत या विदेशके किसी भी संग्रहालयमें प्राप्त नहीं।

मालूम होता है, चित्रकारोंने ऐसा नियम बना लिया था कि कोई स्थान रिक्त न छोड़ा जाय। यदि लिखनेके वाद कहीं स्थान छूट जाते

थे, तो उन स्थानोंपर विशेष प्रकारके व्यूह या आकृतियाँ गेरुआ रंगसे बना डालते थे। बाल-गोपाल-स्तुति, रति-रहस्य तथा वात्स्यायन-कामसूत्रोंसे सम्पर्क रखनेवाले चित्र भी इसी कालमें निर्मित हुए हैं तथा 'मार्कण्डेय पुराण', 'दुर्गासप्तशती' आदि अनेक वैष्णव सम्प्रदायके ग्रन्थ सचित्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका प्राप्ति-स्थान पश्चिम-भारत ही है। उनकी कलात्मक सूक्ष्मताका अध्ययन करनेसे विदित होता है कि उन चित्रोंकी पृष्ठभूमि, मुख, चक्षु, शरीर-सम्बन्धी अन्य गठन तथा विन्यास, विकास-क्रम आदि जैन-कथा-प्रसंगोंसे समानता रखते हैं। इसीसे बिना किसी अतिशयोक्तिके कहा जा सकता है कि मुग़ल-कलासे पूर्व इस शैलीकी सीमा सारे पश्चिम-भारतमें फैल चुकी थी और असाम्प्रदायिक मनोवृत्तिसे पारस्परिक भावनाओंको अपनानेकी दृढ़ता बढ़ रही थी। इन चित्रोंमें उस समयकी लोक-संस्कृतिका अच्छा आभास मिलता है।

कलाकारोंके लिए यह अनुभवका विषय है कि जब किसी भी कलाके प्रधान उपकरणोंमें परिवर्त्तन होते हैं, तब उसकी कला-निर्माण-शैलीमें भी असाधारणता उपस्थित हो जाती है। ताड़पत्रका युग समाप्त हो गया और उसका स्थान जब काग़ज़ने लिया, तब चित्रोंपर भी बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा। कारण, कलाके उपासकको अपनी सूक्ष्मतम कल्पनाको मूर्त्त स्वरूप देनेमें ताड़पत्रकी अपेक्षा काग़ज़पर स्थान अधिक चौड़ा मिल जाता है। प्रतीत होता है कि तालपत्रीय युगके कलाकार अपनी प्रतिभासे सीमित स्थान और रेखाओंमें वास्तविक मनोवृत्तिका दिग्दर्शन करा देते थे। बादके कलाकारोंको स्थान तो बहुत मिल गया; पर उनमें उस प्रतिभा, भावना और सरस हृदयका अभाव था। यद्यपि कलाके लिए सुविधाएँ अधिक सुलभ हो गईं; किन्तु वह उत्थानकी ओर न बढ़ सकी। इस कालमें चित्रोंकी संख्या अवश्य ही बढ़ी और चित्रशास्त्रके प्रत्येक अंग-उपांगपर विचार भी होने लगा। यही इस कालकी सबसे बड़ी विशेषता थी। जो बही-खाते रद्दी काग़ज़ हो जाते थे, उनको कूटकर गत्ता

बनानेके बाद उसपर कुछ सुन्दर काग़ज़ चिपकाकर प्रतिमा-चित्रांकन-प्रणालीका भी उन दिनों चलन था, जिसका वास्तविक विकास राजपूत-कालमें हुआ। यद्यपि जैनों द्वारा चित्रित प्रतिमा-चित्र कम ही मिले हैं; परन्तु वे हैं बड़े महत्त्वके। कारण, जैनोंने कलामें कभी अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नहीं आने दी। अतः ऐतिहासिक, रागिनी और प्राकृतिक चित्रोंकी सृष्टि भी हुई है, जिनको विद्वानोंने अजैनोंकी वस्तु समझा है। जैन-प्रतिमा-चित्रवाला अध्याय सर्वथा उपेक्षित रहा है। इसपर लिखनेकी पर्याप्त सामग्री है।

चित्रकलाके विकसित सौन्दर्यमें आकर्षण उत्पन्न करनेमें रंगका भी प्रमुख हाथ है। बिना समुचित रंगोंके चित्र अपना वास्तविक आवरण नहीं पा सकता। रंग-निर्माण-कलामें भारतीयोंने अपने मौलिक आविष्कार किये हैं। यहाँके कलाकारोंने भिन्न-भिन्न समयमें विविध अङ्गोंपर प्रयोजनीय रङ्गों और पृष्ठभूमिमें सामयिक परिवर्त्तन किये हैं। ताड़पत्रीय चित्रोंपर पीत रङ्गका उपयोग अधिक होता था। आगे चलकर वह स्वर्णके रूपमें परिणत हो गया। पृष्ठभूमि पीत और लाल रङ्गोंको बनायी जाती थी और कथा-प्रसंगमें आनेवाले जैन-मुनियोंके वस्त्रोंमें पार्थक्य प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे धब्बे दिये जाते थे। बादली रङ्गका प्रयोग तो उनमें स्वाभाविक-सा हो गया था; पर अब तो इस रङ्गका चलना इतना बढ़ गया कि पृष्ठ-भूमिमें वही आने लगा। गुलाबी और हरे रंग भी प्रयुक्त हुए। जैन-साहित्यालेखन विषयक कुछ उल्लेख कुमारपालप्रबन्ध उपदेश-तरङ्गिणी और श्राद्ध-विधिमें मिलते हैं। ग्रन्थ-लेखन-पुस्तिकाओंसे भी इसपर प्रकाश पड़ता है।

अब प्रश्न रह जाता है केवल रेखाओंका, क्योंकि चित्रकी वास्तविक आत्मा रेखाएँ ही हैं। रेखा-नैपुण्य चित्रकारका बहुत बड़ा साधन है। मूक रेखाएँ भाषासे अधिक भावोंका व्यक्तीकरण करती हैं। कौन व्यक्ति किस समय किस विचारधारामें बह रहा है और उसके हृदयमें कौन-कौन

भाव छिपे पड़े हैं, उनपर शब्द नहीं, रेखाएँ ही प्रकाश डाल सकती हैं। इस कालकी रेखाओंका जहाँ तक अध्ययन किया गया है, उसके आधारपर कहा जा सकता है कि उनका वास्तविक विकास सभी चित्रोंमें नहीं हो पाया है। उनका प्रदेश सीमित है। अकबरके कालमें महाभारतके फ़ारसी-अनुवाद रज्मनामाके अतीव सुन्दर चित्र दो-तीन चित्रकारोंके हाथोंसे बने हुए हैं। एकने रेखा खींची है।

१५वीं शताब्दी जैन-साहित्यके इतिहासमें बहुत महत्त्व रखती है। जैनधर्मानुयायी गृहस्थोंने लाखों रुपयोंका सद्व्यय कर कलाकी उपासना खुले हृदयसे की। मुनियोंने अपने हाथोंसे हज़ारों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करके विशाल ज्ञान-भण्डारोंकी संस्थापना की, जिसमें खरतगच्छाचार्य श्रीजिनभद्रसूरि प्रमुख हैं। वि० सं० १४५१ में संग्राम सोनीने स्वर्ण और रजत स्याहीसे सैकड़ों प्रतियाँ लिखवाकर विद्वान् जैन-मुनियोंको भेंट कीं। इस युगमें काग़ज़की जो प्रतियाँ लिखी जाती थीं, उनके चारों ओर स्थान छोड़ दिये जाते थे। रिक्त स्थानोंपर कहीं तो प्राकृतिक दृश्य और कहीं जंगलके जानवर इधर-उधर फिरते दिखलाये जाते थे। कहीं-कहीं सुन्दर बेल-बूटोंकी पंक्तियाँ भी बनी हुई हैं। भारतीय चित्रकलाकी दृष्टिसे बेल-बूटोंकी बाहुल्यता जैनों द्वारा चित्रित साधनोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलती। इनपर अभी तक कलाविदोंका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ, आश्चर्य है! इस मार्जिन आर्टको समुचित सर्वप्रथम भारतके सम्मुख उपस्थित करनेका यश जैन-चित्रोंके विशेषज्ञ श्रीयुत् नवाबको मिलना चाहिए। इतःपूर्व एतद्विषयकी कोई कल्पना भी नहीं कर सका था। कलाकार-कल्पना अजण्टाके बेल-बूटोंमें पायी जाती है। उनका पूर्ण रूपसे अनुकरण जैनोंने अपनी चित्रकलामें किया। बादमें उनमें आवश्यक परिवर्त्तन भी हुए। सोलहवीं शताब्दीमें राजपूत और मुग़ल कलाओंका सहारा पाकर इस ढङ्गमें काफ़ी उन्नति हुई। स्पष्ट रूपसे यों कहना चाहिए कि मुग़ल-कलामें जहाँ बेल-बूटोंका उच्चतम विकास हुआ है, उसके

बीज जैन-चित्रकलाके उपकरणोंमें विद्यमान हैं। यद्यपि ईरानी कलामें भी पाये जाते हैं; पर उनकी संख्या अत्यल्प है। मुसलमान लेखकोंके अच्छे-से-अच्छे दो दर्जन ग्रन्थ मैंने देखे हैं। उनसे मेरी निश्चित धारणा हो गयी है कि वे लोग भी लेखन-कलामें जैनोंसे आगे रहे थे। मानव-चित्र उनकी दृष्टिमें अपराध था, अतः प्राकृतिक चित्रोंको सजीवता प्रदान करनेमें मुसलमानोंने कमाल किया है। प्रत्येक ग्रन्थके आदि और अन्त भागोंके पत्रोंपर सुन्दर विस्तृत चित्र शोभाके लिए बनवानेकी प्रथा थी। जैन-मुनिगण भी इस कला-कुशलतासे पुस्तक लिखते थे कि लेखन-कार्य समाप्त होनेके बाद बिना किसी रंग-रेखाके चित्र स्वयं दीखने लगते थे। कहनेका तात्पर्य यह कि वे बीच-बीचमें इस ढंगसे स्थान छोड़ देते थे कि छत्र, कमल, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त्त आदि अपने-आप बन जाते थे।

चित्रकी सारी शोभा उसके चक्षुओंपर निर्भर करती है। जैनाश्रित चित्रकलामें चक्षु प्रायः उठे हुए होते हैं। प्राचीन ताड़पत्रीय चेहरोंको एक ओर दो तृतीयांश अधिक चित्रित किया गया है। कागज़के चित्रमें चक्षु सम्पूर्ण हैं। इसके बारेमें श्रीअजितघोषका कहना है कि इस प्रकारकी चक्षु-निर्माण-शैली कलाकारोंकी रुचिपर अवलम्बित थी। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जैन-प्रतिमाओंमें चक्षु खचित रहते थे और बादमें उनमें स्फटिक रत्नके तीक्ष्ण चक्षु लगानेकी प्रथा चली थी। अतः चित्रोंमें उठे हुए चक्षु कलाकारकी रुचिका विषय न होकर जैन-शिल्प-स्थापत्यका अनुसरण है, स्मरण रखना चाहिए कि इस युगके सभी चित्रोंमें चाक्षु-सादृश्य प्रतीत होता है। यदि चित्रोंमें तिलक न हों, तो पता तक न चले कि किस सम्प्रदायसे कौन-सा ग्रन्थ सम्बन्धित है।

राजपूत-मुग़ल-पूर्वकालीन चित्रकलाका जहाँ नाम आता है, वहाँ हमारे यहाँके चित्र-विशेषज्ञ मौन धारण कर लेते हैं। उनका मन्तव्य रहा है कि इतःपूर्वकालीन चित्रकलाके उदाहरण मिलते ही नहीं। पर यह उनका भारी अज्ञान है। ऊपर जिन ताड़पत्रीय और काग़ज़के ग्रन्थगत

चित्रोंकी विवेचना की गयी है, वे सभी मुग़ल और राजपूत कलाकी सीमाके पूर्वके हैं। सैकड़ों चित्र स्वतन्त्र भी मिलते हैं। मुझे विना किसी संकोचके साथ कहना चाहिए कि इतःपूर्व संवत् आदिसे कालसूचक चित्र-सामग्री जैनोंको छोड़कर आज तक कहींपर नहीं मिली। जैन-ज्ञान-भण्डारोंमें रखी साधन-सामग्रीका अभी तक पता भी नहीं लगा है और जिनका पता लगा भी है, उनका समुचित अध्ययन ही नहीं हो पाया है।

मुग़ल-कला

१५वीं शताब्दीका भारतीय वातावरण अत्यन्त विक्षुब्ध था। राजनीतिक परिस्थिति महान् परिवर्त्तनोंकी ओर अग्रसर हो रही थी। बड़े-बड़े शासक अपने-आपको सँभालनेमें अशक्त थे। मुग़लोंका बोलबाला था। पुनर्जाग्रतिके लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। मानव-जीवनमें स्फूर्त्ति और नूतन रक्तका संचार हो रहा था। कहना होगा कि मुग़ल ललित-कला और साहित्यसे विशेष रुचि रखते थे। ऐसी स्थितिमें मुग़ल-कलाका उदय हुआ और जैनाश्रित चित्रकला अपना विशिष्ट स्थान गँवा बैठी। यद्यपि इस युगके कुछ नमूने मिलते अवश्य हैं; पर वे कम हैं। मुग़ल-चित्र-कलामें ईरानी संस्कारोंका प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक था।

मानवकी प्रतिकृति निर्माण करना इस्लामके विरुद्ध था, तथापि कलाकी जड़ इतनी गहरी थी कि शत विरोधी प्रयत्नोंके बावजूद भी वह ऊपर चढ़ गयी, क्योंकि वह जनताकी रुचिसे सम्बद्ध थी। कलाकारोंने उसे विभिन्न दिशामें बहाया और मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदिके सुन्दर चित्र बनाये। अकबरने इस कलाके परिपोषणार्थ अटूट द्रव्य व्यय किया। उसका हृदय कला-तत्त्वोंका अमृत पानकर उनकी वास्तविकताको हृदयंगम कर चुका था। कलाकारका मूल्यांकन साधारण प्रतिभाका काम नहीं है। वह उच्च कला-कोविदोंको आर्थिक सहायता द्वारा सम्मानित करता था। मैंने मुग़ल-कलाके मूल और छपे हुए अनेक चित्र—एल्बम—देखे हैं।

उनके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि इस कलाको विकसित रूप देनेमें जहाँगीरका प्रश्रय प्रमुख था। उच्चकोटिके कलाकारोंके लिए उसके हृदयमें ऊँचा स्थान था। अकबर तो चित्रकलाको ईश्वर-सान्निध्य-प्राप्तिमें प्रधान साधन मानता था। यह युग भोग-विलासका था। उच्च-कोटिके चित्रोंके नमूने यदि जहाँगीरको मिलते, तो उनका अधिक-से-अधिक मूल्य देकर वह उन्हें अपने संग्रहमें रख लेता। मेरे संग्रहमें ईरानी चित्रों-वाली एक फ़ारसी-प्रति है, जिसपर जहाँगीरकी विशाल राजमुद्रा अंकित है। यह पुस्तक जहाँगीरके कुतुबखानेकी है, ऐसा उल्लेख है। इसमें महाकवि जामीका चित्र भव्य और भावपूर्ण है। इनकी रेखाओंपर मैं स्वयं मुग्ध हूँ।

जहाँगीरके दरबारी चित्रकारोंमें सालिवाहन भी एक थे, जो जैन-धर्मके प्रसंगोंपर प्रकाश डालनेवाली दो सुन्दरतम कृतियाँ निर्मितकर अमर हो गये हैं। उनकी अन्य कृतियाँ अद्यावधि प्राप्त नहीं हैं। आगरेका विज्ञप्तिपत्र (सं० १६६७ कार्तिक सु० २) उनकी अच्छी कृति है, जिससे तत्कालीन लोक-संस्कृतिपर समुचित प्रकाश पड़ता है। मुख्य चित्रोंपर स्याहीसे विषय-सूचन किया गया है। सौभाग्यकी बात है कि उसमें यह उल्लेख मिला है—उस्ताद सालिवाहन बादशाही चित्रकारने जैसे भाव अपनी आँखोंसे देखे, वैसे ही उन सूक्ष्म ऊर्मियोंको अपनी मस्तिष्क-हृदययुक्त कल्पनाके सहारे तूलिकासे चित्रित किये।

उपर्युक्त कलाकारकी एक और कृति 'धन्नाशालिभद्र चौपाई' है, जिसका आलेखन वि० सं० १६८१ में किया गया। वर्त्तमानमें वह स्व० बहादुरसिंहजीके संग्रहमें विद्यमान है। इनके अतिरिक्त मुग़ल-कालकी और दो कृतियाँ—संग्रहणीके कुछ चित्र एवं अज्ञात कलाकार द्वारा अंकित 'आकाश-पुरुष' चित्र—उपलब्ध हुई हैं। मध्य-प्रान्त और बरारके हिंगण-घाट और नागपुरके ज्ञान-भण्डारोंमें भी १२ से अधिक / चित्रित प्रतियाँ मिलती हैं। उनमें लेखन-संवत् भी दिये गये हैं। मैंने उनके विषयमें

कुछ नोट्स लिये थे, जिन्हें एक प्रतिष्ठित विद्वान्ने ग़ायब कर दिया, अतः मैं उनपर अधिक क्या लिख सकता हूँ। जैनाश्रित कलाओंके कई ऐसे नमूने भी मिलते हैं, जो हैं तो सचित्र; पर लेखन-काल-सूचक संवतादि न होनेसे कला द्वारा ही उनका समय निश्चित किया जा सकता है। मुग़ल-कलापर डा० आनन्दकुमारस्वामी, मि० मेहता, ओ० सी० गांगुली-जैसे कलाकार विद्वान् पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, अतः उसपर अधिक लिखना पिष्टपेषण करना है।

जिस प्रकार शिल्प व चित्रकलामें तात्कालिक समाजका प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक उसी प्रकार साहित्यमें भी। इन तीनोंके समुचित अध्ययन-अन्वेषणपर ही हमारी संस्कृति निखरती है। जिस कलाकी चित्रकलाका मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ, वह काल मुग़लकलाका स्वर्णयुग था। उस समयके चित्र तो उपलब्ध होते ही हैं, पर तत्कालीन अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न विद्वद्रत्न मुनि श्रीसमयसुन्दर उपाध्यायजीने "मृगावती चौपाई" (रचना काल सं० १६६८, मुलतान) में, उस समयके चित्रकारका उल्लेख करते हुए, तात्कालिक प्रसिद्ध चित्रोंके विषयोंका मार्मिक वर्णन किया[1] है, इससे लोकरुचिका आभास मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह वर्णन उपयोगी है। ऐसा सजीव प्रतिबिम्ब अन्यत्र कम मिलता है।

चित्रकारने जो चित्र अंकित किये हैं—उनमेंसे कुछेकका विषय यह है—रक्तमुख और चुची आँखवाले, मस्तकपर बड़ी-बड़ी पगड़ीवाले तीरंदाज़ मुग़ल, क़ाबुली, कृष्णवर्ण हब्सी, पाण्डुवर्ण पठान, क़ुरान पढ़ते हुए वयोवृद्ध मुल्ले-क़ाज़ीके अतिरिक्त बड़े-बड़े टोप मस्तकपर और पैरोंमें चोरोंके समान सूँथने (पटलून) पहननेवाले, छेड़ते ही कुपित हो जानेवाले (अंग्रेज़) फ़िरंगीगण तकको कविने छोड़ा नहीं है। यद्यपि अंग्रेज़-पोर्टुगिज़ों-

---

१. आनन्द-काव्य-महोदधि, प्रस्ता० पृ० ७६।

का आगमन जहाँगीरके समयमें हुआ था[1]। उपर्युक्त पंक्तियोंको मैंने इस-लिए उद्धृत किया कि लोकसाहित्य भी हमारे अध्ययनकी दिशा कितनी व कहाँ तक स्पष्ट करता है।

कला ऐसी वस्तु नहीं, जो एक ही वर्ग-विशेषकी मानसिक रुचिको परितृप्त करे। यह तो वह सरोवर है, जहाँ किसी भी श्रेणीका मानव रुच्यनुकूल तृषा शान्तकर आनन्द-विभोर हो सकता है। एक वस्तुमें दृष्टि-भेदसे अनेक तत्त्वोंके दर्शन हो सकते हैं। विभिन्न दृष्टिविन्दुओंको उप-स्थित करनेमें कला ही सबसे अधिक सफल साधन है। मुगलोंकी कलामें उनका वैभव भरा पड़ा है। फिर भी जैनोंपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उनकी कलाका वास्तविक उद्देश्य आत्म-तत्त्वकी पहचानमें सहायक होना था।

इस कालके कुछ ऐसे भी चित्र मिलते हैं, जिनका महत्त्व वाहनोंकी दृष्टिसे विशेष है—जैसे श्रीपालरासके चित्र। यद्यपि ये चित्र लिखे तो गये थे केवल कथाप्रसंगोंको लेकर ही; पर विशिष्ट दृष्टिकोणसे इस ओर दृष्टिपात करें, तो विदित होगा कि उन दिनों सामुद्रिक यात्रा-विषयक साधन—जहाज़ कैसे थे, उनका ढाँचा कैसा था, रस्सी वगैरह किस प्रकार बाँधी जाती थी और उन दिनों विभिन्न उपकरणोंको किन-किन नामोंसे पुकारते थे—आदि अनेक आवश्यक विषयोंका परिज्ञान सूचित चित्रोंसे होता है। ये चित्र भी जहाज़के ही हैं। वैज्ञानिक और कलाकार यदि इन विषयों-पर अन्वेषण करें, तो सम्भवतः कुछ नयी जानकारी प्राप्त हो सकती है। जैन-साहित्यमें ऐसे पद्यात्मक गीत भी जैन-मुनियों द्वारा रचे गये हैं जिनमें उन दिनों समुद्रकी यात्रा करनेवाले सभी प्रकारके जहाज़ और तदंगीभूत समग्र उपांगोंका सविस्तृत वर्णन है। मुग़ल-कलाके बाद जैनाश्रित कलाके कुछ उदाहरण मिले हैं; पर वे उतने महत्त्वके नहीं हैं। १८वीं शताब्दीमें

---

१. स्व० मोहनलाल द० देसाई—"कविवर समयसुन्दर" पृ० ७३।

जो जगत्सेठकी स्वाध्यायपुस्तिका मिली है, वह चित्रविधानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मुग़ल क़लमसे खूब प्रभावित है। मुझे इसके बेल-बूटे और रंगवैविध्यने बहुत प्रभावित किया। प्रथम पृष्ठ खोलते ही तबियत फड़क उठती है। गंगाका प्रवाह मन्दगतिसे वह रहा है और लक्ष्मी उसमेंसे निकल रही है। निम्न भागमें लघुलक्ष्मीस्तोत्र लिखा है, जिसका जगत्सेठ प्रतिदिन पाठ किया करते थे। इसमें समवशरणका भी सुन्दर चित्र है। इसकी लिपि जैनमोड़की है, पर चित्रकार मुग़ल जान पड़ता है। 'क़ुरान' और 'हदीस'में जैसे बेलोंमें कुछ पंक्तियाँ लिखी रहती हैं ठीक वही स्थिति यहाँ है।

श्रीमद्देवचन्दजी कृत 'स्नात्रपूजा'की सचित्र प्रतिकी एक प्रति मेरे अवलोकनमें आई थी, जो है तो १९वीं शतीकी पर सौन्दर्यमें कम नहीं[1]। इसी आकारके कई चित्र बनारस, कलकत्ता[2] और जैनउपाश्रयोंमें पाये जाते हैं। इनपर हमारा ध्यान बहुत कम गया है।

प्रतिमा-चित्र

अपभ्रंशशैलीमें ग्रन्थस्थ चित्रकला विकसित हुई, और राजपूत व मुग़ल क़लममें ग्रन्थस्थ चित्रोंके साथ प्रतिमा चित्र भी खूब बने। जैनोंका योग सापेक्षतः अधिक रहा है। इस प्रकारका, अध्ययनकी सुविधाओंके खयालसे तीन भागोंमें विभक्त करना समुचित प्रतीत होता है। प्रथम भाग-में वे चित्र आते हैं, जिनका सम्बन्ध तीर्थंकरोंके जीवनकी विशिष्ट घटनाओंसे है। ऐसे चित्र जैनमन्दिरोंमें व श्रीमन्त गृहस्थोंके घरोंमें अंकित रहते हैं। प्रतिदिन दर्शनार्थ चतुर्विंशतियाँ भी पर्याप्त मिलती हैं। इनकी संख्या

---

१. मुनि कान्तिसागर—श्रीमद्देवचन्द और उनकी "स्नात्रपूजा" श्रीजैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अं० १०, पृ० ४६३-६७।

२. मुनि कान्तिसागर—"कलकत्ता जैनमन्दिरोंमें चित्रकलाकी सामग्री।"

हज़ारोंपरे जाती हैं। एक दर्जनसे अधिक तो लेखकके ही संग्रहमें हैं। दूसरे भागमें आचार्य व मुनिगणके चित्र आते हैं। इनमें कभी उनके कार्योंपर प्रकाश डालनेवाला ऐतिहासिक प्रसंग मिल जाता है। वैसे आचार्योंके स्वतन्त्र चित्र, व्याख्यान सभा आदि प्रसंगोंको लिये रहते हैं। ऐसे चित्रोंमें श्रीजिनदत्तसूरिजीके चित्र अधिक मिलते हैं। तीसरी कोटि है, ऋतु-चित्रोंकी। नेमि और राजुल, स्थूलभद्र और कोशाके प्रसंगोंको लेकर जैन-कवियोंने 'वारहमासा' साहित्यकी सुन्दर सृष्टि की है। इसमें वारहों मासोंका मार्मिक वर्णनके वाद अन्तमें शान्तरसका परिपाक होता है। लौकिकस्थितिके वास्तविक और हृदयस्पर्शी वर्णनके वाद कवि अलौकिक जगत्की ओर वढ़ जाता है। यह साहित्य यों तो अधिकतर प्रान्तीय भाषाओंमें पाया जाता है, पर कुछ तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-भाषाओंमें भी मिले हैं। रागमालाओंपर भी जैन-कविकी सफल लेखिनी चल पड़ी। अतः रागमाला व ऋतुचित्रोंका सृजन भी खूब हुआ। ऐसी कृतियोंपर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं पड़ सका है।

भौगोलिक व संयोजना चित्र

जैनोंका भौगोलिक साहित्य भी विशाल है। प्रत्यक्ष जगत्में विश्वास करनेवालोंके लिए जैनभूगोल एक समस्या है। इस अतिगम्भीर व क्लिष्ट विषयपर जैनाचार्योंने अपने विचार तो व्यक्त किये ही हैं, साथ ही इसे

---

१. जैनसमाजमें भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्रोंका व्यापक प्रचार है। इनके प्रत्येक श्लोकके गम्भीर भावोंको स्पष्ट करनेवाले प्रतिमा चित्रोंके एल्वम प्राप्त हैं। वावू पूर्णचन्द नाहर व "रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ वंगाल" के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहोंमें ऐसे सुन्दर-सुन्दर एल्वम इन पंक्तियोंके लेखकने देखे हैं। आध्यात्मिक शान्ति इस प्रकारके चित्रोंकी विशेषता है।

अधिक स्पष्ट करनेके लिए चित्र-सृष्टि भी की है। त्रैलोक्यदीपिका बृहत्संग्रहणीके कई चित्र उपलब्ध हुए हैं। इनमेंसे जो मुग़ल कालीन हैं, वे तो वहुत ही सुन्दर व मूल्यवान् हैं। इनमेंसे कतिपय चित्र "श्रीजैनचित्र-कल्पद्रुम" में प्रकट हुए हैं।

संयोजना चित्रोंका प्रचार राजस्थानी शैलीके पूर्व हो चुका था। इनमें कहीं तो कई पशुओंकी आकृतियोंसे एक पशु वनाया जाता था। कहीं-कहीं एक जातके प्राणीके शरीर पृथक् रहते थे पर मस्तक एक ही रहता है। इस प्रकारकी शैलीका आभास कामशास्त्रादि पुरातन ग्रन्थोंसे मिलता है, पर मुग़ल कालमें तो यह प्रचार सार्वत्रिक था। तात्कालिक साहित्यिकोंने भी रचनाके प्रकारोंका निर्देश किया है। संयोजन दोनों प्रकारके होते थे, सजातीय और विजातीय। प्राचीन शिल्प पद्धतिमें भी विजातीय संयोजना जनित कुंजरका पता चलता है। स्व० राखालदास वनरजीने अपने ओरिसाके इतिहासमें ऐसे शिल्पका उल्लेख किया

"On the wooden door of temple at Borea, the district of Ranchi, is carved the figure of a mythical animal which is called nabagurjara in Orissa. Its body is composed of the limbs of nine animals: viz. the elephant, bull, snake, peacock etc. In the Oriya Mahabharat of Saral Das (16th century) it is said that Krishna once appeared to Arjuna in that form. The figure of the nabagurjara is not to be found anywhere outside Orissa. It is of such a complex nature that we cannot think of its having been inverted independently by the artist of Borea. It is therefore probable that some artist familiar with recent mythological

है, जो राँची जिलेके "बोरिया"के मन्दिरके द्वारपर उत्कीर्णित है। इन पंक्तियोंका लेखक इस कृतिको देख चुका है।

उपर्युक्त पक्तियोंमे जैनाश्रित चित्रकला और उसके प्रकारोका सामान्य परिचय मिल जाता है। मैने जानबूझकर मुगलकालके बादके, उन भित्तिचित्रोंका उल्लेख नही किया, जो जैन श्रीमन्तोके भवनों व उपाश्रयोंमे अङ्कित है। उनका कालकी दृष्टिसे कुछ महत्त्व तो है ही, पर एतदर्थ स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है। एक उदाहरण दूँगा। जैसलमेरके पटवोंके पाँचों महलोंमे, जो चित्र अङ्कित किये गये हैं, उनका महत्त्व है। मानव-जीवनसे लगाकर मृत्युतककी सभी अवस्थाएँ बतायी गयी है। कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ भी है। दीवालों व छतोंपर ये चित्र चित्रित है।

श्रमण भगवान् महावीर—एल्बम

प्राचीन चित्रोंमे अधिकतर 'कल्पसूत्र' और 'कालककथा'से सम्बद्ध है। यहाँपर मैं एक ऐसे एल्बमका उल्लेख करने जा रहा हूँ, जिसके चित्र है तो नवीन, पर भारतीय चित्रकलाकी दृष्टिसे उनका अपना विशेष महत्त्व है। नवीन होकर भी प्राचीन सांस्कृतिक व उत्प्रेरक भावनाके सम्मिश्रणसे युक्त है। इनके निर्माणमें कलाकारने जो श्रम किया है, जैसा गम्भीर अध्ययन किया है, इसे शब्दोंमें व्यक्त करना मुश्किल है।

बम्बईके कलाकार श्रीगोकुलदास कापड़ियाने भगवान् महावीरके जीवनमेसे, जन्मसे दीक्षा तकके १५ प्रसङ्गोंका सफल चित्रण किया है। मुख्य आधार 'कल्पसूत्र'का लिया है। ये चित्र केवल धार्मिक होनेसे ही

---

figures of Orissa must have carved it upon the wooden door of the Borea temple."

"History of Orissa," Vol. II, (1934) by *R. D. Banerji:* preface. XVII.

सहमत नहीं हुए, जैसा कि अक्सर होता है, पर इसमें अजन्तासे लगाकर आज तककी शैलियोंका सामञ्जस्य है। कलाकारने भगवान् महावीरके जन्म और विहार स्थानोंमें स्वयं जाकर वहाँके तात्कालिक उपलब्ध शिल्पात्मक प्रतीकोंका दत्तचित्तसे अध्ययन किया है, बादमें तूलिका और रङ्गों द्वारा महावीरके अलौकिक व्यक्तित्वका आभास कराया है। प्रेक्षकके सम्मुख यदि मूल चित्र रख दिये जायें और चित्रकाल न बताया जाय तो, एक बार तो अन्तरकी ध्वनि उठेगी ही कि ये चित्र बहुत प्राचीन हैं। शरीररचना, वेशभूषा, गृह-स्थापत्य और मुकुट पुरातन परम्पराके द्योतक हैं। मुखाकृतियाँ अजन्ताका सुस्मरण कराती हैं। इन सब बातोंके बाद एक बातका स्मरण दिला दूँ कि चित्रकार स्वयं जन्मसे अजैन है। पर वीर प्रभूके देशमें जब (रामगढ़ कांग्रेसमें) गये, वहाँका सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा, तब भगवान् महावीरकी ओर आकृष्ट हुए और बिना किसी स्वार्थके, स्वाभाविक प्रेरणासे—स्वान्तःसुखाय—इसका निर्माण किया।

जैन-चित्रोंका प्रदर्शन व प्रकाशन

पिछली शताब्दीमें भारतके सभी प्रान्तोंमें ऐसी संकीर्णता छायी हुई थी कि एक सम्प्रदायका व्यक्ति दूसरे सम्प्रदायके अनुयायीको अपने ग्रन्थ-भण्डार नहीं बताते थे। इससे अभारतीय विद्वानोंको भारतीय विद्याके अन्वेषणमें बड़ी बाधाएँ आती थीं। विलियम जॉन्सको संस्कृत पढ़नेमें कितनी कठिनाई उठानी पड़ी। डा० बूलर और डा० जेकॉबी जैसोंको भी प्रारम्भ कालमें बड़े-बड़े कष्टोंका सामना करना पड़ा था। ऐसी स्थितिमें पुरातन चित्रोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ था। अन्वेषकोंको उचित सामग्री न मिलनेके कारण ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैल गयी थीं, जिनको दुरुस्त करनेमें बहुत समय लगा। स्वर्गीय विद्वान् डा० काशीप्रसादजी जायसवालने लिखा है कि—"लम्बी नाक और विकट कटाव गढ़नेवाले रूपदर्शी

चित्र कुछ जैनग्रन्थोंमें मिले हैं, पर वे कबीर साहबके युगके पहलेके नहीं[1]।"

आज यदि स्व० जायसवालजी रहते तो अपना मत स्वयं बदल देते। अस्तु।

धीरे-धीरे संकीर्णता दूर होती गयी और लोगोंने इन धार्मिक चित्रोंका महत्त्व समझा। इसीके फलस्वरूप सं० १९८७ में, 'देशविरति आराधक समाज'के कार्यकर्ताओंने अहमदाबादमें जैनलिखित कलाओंकी एक विशाल प्रदर्शनीका आयोजन किया था। उसमें जैनग्रन्थ-चित्र, वस्त्र-चित्रके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हजारों प्रतीक रखे गये थे, मानों सैकड़ों वर्षोंके क़ैदियों-को अवकाश मिला हो! यों तो यह प्रदर्शन धार्मिक भावनासे प्रेरित था, पर कलाप्रेमियों तथा रंग और रेखाओंकी गूढ़ भाषाको समझनेवाले सहृदयों-के लिए तो उत्तम कलातीर्थ ही बन गया था। उनको इससे बल मिला, प्रेरणा मिली, और अनिर्वचनीय आनन्द-लाभ हुआ। क्या ही अच्छा हो, यदि प्रतिवर्ष ऐसे जंगम तीर्थोंकी रचना हुआ करे, जहाँ तद्विषयक यात्री अपना मानसिक बोझ हल्का कर, नूतन भावनाओंसे अनुप्राणित होकर नवसर्जन करनेको सक्षम हो। इस प्रदर्शनीपर मुग्ध होकर सुप्रसिद्ध कलासमीक्षक श्रीरसिकलाल भाई परीखने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"सचमुच यह दर्शन बड़ा मोहक था। सर्वोत्कृष्ट आकर्षण तो यह था कि अक्षर-अक्षरपर कलादेवीका वास था। दूसरे अर्थमें मानो कला अक्षर मालूम पड़ती थी। लिपि इतनी ताजी थी मानो कल ही किसीने लिखी हो[2]।

मेरा निजी विश्वास है कि इस प्रदर्शनने जैनाश्रित कलाकृतियोंके गवेषणाका क्रान्तिकारी श्रीगणेश किया, और व्यवस्थापकोंको अनुभव

---

१. द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ३१।

२. मोहनलाल देसाई—'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास'।

कराया कि, हमारे पूर्वजों द्वारा प्रदत्त कलात्मक सम्पत्तिको छिपानेकी अपेक्षा, प्रकाशित करनेमें अधिक लाभ व जैन संस्कृतिकी सच्ची सेवा है। इसी प्रदर्शनीका सुफल है कि श्रीसाराभाई मणिलाल नवाव जैसा रूपचित्र और शिल्पका विद्वान्, तैयार हुआ। मुझे लिखते प्रसन्नता हो रही है कि आज जैनाश्रित चित्र व शिल्पकलाके जितने भी अत्युच्च प्रतीक प्रकाशमें आये हैं, उनका पूरा-पूरा यश श्रीनवावको है। इन्होंने अपने तन तोड़ श्रमसे न केवल कोने-कोनेकी खाक छानकर कलाकृतियोंकी गवेषणा ही की, अपितु उनके, उसी रूपमें ब्लाक बनाकर, उनपर स्वयं व एतद्विषयक विद्वद्वर्गके पास समीक्षात्मक विवरण लिख-लिखवाकर, प्रकाशन भी किया, बल्कि नवीन परम्पराका सूत्रपात किया। इनका प्रारम्भिक प्रकाशन श्रीजैनचित्रकल्पद्रुमने विद्वान् मंडलीमें तहलका मचा दिया, उनको उससे ज्ञात हुआ कि जैनोंने कलाकी उपासना भी दिल खोलकर की थी। उसके बाद नवावने अनेक मौलिक प्रकाशन कर शताब्दियोंसे बन्द सामग्रीसे परिचित कराया और भारतीय चित्रकलाके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्यायका सुनहला पृष्ठ सदाके लिए खोल दिया।

जैनाश्रित कलाके कतिपय मौलिक प्रकाशन इस प्रकार हैं—

सं०	ग्रन्थनाम	प्रकाशक
१	जैनचित्रकल्पद्रुम,	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
२	सचित्रकल्पसूत्र,	,, ,, ,, ,,
३	जैनचित्रकल्पलता	,, ,, ,, ,,
४	महाप्रभाविक नवस्मरण,	,, ,, ,, ,,
५	पवित्रकल्पसूत्र (कई भागोंमें)	,, ,, ,, ,,
६	पेंटिंग वर्क ऑफ़ जैनकल्पसूत्र	सं० विलियम नॉर्मन ब्राउन, पेन्सिल्वेनिया, अमेरिका

७	स्टोरी ऑफ़ कालक	,,	,,	,,	,,	,,
८	मि० पें० ओ० उत्तराध्ययनसूत्र,,		,,	,,	,,	
९	मि० पें० ओ० महीपाल कथा ,,		,,	,,	,,	
१०	श्रीकल्पसूत्र बारसा,	आगमोदय समिति, सूरत,				
११	जैसलमेरनी चित्रसमृद्धि सं० मुनि पुण्यविजयजी	साराभाई मणिलाल नवाब				
१२	दि आर्ट ऑफ़ जैसलमेर		,,	,,	,,	
१३	जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्राम वेस्टर्न इण्डिया,		,,	,,	,,	
१४	सूरिमन्त्रकल्पसंग्रह		,,	,,	,,	
१५	कालककथाओ		,,	,,	,,	
१६	एन्शयन्टविज्ञप्तिपत्राज,	गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़ बड़ौदा				

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त "इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री", "इस्टर्न आर्ट" "जर्नल ऑफ़ इंडियनआर्ट" "रूपम्" "इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स", "सोसायटी ऑफ़ दि ओरियण्टल आर्ट"के जर्नल्स तथा श्रीकुमारस्वामी रचित बोस्टन म्यूज़ियम (अमेरिका) के सूचीपत्रोंमें, प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ व जैनमासिकपत्रोंमें, ओरियण्टल कॉन्फरेन्स, एवं प्रान्तीय साहित्य परिषदोंके प्रकाशनोंमें जैनचित्रकलाका समीक्षात्मक अध्ययन व प्रतीक उपलब्ध होते हैं।

जैनाश्रित-चित्रकलाकी जितनी सामग्री प्रकाशमें आयी उससे अधिक तो अभी पश्चिम भारतके ज्ञान-मन्दिरोंमें है। कुछ भाग तो भाँग और गाँजेके उपासक यतियोंने पानीके मोल बेचकर नष्टकर दी। जो अवशिष्ट है, वह भी यदि हम सँभाल सकें तो काफ़ी है।[1] विदेशोंमें भी जैनकलाकृतियाँ

---

१. इस निबन्धके लेखनमें "जैनचित्रकल्पद्रुम" से बहुत सहायता ली-गयी है, तदर्थ श्रीयुत् साराभाईका मैं आभार मानता हूँ।

के संग्रह पाये जाते हैं। उनमें ये संग्रह-स्थान मुख्य हैं—"ब्रिटिश म्यूजियम" "इण्डिया आफ़िस लायब्रेरी", "रायल एशियाटिक सोसायटीकी लायब्रेरी", "बॉडलियन लायब्रेरी", "केम्ब्रिज युनि० लायब्रेरी", "बर्लिनका स्टेट्स बिब्लिओथेक", "बोस्टन म्यूजियम", "फ्रीअरगेलेरी आफ़ आर्ट" (वाशिंग्टन), "मेट्रापॉलिटन म्यूज़ियम" (न्यूयार्क), "डेट्राइटका आर्ट म्यूज़ियम" आदि आदि। विदेशके लक्ष्मीनन्दनोंके व्यक्तिगत संग्रहोंमें भी चित्र मिलते हैं। भारतके जैन-संग्रहालयोंके अतिरिक्त, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, लखनऊ, अजमेर, बनारस, पटना जयपुर, बीकानेर, बड़ौदा और पूना आदिके व्यक्तिगत और सार्वजनिक म्यूज़ियममें भी पर्याप्त चित्र उपलब्ध होते हैं।

२० जुलाई १९५२

बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला

भगवान् बुद्ध यद्यपि दार्शनिक दृष्टिसे कुछ पश्चात् पाद अवश्य ही जान पड़ते हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टिसे उनका उपदेश निस्सन्देह मूल्यवान् है। उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्तको रचना की थी, जिसकी परम्परा युगों तक मानवताकी सेवा करती रही। इसी कारण बौद्धधर्म विस्तृत रूपमें फैला हुआ है। इसका राजनैतिक या धार्मिक कारण चाहे जैसा भी हो, हमें उसका विवेचन अभीष्ट नहीं। हम तो केवल कलाकी दृष्टिसे ही इसपर अति संक्षिप्त रूपमें अपने विचार उपस्थित करेंगे। संसारका यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु यदि सौन्दर्य सम्पन्न न हो तो मानव उसे तत्क्षण ग्रहण नहीं करता। अललित लोकसे सम्बन्धित धर्म-जैसी भावनाओंका विकास भी पार्थिव पदार्थोंके द्वारा होने लगा। अर्थात् कलाके द्वारा जनता-की धार्मिक भावना स्थिर होने लगी। यद्यपि बौद्ध-कलाका पूर्ण इतिहास स्पष्टतः अद्यावधि हमारे सम्मुख नहीं आया। यहाँपर एक बात स्पष्ट कर दें कि सम्प्रदायकी अपेक्षा कलाका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जब कला-का सीधा सम्बन्ध पार्थिव द्रव्योंसे है, तब हम उसे मानव-जगत् और इससे भी संकुचित सम्प्रदाय-जैसे बाड़ेमें कैसे आबद्ध रख सकते हैं? कलाकी व्यापकता स्वतः सिद्ध है, अतः यदि हम जैन-कला, बौद्ध-कला और ब्राह्मण-कला आदि अनेक उपभेदोंमें कलाको बाँटने लगेंगे तो वह एक प्रकारसे कलाके मौलिक तत्त्वोंकी हत्या ही हो जायगी। कलामें भेदके दर्शन कुछ अंग्रेज[1] विद्वानोंने किये थे, पर बादमें उनका निरसन डा० कुमारस्वामी

---

१. हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०६, एण्ड अदर एन्टीक्विटीज ऑफ़ मथुरा, मू० पृ० ६।

आदि विद्वानोंने किया। यहाँपर हम बौद्धोंद्वारा निर्मापित कलाके प्रतीकोंको ही बौद्धकलाके नामसे पुकारेंगे। यह मानी हुई बात है कि एक राष्ट्रके सम्मुख यदि कोई दूसरा राष्ट्र समादृत होता है, तो वह केवल कलाके द्वारा ही। इसलिए कला और कलाकारोंका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है, वे अपनेको एक देशकी परिधिमें सीमित नहीं रख सकते। कलाके द्वारा प्रसारित सिद्धान्त, न केवल जीवनके सौन्दर्यको ही व्यक्त करते हैं, अपितु वे क्रमशः स्थायित्वकी कोटिमें आकर युगों तक मानव-जातिको अपनी ओर खींचे रहते हैं। भौतिक दृष्टिसे तो यह स्वीकार करना ही होगा कि कलाके द्वारा ही मानव-संस्कृति सुदीर्घ कालसे जीवित है।

साहित्यके क्षेत्रमें कलाको लेकर कम विवाद नहीं है। कला किसके लिए होनी चाहिए? क्यों होनी चाहिए? आदि ऐसे ही कुछ और भी प्रश्न हैं। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं, इन प्रश्नोंकी विवेचना एवं मीमांसा उन्हीं लोगोंके लिए विशेषकर लाभदायक सिद्ध हो सकती है, जो केवल काल्पनिक संसारमें विचरण करते हों, या कोरे बुद्धिजीवी हों। परन्तु बुद्धकालीन भारतमें जटिल प्रश्न था उस जनताका जो पीड़ित, शोषित एवं सामन्त वर्गकी दृष्टिसे पतित समझी जाती थी। कलाके माध्यमद्वारा उनको अपनी स्थितिका वास्तविक दर्शन कराना था।

जैन आर्ट इन दि नार्थ, पृ० २४७

स्टडीज़ इन इंडिया दि नार्थ, पृ० २४७

स्टडीज़ इन इण्डियन पैंटिंग, पृ० १-२

इण्डियन पैंटिंग्ज़, पृ० ३८

हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन आर्किटेक्चर, आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

व्यापकता

बुद्धदेवके पश्चानुवर्ती अनुयायियोंने जावा, सुमात्रा, वर्मा, कम्बोडिया और चीन आदि महाखण्डोंमें परिभ्रमणकर कलाके द्वारा बौद्ध संस्कृतिको न केवल जीवित ही किया, अपितु उन प्रस्तरों द्वारा संस्कृतिमें चिर-जीवन प्रदान किया, जो प्राचीन होते हुए भी आज हमें नवीनतम भावनाओंसे अनुप्राणित करती है। प्रस्तरोत्कीर्णित अवशेष यद्यपि बौद्ध संस्कृतिके विभिन्न तत्त्वोंके रहस्यका ही उद्घाटन करते हैं, तथापि उनमें उन राष्ट्रोंके जन-जीवनका प्रतिबिम्ब भी दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि जहाँपर आज बौद्धधर्म जीवित नहीं है, वहाँपर भी उसके अवशेष विपुलतम परिमाणमें उपलब्ध होते हैं।

कलाकार

मानवताका विकास कलाद्वारा ही होता है। अभी तक हम मानते आये हैं कि कला तो उन्हीं लोगोंके जीवन-सूत्रसे सम्बन्धित हो सकती है, जो धनवान् हों, पर प्राचीन साहित्य और कलाके विशृंखलित तत्त्वोंके अनुशीलनसे स्पष्ट हो गया है कि जहाँपर भाव है, वहींपर कलाका निवास है, हाँ कहीं विकसित हो सकी है, कहीं नहीं। एक समय था और अब भी है, एशियाके लोगोंका सामाजिक विकास, रहन-सहन भिन्न होते हुए भी कलाकी दृष्टिसे वे एक ही सूत्रमें युगोंसे बँधे हुए हैं। कला, परिष्कृत मस्तिष्ककी अपेक्षा हृदयको आकर्षित करती है। कला तत्त्वके, वर्ग-भेदके प्रभावसे प्रभावित आलोचकोंने यही बताया कि चित्र, शिल्पादिका निर्माण ही कलाको सजीव बनानेके उपाय हैं, जो लक्ष्मीके बिना असम्भव हैं। पर युग बदल रहा है, प्रत्येक मानव कलात्मक जीवन-यापन कर सकता है और अपनी-अपनी आवश्यकताओंके अनुसार उपकरण भी चुन सकता है। कला व्यक्तिमूलक नहीं, समाजमूलक है। मानव-जातिने जब-जब हृदय और मानस परिपूर्ण विकासकी चोटीपर पहुँचे तब-तब

कलामें अमर कृतियाँ सृजित हुईं, मानव-जीवनका या इतिहासका कोई भी प्रसङ्ग तब ही मूल्यवान् हो सकता है, जब कलाके द्वारा उसका अवतार हो, उपर्युक्त पंक्तियोंका बौद्ध-संस्कृतिमें हम साकार रूप पाते हैं। इन्हींके बलपर बौद्धोंने मानव-जीवनमें भारी उत्क्रान्ति की, परिवर्तन किये और आध्यात्मिक भावोंके सर्जनके साथ भौतिक या समाजसे सम्बन्धित तत्त्वोंकी रक्षा की। हम प्रस्तुत निबन्धमें बौद्ध-धर्मसे सम्बन्धित चित्रोंकी परम्परा-पर अपने विचार व्यक्त करेंगे। हम यहाँ कह दें कि एतद्विषयक हमारा ज्ञान सीमित है।

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बौद्ध चित्रकलाका इतिहास किस कालसे प्रारम्भ किया जाय। प्रश्न कुछ कठिन अवश्य है, पर रोचक भी कम नहीं। इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व हम एक बातपर अपने विचार स्पष्ट कर दें कि कलाका जहाँतक प्रश्न है, चाहे वह चित्र हो या शिल्प उसका निर्माण कलाकार करता है। जिसप्रकार एक काव्यकी रचनाके लिए हमें विश्व-तत्त्वका सर्वांगीण ज्ञान होना आवश्यक है, बल्कि सारे विषयको आत्मसात्, करना पड़ता है। उसी प्रकार कलाकारको जिन भावोंका अङ्कन करना हो, उन्हें वह काफ़ी सोचनेके बाद हृदयंगमकर लेना पड़ता है। हाँ, अभिव्यक्तिके उपकरण भिन्न हो सकते हैं, पर भाव-भिन्नता नहीं। कोई कलाकार अपनी भावधाराका माध्यम प्रस्तरको ही मानकर छैनीसे काम लेता है तो कोई काष्ठ, काग़ज़, तालपत्र, या चर्म आदिपर तूलिकासे रेखाओंके द्वारा अपनी मानसिक चिन्ताओंको अभि-व्यक्त कर आनन्दित हो उठता है। क्योंकि कलाकारकी भाषा और लिपि एक प्रान्त या देशसे सम्बन्धित न होकर, विश्वसे जुड़ी हुई होती है। वह विश्व-लिपिमें ही लिखना पसन्द करता है।

बौद्ध-चित्रोंके सर्वांगपूर्ण कलात्मक प्रतीक ही भारतीय चित्रकलाके श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। परन्तु उनकी कला एवं सार्वभौमिक उपयोगितापर प्रकाश डालनेवाले आलोचनात्मक ग्रन्थ अधिकतर विदेशी भाषाओंमें

ही उपलब्ध हैं। भारतीय भाषाओंमें एतद्विषयक साहित्यका एक प्रकारसे अभाव-सा है। यद्यपि अजन्ता, बाघ आदि कुछ गुफाओंके भित्तिचित्रोंपर प्रकाश डालनेवाले लघुतम ग्रन्थ गुजराती व मराठी भाषाओंमें हैं, एवं कभी-कभी सामयिक पत्रोंमें भी निबन्ध निकला करते हैं। परन्तु कलाकी गम्भीर क्षुधा सीमित साधनोंसे पूर्ण नहीं की जा सकती। साथ ही साथ उनमें किसी प्रधान विषयका विशेष विश्लेषण भी नहीं रहता। अब स्वतन्त्र भारतमें इतनी विशाल सांस्कृतिक सम्पत्तिका समुचित उपयोग एवं मूल्यांकन होना चाहिए। उनकी कलात्मक अभिव्यक्तिको प्रकाशमें लाकर जनसाधारण समझ सकें, ऐसी बोधगम्य भाषामें कृतियोंका प्रकाशन अत्यन्त वांछनीय है। आज भी विदेशी दृष्टिकोणसे लिखित साहित्यको ही हम अपना पथ-प्रदर्शक मानते रहेंगे तो, संभव है अवशिष्ट सामग्रीसे भी हम लाभान्वित न हो सकेंगे।

भित्तिचित्र-परम्परा

बौद्ध-धर्ममूलक चित्रकलाका विकास पाषाणोंपर ही हुआ है। पुरातन कालीन जो भी चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, वे भी इसी कोटिमें आ जाते हैं। आदि मानवोंने अपने जीवनके विशिष्ट प्रसंग या प्रिय अथवा खाद्य पशुओंका चित्रण, तथा कहीं कहीं प्रकृतिगत सौन्दर्यको भद्दी रेखाओंमें लपेटनेके प्रयास किये थे। भले ही उन चित्रोंमें वर्तमान कला-समीक्षकोंकी दृष्टिसे कलाके मौलिक तत्त्व दृष्टिगोचर न होते हों, परन्तु नृतत्त्वशास्त्रके तत्त्वोंको ध्यानमें रखकर यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि अरण्यवासी मानवने बाह्य सौन्दर्य या अलंकरण रहित चित्रोंमें अपने हृदयके भाव रख दिये हैं।

मध्यप्रान्तमें उपर्युक्त कोटिके बहुसंख्यक चित्र चट्टानोंपर प्राप्त हुए हैं जो गिरि-कन्दराओंमें अरक्षित दशामें पड़े हैं। कलाकारोंका उसपर ध्यान न जानेका यही कारण मालूम देता है कि वे चट्टानें, आवागमनके मार्गसे, पर्याप्त

दूर हैं, विक्रमखोल, सिंहनपुर[1], नावागढ़[2], चक्रधरपुर[3], लिखुनिया, [4]भलद-

१. रायगढ़के निकट नहरपाली (B.N.R.) स्टेशनसे उत्तर ५ मील-पर सिंहनपुर-ग्राम अवस्थित है। यहाँ पर्वतोंकी चट्टानोंपर चित्रकारी है। इस पर्वतश्रेणीका नाम "चँवरढाल" है। यहाँ पुरातन गुफा-गृह भी हैं। यहाँके चित्रोंसे जानपदीय तो पूर्णतः परिचित थे, पर उन्हें क्या पता कि हमारे प्राचीन इतिहास और संस्कृतकी दृष्टिसे इनका महत्त्व सर्वोपरि है। ये चित्र आदिम मानव कालीन सभ्यतापर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बड़ी मुसीबतकी बात तो यह है कि यहाँ मधुमक्षिकाओंका इतना बाहुल्य है कि देखते समय थोड़ी भी असावधानी रही तो फिर प्राण बचना ही असम्भव है। इंगलैंडके एक पोप ऐसे ही जान दे चुके हैं। आदिम-वासियोंकी आखेटचर्याका आभास इन चित्रोंसे मिलता है। शूकर, घोड़े, कंगारू, छिपकली ये भी अंकित हैं। चित्रित भाव परम्परासे यह ज्ञात होता है कि इनका काल ५०००० वर्ष पूर्व है।

२. रायगढ़के नवावगढ़ नामक स्थानमें गेरूसे रँगा मानवपञ्जा है। निकट ही गोलवृत्त है।

३. चक्रधरपुरमें यद्यपि पुरातन चट्टान चित्रकारीके प्रतीक उपलब्ध नहीं हुए पर इसमें सन्देह नहीं कि वह स्थान बहुत प्राचीन है। पूर्व प्रस्तर युगके पाषाणके विभिन्न प्रकारके औजार चक्रधरपुरके निकटवर्ती स्थानोंमें मिला करते हैं।

४. यहाँकी चट्टानपर तीन चित्र हैं। ऊपर भागमें हाथी और घुड़-सवारोंके चित्र हैं। सम्भवतः यह "हाथीखेदा" या किसी जङ्गली हाथी-का पालतू हाथी और घुड़सवारोंकी सहायतासे पकड़नेका दृश्य है।

इसके नीचे पक्षियोंको जाल द्वारा पकड़नेका दृश्य दिखाया गया है। बाईं ओर एक गजारोही व्यक्ति अंकुशसे प्रहार करता हुआ हाथीको बढ़ा रहा है। पीछेकी ओर एक अश्व अंकित है।

लखुनियाके निकट "कोहवर" नामक स्थानमें भी ये आकृतियाँ अंकित हैं—

१ दो चित्रित जन्तु—कदाचित् दो भल्लूक किसी मृगपर आक्रमण कर रहे हैं।

२ दो मृगोंकी आकृतियाँ।

३ ढाल सहित एक योद्धा जो नृत्यशील है।

रिया[1], विजयगढ़[2] और महादेव[3] पर्वत (पंचमढ़ी) आदि स्थानोंमें आदि मानव-

---

४ एक मृग, (जालबद्ध)।

५ कतिपय अज्ञात चिह्न।

६ एक मनुष्य जो ढाल या धनुष पकड़े हुए हैं। वह या तो युद्ध कर रहा है, या नृत्य कर रहा हैं।

१. भलदरिया नदीके ऊपर देशमें एक कुण्ड है। इस कुण्डके निकट ही एक चट्टान है; जिसपर कई चित्र हैं। ६वीं शतीकी लिपिमें एक लेख भी उत्कीणित है।

इस नदीको पार करनेपर एक पहाड़ीका चढ़ाव पड़ता है। इस पहाड़ीमें छातूके डाक बँगलेसे ३ मीलपर चित्रयुक्त चट्टान है। विवरण इस प्रकार है—

१ एक जगह चार जलपक्षी जलके भीतर खड़े हुए हैं, आगे एक वृक्ष है। नीचे दो वानरोंकी आकृतियाँ हैं।

२ शिकार-दृश्य—एक लघुतम सींगवाला मृग है। इसे काकवर्त-सा मानते हैं, एक मनुष्य बरछीसे हरिण मार रहा है। एक छोटा-सा मृग ऊपरकी ओर है। और भी शिकारियोंके कई चित्र हैं। एक बड़े जन्तुका पीछा कई कुत्ते कर रहे हैं।

३ एक बृहदाकार वाराह—यह घायल होकर पीड़ाके मारे मुख खोले हुए है। इसके चारों पैर चित्रमें दिखाये गये हैं। जब कि चट्टान चित्रोंमें अक्सर दो ही चरण बताये जाते हैं। पीछेकी ओर किसी प्राचीन-लिपिके पाँच अक्षर हैं।

४ बारहसिंघा मृगका शिरोभाग—टेढ़े मेढ़े सींग।

भलदरिया नामक स्थानके चित्रोंमें एक घुड़सवारका चित्र है। एक हाथमें एक शस्त्र है। अन्यमें घोड़ेकी बाग, घोड़ा सरपट भाग रहा है। पास ही एक ऊँटके तुल्य जन्तुका चित्र है। उसकी पीठपर एक मनुष्य बैठा है।

२. विजयगढ़की पहाड़ीमें जो चट्टानचित्र हैं, उनमेंसे एक दो लम्बी गरदनवाले हरिण या बारहसिंघा-जैसे चतुष्पद हैं। दो नराकृतियाँ हैं, एकको वानर माना जा सकता है। इसके हाथमें वृक्षकी एक डाली है।

३. महादेव पर्वत (पचमढ़ी)

विदित हो कि नागपुर मारिस कालेजके प्रोफेसर डॉक्टर हण्टर सा० (G. R. Hunter M. A.) एवं उनकी सुयोग्य पत्नीने भी 'च० चि०' पर एक लेखमाला अंग्रेजी भाषामें लिखी है। आपका निबन्ध लन्दनके

सभ्यता युगीन बहुसंख्यक चित्र मिलते हैं। उनमेंसे कुछ तो इतने प्राचीन हैं कि जिनकी तुलना हम स्पेनके फोगुलसे कर सकते हैं। इन चित्रोंमें गेरू, सफ़ेद छुही और पीले रङ्गका व्यवहार ही अधिक हुआ है। आश्चर्य इस बातका है

Inter Congress of Pre-historians & Proto-historians के अधिवेशनमें सन् १९३२के अगस्त महीनेमें पढ़ा गया था। उस लेखका सारांश R. Anthrogical Institute के मुखपत्र Manमें छपा था। १९३३ के प्रारम्भमें डा० सा० ने नागपुर वि० वि० में A. M. in the M. Hills पर एक भाषण दिया था। महादेव पर्वत (होशंगाबाद जिलेमें) ही पञ्चमढ़ीमें हैं। पञ्चमढ़ी तथा उसके आस-पासमें ये 'चट्टान-चित्र' हैं। उन चित्रोंका सादृश्य 'सिह'के चित्रोंसे है। इन चित्रोंमेंसे एक हाथ ऊपरको उठाये हुए घुड़सवारोंके चित्रोंपरसे डाक्टर सा० अनुमान करते हैं कि ये उस जातिके लोगोंकी कला है जिस जातिसे वर्तमान गोड़ों (Gonds) की उत्पत्ति हुई है। पञ्चमढ़ी तथा नागपुरमें भी ऐसे पत्थर मिले हैं जिनपर हाथ उठाये घुड़सवारोंके चित्र हैं और जिन्हें गोंड़ लोग पवित्र मानकर पूजते हैं। डाक्टर हण्टरके ही शब्दोंमें—

It would seem to indicate some continuity of traditions. × × ×

......Satpura plateaux to-day.

आगे चलकर डा० साहब लिखते हैं............................. In other words I conclude.. modern Dravidians अर्थात् चट्टान-चित्रोंके चित्रकार जाति गोड़ोंके आदिपुरुष रहे होंगे और उन्हींको वेदोंमें 'दरवर' व्याख्या दी गई है। आगे चलकर आप गेरू रंगसे रंगे धनुषयुक्त नराकृति (bow man) चित्रोंको जो मध्यप्रदेशकी चट्टानोंपर अङ्कित हैं; दक्षिण अफ्रिकाके Bushman artist की कृतियोंसे मिलते-जुलते बतलाते हैं। आपके मतसे दक्षिण अफ्रिका और भारतके चट्टान-चित्रकारोंकी कला एक ही जाति One race of Inhabitantsके लोगोंकी है। इस चित्रकलाके लिए औज़ार भी प्रायः एकसे रहे होंगे। हण्टर सा० को पञ्चमढ़ीके जम्बूद्वीप नामक घाटीके निकट एक नर-अस्थि-कङ्काल (Skeleton) तथा पत्थरके औज़ार मिले हैं। वहाँ चट्टानोंपर चित्र भी चित्रित हैं।

कि कुछ गुफाओंमें कलाकारोंने इतने सुन्दर ढङ्गसे चित्राङ्कन किया है कि चित्रोंको पपड़ियाँ गिर जानेके बाद भी चित्र ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। न जाने कितने पुट एक चित्रमें रहते होंगे। वे लोग न केवल पार्थिव रङ्गोंको ही अपने भावोंको व्यक्त करनेका साधन बनाते थे, अपितु वे धातुओंका भी व्यवहार अवश्य ही छूटसे करते रहे होंगे। अजन्ताके कलाकार यदि उपर्युक्त पद्धतिका अनुसरण करते तो आज जिस कलात्मक सम्पत्तिसे हमें हाथ धोना पड़ा वह न होता। हो सकता है, उन दिनों धातुओंका प्रयोग कलाकार भूल चुके हों।

प्रागैतिहासिक कालीन शिला-चित्रोंका प्रासङ्गिक वर्णन संस्कृतके विशाल साहित्यमें भी कहीं-कहीं मिल जाता है। यहाँ कालिदासके मेघदूत-की एक पंक्ति याद आ जाती है :—

"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्"

प्रागैतिहास कालीन चट्टानोंपर बिखरी हुई चित्रकलाकी शृङ्खलाकी कड़ियोंको जबतक एक नहीं कर पाते तब तक मध्यकालीन भारतीय

इनकी परीक्षा एवं तुलनात्मक अध्ययनसे डा० हण्टर इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। यूरोप अफ्रिका और भारतवर्षमें एक समय एक ही जातिके मानव निवास करते थे जिनके आचार-विचार संस्कृत और सभ्यतामें घनिष्ट एकता थी।

The Pre-Dravidian Indian, The African Bush-man, the pre-historic, Iardenosian, and the Eskimo. Inspite of the separating distances intine, latitude or longitude all belong to the same culture and possibly to the same race.

होशंगाबाद जिलेके पहाड़ियोंमें गेरुके चट्टान-चित्र पाये गये हैं। इनमें आकृतियोंमें मुख्यतः हाथी, आदि अपरिचित जन्तु हैं। ये चित्र क्रमशः ४ ई० से १०वीं शती तकके हैं।

उपर्युक्त चट्टानचित्रोंके नोट्स मुझे मध्यप्रदेशके वयोवृद्ध गवेषक श्रीलोचनप्रसादजी पाण्डेय द्वाराप्राप्त हुए हैं, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

चित्रकलाकी परम्परा एक प्रकारसे अपूर्ण ही रहेगी। सच पूछा जाय तो सच्ची भारतीय मानव-विकासकी परम्पराके क्रमिक इतिहासके बीज उन्हीं चित्रोंमें हैं जिन्हें हमने आजतक उपेक्षित रखा।

भित्तिचित्रोंकी भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। इतिहास कालकी कुछ प्रणयविषयक घटनाएँ भी तात्कालिक चित्रकलाकी व्यापकताकी ओर संकेत करती हैं। जैन-साहित्यमें ऐसे उल्लेख पर्याप्त परिमाणमें आये हैं। परवर्ती साहित्यकारोंने भी इसका समादर किया है। वात्स्यायन सूत्रकारने अपने 'कामसूत्र'में, नागरिकोंके लिए चित्रकलाको आवश्यक मानते हुए, निम्नलिखित षडङ्गोंका वर्णन किया है—

"रूपभेदा प्रमाणानि, भावलावण्ययोजनम्।
साहश्यं वर्णिकभंगं इति चित्रं षडङ्गकम्॥"

कालिदासका साहित्य हमें भारतीय चित्रकलाविषयक सिद्धान्तोंका सम्यक् परिज्ञान कराता है। उसकी सामाजिक स्थितिका पता "मालविकाग्निमित्र"से चलता है। उसके पारिभाषिक शब्द भी प्रचुर उपलब्ध होते हैं।

श्रीयुत् अमरनाथ दत्त, परसी ब्राउन, मनोरञ्जन घोष और आनन्दकुमार स्वामी-जैसे पुरातत्त्वविद् और कला-समीक्षकोंने यदि चट्टानवाले चित्रोंका उद्धार न किया होता, और उनपर विशेष विवरण लिखनेका प्रयत्न न किया होता, तो इन चित्रोंकी जानकारीसे हम, इस प्रगतिशील युगमें भी वंचित रहते।

अजन्ता

भारतवर्षमें जितने बौद्ध-तीर्थ मिलते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे हैं, जहाँपर शिल्पकलाके साथ चित्रकलाका भी समुचित विकास न हुआ हो। अजन्तामें कलाकी दोनों शाखाओंका अच्छा विकास हुआ। वहाँ शिल्प और चित्रकलामें अपूर्व सामञ्जस्य है। वहाँपर कलाकारने अपनी कलाके सात्त्विक

सौन्दर्यानुभूतिके तत्त्व प्रसारित कर मानव-संस्कृतिके आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वोंका सुन्दर समन्वय बताया है। अजन्ता स्थान भी इतना सुन्दर और प्राकृतिक दृष्टिसे अनुपम है कि वहाँ जानेके साथ ही मानव अपने आपको थोड़ी देरके लिए भूला देता है। हमें इस स्थानमें रहकर कुछ दिनों तक शिल्प और चित्रकलाका अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन क्षणोंकी स्मृति आज भी हृदयको आनन्दविभोर कर देती है। पहाड़ोंकी गुफाएँ हमने जीवनमें कई देखीं, पर वे अजन्ताकी समानता नहीं कर सकतीं, मानव-कृत कला और प्राकृतिक सौन्दर्य दोनोंका समन्वय अजन्ताको छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ-सा है।

अजन्ताकी स्थिति हैदराबाद प्रदेशमें है। रेल्वेसे यात्रा करनेवालोंके लिए जी०आई०पी० के जलगाँव स्टेशनपर उतरकर, ३७ मील मार्ग मोटरसे तय करना पड़ता है। पर हम पैदल चलनेवालोंका मार्ग दूसरा था। हम अपने पूज्य गुरु महाराज श्रीउपाध्याय मुनि सुखसागरजी म० व मुनि श्रीमंगलसागरजी म०के साथ शेन्दूरनी होते हुए पलासखेड़ा आये और वहाँसे हम लोग फर्दापुर ठहरे, यहाँ निज़ामका बहुत बड़ा और विस्तृत अतिथिगृह बना हुआ है। ठहरनेके लिए उनकी अनुमति उन दिनों आवश्यक थी। गाँवमें मुसलमानोंकी संख्या अधिक है। यहाँपर एक प्राचीन त्रुटित दुर्ग और बेगमसराय नामक मुसाफ़िरख़ाना पाया जाता है, जिसका निर्माण औरङ्गज़ेबने करवाया था। यहाँसे चार मीलपर वाघोरा नामक नदी है जो सर्पाकार है। इसे पारकर अजन्ताकी पहाड़ियोंमें प्रवेश करते हैं। गुफाओंका निर्माण ऐसा हुआ है, जब कि पर्याप्त समीप न पहुँचे तब तक उनके अस्तित्वका पता तक नहीं चलता। अजन्ताका किताबी ज्ञान प्राप्त करके हम जैसे जो यात्री जाते हैं, उनको तो भारी आश्चर्य हुए विना नहीं रहता। पहाड़की गोदमें हम लोग पहुँचे, तीन सौ फ़ुटकी ऊँचाईपर गये—जहाँ आधुनिक ढंगकी पायरियाँ (सीढ़ियाँ) बनी हुई हैं, तब कहीं गुफाओंके दर्शन किये। हमारे ख़यालसे यह मार्ग पूर्वकालमें प्रवेशका न

रहा होगा। पहले तो १७वीं गुफासे लोग प्रवेश करते होंगे। कारण कि तन्निम्न भागमें घिसा हुआ मार्ग आज भी दृष्टिगोचर होता है। चढ़नेका मार्ग कुछ कठिन है और हम जैसे स्थूलकायवालेका चढ़ते-चढ़ते दम फूलने लगता है। परन्तु कलात्मक सौन्दर्य-दर्शनसे थकावट लुप्त हो जाती है। गुफाओंके सौन्दर्यसे मन प्रफुल्लित हो उठता है। हृदय नाचने लगता है। नीचेसे तो ऐसा लगता है मानो हम आकाशाच्छादित महलमें खड़े हैं। वर्तुलाकार शृङ्खला पहाड़ीकी शोभा बढ़ा रही है। ऊपरसे तो लगता है, जैसे हम किसी गैलरीमें ही हों। जंगल सघन होनेसे यहाँका प्राकृतिक दृश्य बड़ा नयनाभिराम है। हारसिंगारका जंगल लगा हुआ है। नाना पक्षियोंके स्वरसे वायुमण्डल और परिष्कृत रहता है। गुफाओंकी समाप्ति जहाँपर होती है, वहाँपर पहाड़ी उपत्यका है। नदी ठीक नीचे बहती है, ग्रीष्मकालमें यहाँसे शिलाजीत भी खूब निकलता है। अक्टूबर-दिसम्बर तक ही यहाँका मौसम अच्छा रहता है।

अजण्टाका पहाड़ वर्तमान बरारकी सीमासे ७ मीलपर है। अजन्तामें छोटी-बड़ी ३० गुफाएँ हैं। इनमें कुछ चैत्य व कुछ विहार हैं। ये सब गुफाएँ पूर्वसे पश्चिमकी ओर ६०० गजकी परिधिमें अर्द्ध वृत्ताकार हैं। इसकी अर्द्ध गुलाई बड़ी ही चित्ताकर्षक है। पहाड़ी सामनेसे यदि इनका निरीक्षण किया जाय तो सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। इन कलापूर्ण गुफाओंका निर्माण ई० स० २०० से ७०० तक चलता रहा। अब तो इनपर नम्बर दे दिये गये हैं। डा० कुमारस्वामीका मत है कि यद्यपि अधिक भाग वाकाटकोंके समयमें चित्रित हुआ; परन्तु गुफा सं० १७ तथा १९को तो गुप्तकालीन माननेमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

गुफाओंमें चित्रोंके साथ शिल्प-सामग्री भी प्रचुर है। गुफाएँ भिन्न कालकी इस प्रकार हैं—८-१२-२३ सबसे पुरानी हैं। ६-७-पाँचवीं शतीकी हैं। १-५-१४-२९ इनका काल सन् ५००-६५० ई० तकका है। सं० १ सबसे बादकी है। १९में वाकाटकोंकी प्रशस्ति है। इसमें

निकटवर्ती विजित राजाओंके नाम हैं। १–२–४–६–७–९–१०–११–१५–१७–१६–२०–२१–२२ और २९ गुफाएँ सचित्र हैं। १९३९में जब हम अजन्ता गये थे तब पहाड़ीकी खोहमें एक और गुफ़ा निकली थी।

कुछ प्रमुख चित्र

प्राथमिक परिचयके बाद हमलोग प्रथम गुफामें प्रविष्ट हुए, इतनेमें ही दालानके मारविजयवाले चित्रपर हमारी दृष्टि स्तम्भित हो गई। मारविजयका प्रसंग ग्रन्थोंमें पढ़ा तो था, पर उसने आज जो हमारे मनपर प्रभाव डाला, उसे जीवनपर्यन्त विस्मरण करना कठिन है। यह चित्र लगभग ८ फ़ीट चौड़ा १२ फ़ीट ऊँचा है। असंख्य प्रकारके भौतिक प्रलोभनों द्वारा बुद्धदेवको तपसे च्युत करनेका प्रयास किया जा रहा है। परम सुन्दरियोंका दल खड़ा है। हर भाव बड़े ही सुन्दर, मनमोहक और हृदयको पिघला देनेवाले हैं। कहीं क्रुद्ध मुद्राएँ भी हैं; हाथोंमें शस्त्रास्त्र धारण किये हैं। पर भगवान्के मुखपर अपूर्व शान्ति एवं सात्त्विक भावोंका तेज चमक रहा है। मानो अहिंसाकी सारी दार्शनिक पृष्ठभूमि मुखमुद्रापर सजीव हो उठी हो। वे अपने ध्यानमें इतने तल्लीन हैं कि उनपर इन शैतानोंका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिका अनुपम सौन्दर्य यहाँपर पूर्ण रूपसे निखर उठा है। मुखमुद्राके भाव शत्रुको भी मित्र रूपमें परिणत कर देते हैं। उसकी रेखाओंमें एक-एक आकृति, विविध भाव और अलंकारोंका वैविध्य प्रकट होता है। टकटकी लगाये हमलोग घण्टेभर तक इस चित्रकी छायामें बैठे, शान्त रसका पान करते रहे। और कलाकारोंकी सराहना, विशेषतया इसलिए करते रहे कि यहाँ सायंकालको जब सूर्यदेव अपनी किरणें फैलाते हैं तो चित्रांकन न जाने कैसे हुआ होगा। अन्तिम किरणोंके अभिषेकसे सारे चित्र थोड़ी देरके लिए चमक उठते हैं। इस गुफाके दालानमें एक और चित्र अंकित है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत बड़ा महत्त्व है। पुलकेशि द्वितीयकी

राजसभामें ईरानके राजा ख़ुसरू परवेज़के राजदूत भेंट रख रहे हैं। पुलकेशी गद्दी बिछे हुए सिंहासनपर लम्वी गोलाकार तकियेके सहारे बैठा है। पीछे स्त्रियाँ पंखा और चँवर लेकर खड़ी हैं। अन्य परिचारक स्त्री और पुरुष कुछ बैठे हैं, कुछ खड़े हैं। राजाके सम्मुख बाईं ओर एक बालक (राजकुमार) और तीन मुसाहिब बैठे हैं। राजा हाथ उठाकर मानो ईरानी दूतसे कुछ कह रहा हो। राजाके मस्तकपर मुकुट, गलेमें बड़े-बड़े मोतियोंकी माला (साथमें माणिक भी लगे हैं) उसके नीचे जड़ाऊ कंठा, हाथोंमें भुजदण्ड व कड़े हैं। यज्ञोपवीतके साथ पचलड़ी मोतियोंकी माला, प्रणवग्रन्थियोंके स्थानपर ५ बड़े मोती, कमरमें रत्नजड़ित करधनी है। घुटनेतक काछनी पहने हैं। सम्पूर्ण शरीर खुला हुआ है, और दुपट्टा सिमटकर तकियेके सहारे है। शरीर प्रचण्ड, गौर व पुष्ट है।

जो पुरुष वहाँपर हैं, सभी केवल धोती ही पहने हैं। दाढ़ी और मूँछें नहीं हैं। स्त्रियोंके शरीरपर साड़ी व स्तनोंपर पट्टियाँ बँधी[1] हैं। राजाके सामने ईरानी दूत मोतियोंकी माला लेकर भेंट कर रहा है। उसके पीछे दूसरा ईरानी हाथमें बोतल-जैसी वस्तु लिये खड़ा है। तीसरा थाल लिये खड़ा है। चौथा बाहरसे कुछ वस्तुएँ लिये द्वारमें प्रवेश कर रहा है। उसके पास जो खड़ा है, उसके कटि प्रदेशमें तलवार है। द्वारके बाहर कुछ ईरानियोंके साथ अन्य दर्शक भी खड़े हैं, निकट ही कुछ घोड़े भी हैं। ईरानियोंके सम्पूर्ण शरीरपर वस्त्र, मस्तकपर ईरानी टोपी, कमरतक अंगरखा, चुश्त पैजामा, पैरोंमें मोज़े हैं। सबके दाढ़ीमूछें हैं।

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १८६।

स्त्रियोंके स्तनोंपर पट्टियाँ बाँधनेकी प्रथा पुरानी है। श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार उल्लेख है—

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नांजः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्त्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वहः।

दशमस्कन्ध ३३।१८।

दरबारमें सुन्दर बिछायत है और फर्शपर मन-मोहक पुष्प बिखरे हैं। सिंहासनके आगे पीकदानी, और उसके पास ही, एक चौकीपर पानदान व अन्य पात्र रखे हैं। दीवालें सुन्दर बनी हैं।[1]

यह चित्र ईरान-भारत स्नेह सम्बन्धका सूचक है। संभवतः चित्रवर्णित घटनाका समय ई० सन् ६२६-९ तकका है। यह चित्र अजंता चित्रकालके काल-निर्णयमें सहायता करता है।

यों तो समस्त विश्वकी कलाको व्यक्त करनेका साधन रेखाएँ होती हैं। परन्तु अजन्ताकी रेखाओंने तो अनेक कलात्मक रूप व्यक्त किये हैं, जो अन्यत्र दुष्प्राप्य हैं। जो-जो रेखाएँ फूटी हैं वे भावोंके अनुसार स्वयं मुड़ जाती हैं। मानवके विभिन्न देह, अभिनय और भावोंका अंकन हो उठा है, वह कितना सजीव है, देखते ही बनता है। चित्रांतर्गत एक भी रेखा ऐसी नहीं जो अपना भावसूचक मौलिक अस्तित्व न रखती हो। विश्वविख्यात नागराज और काशीराजके चम्पेय (चम्पेय जातकानुसार) का चित्र इसी गुफामें चित्रित है। यों तो चित्र और चित्रोंकी अपेक्षा काफी प्रसिद्धि पा चुका है। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनसे भावोंका जैसा उत्कर्ष प्रतीत है वह अनिर्वचनीय है। इस चित्रको हमने इतना देखा कि तीन दिनमें हम लोग एक ही गुफाका अवलोकन कर सके। चित्र संविधान एक-एक रेखापर चमक रहा है। भावोंका प्रदर्शन हृदयग्राही एवं वास्तविकताका सूचक है। उभय नरेश, प्रणय भाववाली युवतियाँ, महलकी परिचारिकाएँ, एक राजपुरोहित और सेनापति सभीकी मुखमुद्राको तूलिकाने रेखाओंमें लपेट लिया है, कि मानो अभी बात करेंगे। सुन्दरीके नयनोंमें मादक रसवृत्ति पाई जाती है पर वह है मर्यादित। कहीं-पर भी कामुकताकी गुंजायश नहीं रहती। रंग-रेखाओंके द्वारा कलाकारने सारे प्रसंगमें जान डाल दी है। इस चित्रसे उन दिनोंकी भारतीय संस्कृति

---

१. दि पेंटिंग्ज़ आफ़ अजंटा, प्लेट ५।

और सभ्यताका सूक्ष्माभास मिलता है। जहाँ तक रस-निष्पत्तिका प्रश्न है, हम विना किसी संकोचके कहेंगे कि सामाजिक दृष्टिसे भी चित्र उपेक्षणीय नहीं। गर्भमन्दिरके पास दक्षिण और मण्डपकी दीवारपर पद्मपाणि बोधिसत्त्वका विशाल चित्ताकर्षक आलेखन है। कुमार सिद्धार्थ बुद्धपदके लिए गृहत्याग करते हैं। उस समयका वह रूपक चित्र है। मुखमुद्रापर चिन्तन, करुणा और गम्भीर मनोमन्थनकी गहरी छाप है। नासिका और ओंठपर भावमूलक प्रतिच्छाया है। मुकुट भारतीय सर्वश्रेष्ठ कलाका प्रतिनिधित्व करता है। इस भागमें पाये जानेवाले समस्त चित्रोंमें यह सबसे बड़ा होनेके बावजूद भी सौन्दर्यको लिये हुए है। तन्निकटवर्ती देव सृष्टि, मानव सृष्टि और विचार मग्न यशोधराके चित्र देखें तो पता लगेगा कि कलाकार आवेग, स्वास्थ्य, धैर्य और त्वराके भाव बतानेमें एक समान कितना कौशल रखता है। मुख गांभीर्य, सांसारिक वासनाओंके प्रति औदासिन्य भावोंका सूचक है। इस चित्रके विषयमें भगिनी निवेदिताके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

"यह चित्र संभवतः भगवान् बुद्धका सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है जिसे संसारने कभी देखा है। ऐसी अद्वितीय कल्पना कठिनतासे दूसरी बार उत्पन्न हो सकती है[1] ॥"

यह चित्र विश्व करुणाका जीवित प्रतीक है। एलोरा और एलिफेंटामें पाई जानेवाली अवलोकितेश्वरकी जो प्रतिमाएँ हैं उनपर इस चित्रका सोलहो आने प्रभाव पड़ा है। साथ ही साथ आठवीं शतीकी कांस्य प्रतिमाएँ सिरपुरमें हमने देखी हैं। उन एवं नैपालकी प्रतिमाओंपर भी इसका गम्भीर प्रभाव जान पड़ता है। चित्रोंका प्रभाव शिल्पपर, शिल्पका प्रभाव चित्रोंपर पड़ता है। क्योंकि दोनोंमें कलाका साम्य है, उपकरणोंमें पार्थक्य है।

---

१. फुटफाल्स आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३५-६।

उपर्युक्त चित्रके समीप ही एक द्वारपर यक्ष-दम्पतिका निर्दोष स्नेह युगल चित्रित है, जो मर्यादित शृङ्गारको लिये हुए है। यहाँ ज्ञान और अनुभवकी परिपक्वताका समन्वय जान पड़ता है। इस गुफाके समस्त चित्रोंपर दृष्टिपात करनेसे, एक बातका अवश्य पता चलता है कि अजन्ताके लोग आध्यात्मिक साधनाके साथ सांसारिक गतिविधिसे अपरिचित नहीं थे। भौतिक विकास भी आध्यात्मिक तत्त्वोंकी गतिको प्रेरणा देता है, ऐसा इन चित्रोंपरसे थोड़ी देरके लिए यदि मान लें, तो अनुचित न होगा। दूसरी गुफाओंमें अन्य चित्र हैं पर वे बहुत बादके माने गये हैं। परन्तु उनमें दो चार ऐसी भी कृतियाँ हैं, जिनका समावेश अजन्ता चित्रशैलीमें किया जा सकता है। दीवालपर खंडित, परन्तु भावोंको स्पष्ट करनेवाली कलाको लिये हुए हैं। युवतियोंसे परिपूर्ण मण्डपके राजसिंहासनपर कोई एक राजपुरुष अधिष्ठित है। हाथमें नग्न खड्ग है जो चरणमें नमस्कार करती हुई एक कम्पितवदना युवतीपर तुला हुआ है। वह दयाकी याचना कर रही है। सभाके लोग कम्पायमान हो रहे हैं। पश्चात् कालीन चित्र अजन्ताकी अवनतिके सूचक हैं जो खोतान, तुर्किस्तानी कलासे प्रभावित हैं।

सोलहवीं गुफाका चित्र बुद्धदेवके गृहत्यागका है। गहरी निद्रामें यशोधरा और राहुल सोये हुए हैं। परिचारिकाएँ भी अपने आपको निद्रा देवीकी गोदमें समर्पित कर चुकी हैं। एक दृष्टि डाल बुद्धदेव निकल पड़ते हैं अन्तिम दृष्टिमें ममता मोह नहीं है, परन्तु त्यागकी उदात्त भावना दृष्टिगोचर होती है। इसीमें कलाकारकी कुशलता है। इसीमें सारा कृतित्व समाया हुआ है। सोलहवीं गुफा तीनों ओरसे चित्रोंसे सुसज्जित है। अतिविख्यात 'प्रणयोत्सव'का चित्र यहींपर है। अन्दरकी सभामें बुद्धदेवके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ तथा जन्मान्तरके महत्त्वपूर्ण प्रसंगोंसे भरपूर हैं, जो हज़ारों वर्ष पूर्वीय जीवनके आनन्द, दुख, करुणा और मानव हृदयको स्पर्श करते हैं। ज्यों-ज्यों दृष्टि फिराते जायँगे, त्यों-त्यों अपने आपको खोना पड़ेगा। नूतन-नूतन जगत्में विचरण करना पड़ेगा।

उपर्युक्त गुफामें मृत्युशरण कुमारिकाके चित्रपर जॉन ग्रीफित्सके निम्न वाक्य मननीय हैं—

For method and sentiment and unmistakable way of telling its story, this Picture, I consider cannot be surpassed in the history Of art. The Florentines could have put better drawing and the venetians better colour, but neither could have thrown greater expression into it.

(The Cave Temples of India, p. 307)

ज्यों ही हम लोगोंने सत्रहवीं गुफामें प्रवेश किया तो अनुभव होने लगा कि कहीं हम अमेरिकाकी आर्टगेलरीमें तो नहीं खड़े हैं। एक-एकसे बढ़कर भावमूलक चित्रोंकी लता, अपना सुरक्षित सौन्दर्य फैलाकर प्रेक्षकपर छा जाती हैं। मानो कलाकारोंने पारस्परिक होड़ लगाकर उनका सुरुचि-पूर्ण निर्माण किया हो। बौद्धजातक यहाँ सजीव हो उठा है। जिस प्रकार २६वीं गुफा शिल्प कलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार यह चित्रकला-की दृष्टिसे अनुपम है। दालानके दक्षिण द्वारपर भव्य और मर्मस्पर्शी चित्र हैं, जिनमें यशोधरा और राहुलके चित्र समदेह भागमें अंकित हैं। माता स्नेहमयी दृष्टिसे अपने पुत्रको किसीके सम्मुख, साग्रह उपस्थित कर रही है। पुत्र भी अंजली पसार उस व्यक्तिके सामने उपस्थित है। इस चित्रमें करुणा और सहानुभूति साकार है। अंग-अंगपर दैन्य परि-लक्षित होता है। हैवेल इस चित्रपर मुग्ध हैं। (इण्डियन स्कलचर एण्ड पेण्टिङ्ग, पृ० १६४–५) पाठक अनुमान कर लें कि यह व्यक्ति कौन है ? विशाल देहवाला, हाथमें भिक्षापात्र लिये, गम्भीर प्रशान्त मुद्रावाला और कोई नहीं; स्वयं बुद्धदेव हैं, जो बुद्धत्व प्राप्तिके बाद कपिलवस्तु भिक्षार्थ आये थे। इस चित्रको देखकर मानव-मनमें संस्मरण-धाराका प्रवाह वेगसे बहने लगता है। कलाका साकार रूप दृष्टिगोचर होता है।

आत्मसमर्पणका चरम विकास इस चित्रमें सन्निहित है। महाहंस जातक, सिवि जातक, षड्दन्त जातक एवं वेस्संत्तर जातकोंके चित्र भी बड़े ही अच्छे ढंगसे अंकित हैं। वेसंत्तर जातकका तो मर्मभेदी प्रभाव स्पष्ट है। करुणा यहाँ मानो शरीर धारण किये हुए है। ब्राह्मणके मुखके भाव अनिर्वचनीय हैं। युद्ध प्रसंगपर प्रकाश डालनेवाला भी एक चित्र हमने देखा, जो अपने ढंगका अनोखा है। आश्चर्य तो इस बातका है कि लगभग तीन सौ चेहरे सरलतासे गिने जा सकते हैं। सभीके मुखपर युद्धके विविध भाव, प्रत्येकको आकृष्ट कर लेते हैं। एक स्थानपर आकाशमें विचरण करनेवाले गायकोंका समुदाय ही चित्रित है, जो वाद्योंको लिये हुए हैं।

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होगा कि कलाकारोंने पाषाणपर, अपनी भाव-धारा कैसे बहाई होगी? अजन्ताके सफल कलाकारोंने प्रथम तो अपने तीक्ष्ण औजारोंसे दीवालें साफ़ कीं, तदुपरि चूनेका हलका पलस्तर लगाकर पृष्ठभूमि तैयार की, उसीपर अपनी क़लमसे मानव-संस्कृतिके उदात्त भावोंका अंकन, विशिष्ट रूपकों द्वारा, किया जिनके आनन्दसे आज भी हम नाच उठते हैं।

"अजन्ताका कलाकार किसी समर्थ कविके समान अपनी रेखाओंमें कर्मिदर्शन और प्रसंगका वायुमण्डल सहज भावसे लपेट लेता है। वाचा और अर्थका संयोग करनेकी कविशक्ति जैसे प्रशंसित होती है, वैसे ही अजन्ताकी रेखाएं केवल रेखा नहीं है, उसका पुरस्कर्ता रेखातत्त्वको भुलाकर, स्वरूप भाव और पदार्थका साक्षात् परिचय कराता है। वह मानसिक पूर्वनिर्मित-पृष्ठभूमिका दास नहीं है, वह अपनी मानसिक सृष्टिको ही आगे बढ़ानेके लिए, रेखावलियोंको चाहे जैसी दिशामें बहाता है।" "अजन्ताकी कला सुसंस्कृत पंडितोंकी वाणी है।"[1]

---

१. श्री रविशंकरजी रावल—"पश्चिम भारतनी मध्यकालीन चित्रकला,' शीर्षक निबन्ध, "जैनचित्रकल्पद्रुम" पृ० ७।

सुप्रसिद्ध चित्रकार रोवेन्स्टाइनने अजन्ताके चित्रोंके विषयमें जो अभिमत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है—

"मनोवैज्ञानिक चित्रणके विचारसे इन चित्रोंमें इतनी सत्यता है, यहाँके मानव और पशुओंका चित्रण इतना अद्भुत है और भारतीय जीवनके आध्यात्मिक चित्रणमें इतनी गम्भीरता है कि आज इस शीघ्र परिवर्तनशील युगमें भी तत्कालीन चित्रकलाकी अनुपस्थितिमें ये चित्र भारतीय जनताकी सभ्यता और जनताके प्रतिनिधि हैं।"

कमल

कलाकारोंको कमलने बड़ी प्रेरणा दी है और विचार-शक्ति भी। मण्डपकी बड़ी-बड़ी छतोंपर वर्तुलके मध्यसे बड़े-बड़े कमल अंकित एवं उत्कीर्णित हैं, तत्समीपवर्ती कुण्डल और तरहोंमें उसकी अनेक आकृतियाँ हैं। देखकर कल्पना हो आती है कि ऐसा अंकन संसारमें कहींपर भी नहीं हुआ। कमल पुष्प, कमलकी रज्जु, कमल पत्र, कमल दण्ड या गुच्छोंकी शोभा, सुसंस्कार सम्पन्न रेखाएँ, लताएँ पदपदपर अंकित हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि एक ही वस्तुका पुनः-पुनः लेखन कलाके तत्त्वों-को विकृत कर देता हैं, परन्तु यहाँ तो नूतन वैविध्य छाया है! चित्रकार कमल पुष्पपर इतने मुग्ध थे, कि बोधिसत्त्वके हाथमें, एवं स्तम्भोंपर अंकित परिचारिकाओंके करमें, अथवा प्रेमी युगलोंके बीच भी किसी ढंगसे दण्ड सहित कमल खड़ा कर ही दिया है। यहाँ तक कि मानव-शरीरकी आकृ-तियोंमें भी कमलके द्वारा लालित्य लानेका सफल प्रयास किया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारतीय शिल्प और चित्रकलामें कमलका महत्त्व सर्वोपरि था। कुषाण-कालीन शिल्पोंमें इसकी आकृतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

अजन्ताके शिल्प और चित्रोंके अतिरिक्त गुप्तकालीन जितनी भी प्रतिमाएँ दिखाई पड़ती हैं, उन सभीमें कमल किसी-न-किसी रूपमें अवश्य

ही विद्यमान है। प्रधान प्रतिमाका आसन कमल पुष्पपर चित्रित बताया गया है। जैन, बौद्ध एवं अन्य सम्प्रदाय मान्य शिल्पोंमें भी कमलकी प्रधानता पाई जाती है। उसे बौद्ध-शिल्प कलाकी देन कुछ लोग मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है। क्योंकि कमल जीवनका प्रतीक है, वह साम्प्रदायिक कैसे हो सकता है। उत्तर गुप्तकालीन एक तारा देवीकी प्रतिमा हमें मध्यप्रान्तान्तर्गत सिरपुरसे प्राप्त हुई थी। उसमें तो ऐसे भाव व्यक्त किये गये थे कि मानो कमल दण्डके आधारपर ही सारी मूर्ति टिकी हुई हो। कमलपत्र, पुष्प और फल तकका जितना सुन्दर प्रदर्शन इस प्रतिमामें पाया जाता है, वह अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होगा। देवीका आसन तो कमलका ऐसा पुष्प है, जिसमें छोटे-छोटे पोखरे भी हैं। उभय पक्षमें देवगण दण्डयुत कमल धारण किये हैं। कमलदण्डकी मोड़ सचमुचमें आकर्षक है। कमलकी बाहुल्यताके पीछे कौन-सी मनोभावना काम कर रही है, यह जानना बहुत आवश्यक है। विदेशके कुछ कला-समीक्षकोंने माना है कि कमल विदेशी प्रतीक है, जिसको भारतके कलाकारोंने सुन्दर अलंकरण होनेके कारण अपना लिया। परन्तु वस्तुतः बात वैसी नहीं है। बौद्ध-धर्मके प्राचीन ग्रन्थोंमें अलौकिक ज्ञानको कमलरूपके द्वारा व्यक्त किया है, कमलके जड़का भाग ब्रह्म माना गया है, कमल नाल (तना) माया है, और पुष्प सम्पूर्ण विश्व है, फल निर्वाणका प्रतीक है। अशोकका शिलादण्ड—कमल-नाल माया अथवा सांसारिक जीवनका द्योतक है। घंटाकार सिरा संसार है, आशारूपी पुष्पदलोंसे वेष्टित है और कमलका फल मोक्ष। इसपर श्रीहैवेलकी युक्ति बहुत ही सारगर्भित है—

"यह प्रतीक खास तौरपर भारतीय है। इसका प्रारंभिक बौद्धकालमें बेहद प्रचार था। यह इत्तिफ़ाक़की बात है कि इसकी शक्ल ईरानी केपिटलोंसे मिलती है, किन्तु कोई वजह नहीं कि इसीसे हम इसे ईरानी चीज़ मान लें। शायद ईरानियोंने ही यह विचार भारतसे लिया हो। भारत तो कमलके फूलका देश है।

स्त्रीपात्र

आजन्ताकी मानव-सृष्टिमें स्त्री-पात्रका स्थान वहुत उच्च प्रतीत होता है। उन दिनोंकी स्त्रियोंके शरीरपर, आजकी अपेक्षा लज्जा निवारणार्थ अल्प वस्त्र होनेके वावजूद भी, उनकी कला और विनय आश्चर्यचकित कर देती है। यहाँके स्त्री-पात्र केवल स्त्रियोंकी महत्ता ही द्योतित नहीं करते, अपितु स्त्री-जातिका वह प्रतीक उपस्थित करते हैं, जिसके समुचित समादरपर ही समाज विकास कर सकता है। कलाकार स्त्रीका अंकन करते समय संयमपूर्वक अंग-प्रत्यंगके प्रदर्शनमें अपनी चिर साधित तूलिकाका प्रयोग करता है। राजकुमारी हो या नर्तकी, परिचारिका हो या अन्य कोई स्त्री, कहींपर भी कलाकी दृष्टिसे वह अधम नहीं हैं। सर्वत्र समर्याद सुन्दरी हैं। अजन्ताकी स्त्रियोंको देखकर पाशविक कामनाओंका जागरण भी नहीं होता, प्रणयोत्सव और यक्ष-दम्पति जैसे चित्र भी कितनी मर्यादाका पालन करते हैं। उनमें एकताकी साकार भाव मुद्रा है। पूर्णतः सांसारिक होते हुए भी अश्लीलताकी कल्पना तक सम्भव नहीं। स्त्रियोंका केश-कलाप अद्भुत है। स्त्रीके केशपर कलाने समय-समयपर कैसे-कैसे भिन्न-भिन्न रूप धारण किये, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कहींपर हो सकता है, तो यहाँपर ही। उन दिनों स्त्री स्वातन्त्र्य पर्याप्त था। राज-सभाओंमें निस्संकोच भावसे आवागमन था। समाजमें भी सम्मान था। यहाँ तक कि वुद्धदेवके पुनीत चरणोंपर चलनेवाले अजन्ताके निर्वाणकामी, सांसारिक भावनाओंसे सर्वथा विरक्त साधु भी स्त्रियोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखते थे, मानो सृष्टिका उत्तमांग समझकर वहाँ उन्हें चित्रकलामें स्थान दिया हो। स्त्रियोंके रूप भिन्न-भिन्न हैं। कलाकारने अपूर्णता रक्खी है तो केवल उतनी ही कि वे उन्हें वाचा न दे सके, उनके हाथकी वात भी न थी। परन्तु चेहरेके हाव-भाव और हाथोंकी मुद्रा, उँगलियाँ वाणीसे भी अधिक स्पष्ट एवं सुन्दर भावोंका प्रदर्शन करती हैं। कलाका वास्तविक सौन्दर्य वहींपर निखर उठता है,

जहाँपर वाणी मौन रहती है। गुजरातके सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध कवि ब० क० ठाकोरकी एक पंक्ति याद आ रही है—

अशब्देपण गजवनी कारमी भाखनारी ए गिरा।

अजन्ताके चित्र और शिल्पोंका अध्ययन अगर विशिष्ट दृष्टिसे किया जाय तो, प्रतीत हुए विना न रहेगा कि यद्यपि इनके अंकनका उद्देश्य अवश्य ही आध्यात्मिक था; परन्तु यहाँ शुष्क आध्यात्मिकता नही है, अपितु इसका लौकिक जीवनके साथ भी अपूर्व सामंजस्य है। कलाका मूलाधार भले ही अलक्षित लोक रहा हो। उसके विषय-प्रतिपादनमें आध्यात्मिक भावना—जो भारतीय संस्कृतिकी आधार-शिला है और भौतिक जीवनके अनुभव तथा सारभूत वातें एक सुसंगत और समष्टिके अन्तर्गत हैं। समाजविरुद्ध आध्यात्मिकताके उच्चतम भाव पनप नहीं सकते। इस वातका अजन्ताके कलाकारोंको पूर्ण ज्ञान था। तत्रस्थित चित्रोंमें संसारके प्रति विरत भावनाओंका स्रोत तो फूटता ही है, पर साथ ही साथ सांसारिक सुख-साधन, आमोद-प्रमोद, नाच-गानके भौतिक साधन भी विद्यमान हैं। शिल्पमें कहीं दम्पति प्रणय-जीवनका आनन्द मना रहे हैं, तो कहीं सगीतकी सुमधुर उपासना कर रहे हैं। यहाँ कलाकारकी नीयतकी व्याख्या सचमुचमें कुछ कठिन है, क्योंकि सामयिकताका ध्यान पहले रखना पड़ता है। गुप्तकालीन साहित्यमें जो कलाकारोंकी व्याख्याएँ व्यंग्यात्मक रूपमें आई है, उनका साक्षात्कार हृदय और मस्तिष्क द्वारा अजन्तामें होता है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदय-मस्तिष्क उदार, व्यापक और सामयिक विचारधाराके अनुसार अंकन करनेकी पूर्ण क्षमता रखते थे। तभी तो धर्ममूलक कलाके अलंकरणोंमें भी सामाजिक तथ्योंको चित्रित कर सके। सामाजिक अलंकरण, आभूषण, हावभावोंकी विकासात्मक परम्पराका अध्ययन तवतक अपूर्ण रहेगा, जवतक अजंताके वहुमुखी शिल्प और चित्रोंकी कलाका तलस्पर्शी अध्ययन न कर लिया जाय। भले ही अजंताके

चित्र वर्ग-प्रभावके प्रतीक हों, परन्तु उनमें जानतिक लोकरुचि परिष्कृत रूपमें वर्तमान है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें हमने चित्र एवं शिल्पके अन्योन्याश्रित सम्बन्धोंका संकेत किया है, जिसका साक्षात्कार हम अजंतामें करते हैं। सांचीका शिल्प विश्वमें प्रतिष्ठा पा चुका है। अजंताके शिल्पकी पद्धति एवं वेश-भूषापर साँचीका गहरा प्रभाव है। एवं अजंताकी कलाका प्रभाव हम एलोराकी आठवीं शतीकी गुफाओंमें पाते हैं, परन्तु वहाँ लौकिकता नहीं है। इसका कारण है कि वे चित्र स्वर्गसे सम्बन्धित हैं। कलाकी दृष्टिसे समानता स्वीकार करनी होगी। तिब्बतमें प्राचीन चित्रकलाके कुछ प्रतीक मिले हैं, जिनपर अजंताकी चित्रकलाका स्पष्ट प्रभाव है। श्री राहुलजी कहते हैं—

"तिब्बतके कुछ विहारोंमें कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं जिनका अजंताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोंके फोटो लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।"[1]

बादके भारतीय, विशेषतः जैन-शिल्पमें भी अजंताका प्रभाव पाया जाता है। नैपाल और भोट देशके बहुतसे चित्रपट हमने भी देखे हैं, जिनमें अजंता-की कला कम या वेशी चमकती है।

अजंताकी गुफाओंका निर्माणकाल ई० स० पूर्व तीसरीसे आठवीं शती है। पिछली शताब्दियोंसे अजंता हमारी दृष्टिसे ओझल रहा। ह्यू-आन-चुआङ् भारतवर्षकी यात्रार्थ आया था, उसने इन पंक्तियोंका आले-खन किया है—

"महाराष्ट्रका राजा पुलकेशी है, उसके राज्यकी पूर्व—(दिशामें) की पहाड़ियोंमें संघाराम है। यहाँ नदी-प्रवाहके मूलके पहाड़ोंमें विहार

---

१. पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ २५२।

उत्कीर्णित हैं। उन विहारोंकी भित्तिपर तथागतके जन्मान्तरोंकी कथाके चित्र हैं।"

उपर्युक्त पंक्तियां अजन्तापर ही चरितार्थ होती हैं। यद्यपि यात्री वहां गया न था, पर प्रशंसा सुन चुका था। पंक्ति-वर्णित चित्रोंके अतिरिक्त भगवान् बुद्धदेवके चरित्रकी कथाओंका सफल चित्रण किया गया है। बुद्धदेवका जन्मग्रहण, सम्बोधिप्राप्ति आदि जीवन-विषयक घटनाओंपर प्रभावपूर्ण प्रकाश डालनेवाले बहुत प्रसङ्गोंका सफल चित्रण, कलाकारकी दीर्घसाधित तूलिकाका परिचायक है। इनके अलावा कुछ ऐसे चित्र भी हमने देखे, जिनसे तात्कालिक राज-भवन, रहन-सहन, राजसभा, वेशभूषा आदि सामाजिक व लोक-संस्कृतिका भी भली-भांति परिचय मिल जाता है। जीवनकी स्वाभाविक आनन्द-भावना इनके रङ्ग व रेखाओंमें स्थान-स्थानपर परिलक्षित होती है।

मैं प्रासङ्गिक रूपसे एक बातका उल्लेख करना अत्यावश्यक समझता हूं, वह यह कि वाकाटक व गुप्तकालीन स्थापत्यकलाके पूर्ण भवन, या राजकीय प्रासाद आज उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु अजन्ताके उपर्युक्त चित्र व अमरावती-के शिल्पसे प्रासाद-निर्माण विद्याका अच्छा आभास मिलता है। तात्पर्य कि प्रत्येक शताब्दीके कलात्मक प्रतीकोंपर, उस समयके सार्वजनीन वातावरण-का प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। इस दृष्टिसे अजन्ताके चित्र अनुपम सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय एवं विदेशी विद्वानोंने अजन्ताकी चित्रकलाकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है, उनमेंसे कतिपय ये हैं—श्रीमती ग्रवोस्की[1], सिस्टर निवेदिता[2],

---

१. एंश्यण्ट इण्डिया एंड सिविलाइज़ेशन।

२. फुटफाल्स आफ़ इंडियन हिस्ट्री।

सर आरेल[1] स्टाइन, लारेन्स बिनयान[2], और ग्रिफिथ[3] आदि आदि हैं।

वर्तमान अजन्ताके अस्तित्वका पता ई० सं० १८२४ में जनरल सर जेम्सको लगा, १८४३ में विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता फरगुसनने इसपर विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया। सन् १८४४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी ओरसे इन चित्रोंकी नकलें कराना तय हुआ, और इस कठिन कार्यके लिए मेजर आर० जिलको नियुक्त किया गया। १८५७ तक कार्य चला, परन्तु कुछ काल बाद लन्दनमें आग लगनेसे भस्मीभूत हो जानेके कारण फरगुसनने सरकारसे पुनः आग्रह किया कि इन चित्रोंका पुनः उद्धार किया जाय, तब बम्बई स्कूल आफ आर्टके प्रधान मि० ग्रिफ़ित्सने अपने कला-प्रेमी छात्रोंकी सहायतासे १८७२–८१ तकमें ५० हजार रुपयोंके व्ययसे कुछ प्रतिलिपियाँ तैयार कीं। सं० १८९९ में ग्रिफ़ित्सकी 'अजन्ता' प्रकाशित हुई। यही पुस्तक आज भी प्रामाणिक मानी जाती है। इसकी मूल प्रतिलिपियाँ भारतमें ही रखनेकी मि० ग्रिफ़ित्सकी इच्छा थी, पर वे प्रयत्न करनेके बावजूद भी, सफल न हो सके। ई० सं० १९१५ में लेडी हरिंगहामने श्रीनन्दलाल बोस-जैसे चित्रकारकी सहायतासे प्रासङ्गिक चित्र लिये। १९२६ में औंधनरेश बाला साहब पन्त प्रतिनिधिने, प्रान्तके कई कलाकारोंकी सहायतासे पुनः चित्रलिपियाँ लिवायीं, जिनका प्रकाशन मराठी और अंग्रेजीके विवरण सहित हुआ। १९३६ में रविशंकर रावलने "अजन्ताके कलामंडप" नामक परिचयात्मक पुस्तिका गुजरातीमें प्रकाशित की।

१. एनुवल रिपोर्ट आफ़ आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट आफ़ निज़ाम्स डोमिनियन फ़ार १९१८–१९।

२. अजन्ता फ्रेस्कोज।

३. पैंटिंग्ज इन दि बुद्धिस्ट केव्ज एट अजंटा।

अजन्ता-शैलीकी विदेश-यात्रा

अजन्ताकी कला जिन दिनों उन्नत पथगामिनी थी, उन दिनों चीनमें चित्रकलाका सूर्य मध्याह्नमें था, चीनी यात्री यहाँसे कुछ कलाकारों और चित्रोंको चीन ले गये थे; धर्म साम्य होनेके कारण वे भी तदनुकूल अंकनमें सहायक हो सके होंगे। भारतीय कला अपरभारत द्वारा वहाँपर गयी। चीनी सम्राट् यांग-टी (ई० सं० ६०५-६१७) के दरबारमें खुतनका चित्राचार्य रहता था, वहाँके लेखकोंके अनुसार उसका और उसके पुत्रका, भारतीय शैलीके बौद्ध-चित्र बनानेमें बड़ा ऊँचा स्थान था। (भारतकी चित्रकला पृ० ५८) चीनकी चित्रकला भारतीय कला एवं तदङ्गीभूत अलंकरणसे कितना साम्य रखती है, यह अभी कहना कुछ कठिन है। परन्तु तिब्बत और नेपालकी चित्रकलापर भारतीय प्रभाव पाया जाता है यह स्पष्ट है। *अब हमें देखना चाहिए कि अजन्ताके बाद धर्ममूलक कलात्मक* बौद्ध-चित्र कहाँ मिलते हैं। शैलीका विवेचन यहाँपर अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उसे हम तिब्बतवाले प्रकरणमें देखेंगे। अच्छा तो अब बाघकी ओर मुड़ चलें।

बाघ-गुफा-चित्र

भारतीय-भित्तिचित्रोंकी परम्परामें बाघ-गुफाओंका उल्लेखनीय स्थान है। ये गुफाएँ मध्यभारतके अमझेरा जिलेके छोटे गाँवमें अवस्थित हैं। ग्रामके चारों ओर विन्ध्यकी पहाड़ियाँ, वनोंसे परिवेष्टित हैं। प्रकृतिकी गोदमें, इन गुफाओंका निर्माण सुरुचि-पूर्ण ढंगसे हुआ है। ये गुफाएँ अजन्ताके समान एक ही साथ नहीं हैं, भिन्न-*भिन्न स्थानोंपर बनी हैं। इनकी कुल संख्या ९ है। प्रथम गुफाका तो कुछ* भी महत्त्व नहीं है। दूसरी, जो 'पाण्डवोंकी गुफा' कहलाती है, वह सबसे विस्तृत व सुरक्षित है। यहाँका न केवल शिल्प ही सुन्दर है, अपितु चित्र-कारी भी उत्कृष्ट है, जैसा कि अवशिष्ट रेखाओंसे ज्ञात होता है। यहाँपर

असाववानीसे हमारी कलाकी जो क्षति हुई है, अवर्णनीय है। पर हाँ, यहाँकी बुद्ध तथा बोधिसत्त्वोंकी मूर्तियाँ पर्याप्त संख्यामें मिली हैं। तीसरी गुफाको 'हाथीखाना' कहते हैं। वहाँकी व्यवस्थित निर्माणशैलीसे पता चलता है कि वह भिक्षुओंका निवासस्थान था। इसमें बुद्धदेवकी प्रतिकृति अंकित है। चौथी गुफाको 'रंगमहल' के नामसे पहचानते हैं। वस्तुतः यह रंगमहल ही है। चित्रकलाका यह भण्डार, भारतीय संस्कृति और सभ्यताका अनुपम प्रतीक है। इस गुफाकी चित्रकलाने वाघ-जैसे लघुग्रामको खूब प्रसिद्धि दी। पहाड़को काटकर यह गुफा, इस प्रकार बनी है, मानो व्यवस्थित भवन ही हो। वर्गाकार हाल, चतुर्दिग् बरामदा, चार प्राकृतिक स्तम्भ, इनपर चित्रकारी, और प्रस्तरोत्कीर्णित चतुष्पद चिह्न प्रेक्षणीय है। ४-५वींके चित्रोंकी स्थिति सापेक्षतः अच्छी है। इन चित्रोंका विशेष परिचय छोटेसे निबन्धमें देना सम्भव नहीं, पर हाँ इतना बिना संकोच कहा जा सकता है कि इन चित्रोंमें तात्कालिक भारतीय संगीतके विभिन्न उपकरणोंका अच्छा संग्रह पाया जाता है।

साथ ही तत्कालीन सामाजिक संस्कृतिका अच्छा परिचय मिलता है। नृत्य-मुद्राएँ उस समयकी जनसंस्कृतिको व्यक्त करती हैं। यों तो ये सभी चित्र धार्मिक भावनाको लेकर, भिन्न-भिन्न राजाओंके समयमें चित्रित किये गये हैं, पर इनका समाजमूलक दृष्टिकोण, अजन्ताकी अपेक्षा, यहाँ अधिक व्यापक व तादृश जान पड़ता है। अजन्तामें सामन्तवादी प्रभाव है तो यहाँ जनवादी प्रभावका अन्यतम सम्मिश्रण है। इन चित्रोंमेंसे अधिकका विषय, जीवनकी दैनिक घटना है। साथ ही जीवन-दर्शनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, पर अव्यक्त भावोंको सफलतापूर्वक व्यक्त करते हैं और यही तो उच्चकलाका ध्येय है" जैसा कि सर मार्शल[१] के अधिकारपूर्ण विवेचनसे फलित होता है।

---

[१] The artists, to be sure, have portrayed *their*

बाघके समस्त चित्रोंका अधिकारपूर्ण विवेचन सर जॉन मार्शलने बाघकेव्स में दिया हैं। चित्रकलाकी यह महत्त्वपूर्ण सामग्री अजन्ताका सुस्मरण करा देती हैं। तात्पर्य कि जिन महानुभावोंने उन चित्रोंका साक्षात्कार किया है, वे अनुभव कर सकते हैं, कि अजन्तासे ये किसी भी दृष्टिसे कम सौन्दर्य-सम्पन्न नहीं। यहाँका भी कलाकार अपने आन्तरिक भावोत्कीर्णित करनेमें पूर्ण सक्षम था। यही कारण कि उनमें भाव-व्यञ्जनाकी अनुपम शक्ति है।

सुप्रसिद्ध भारतीय कला समीक्षक श्री हैवेलका अभिमत है कि "बाघ चित्रोंमें औचित्यका बड़ा ध्यान रखा गया है। कौन-सा अंश कितना बड़ा और कितना छोटा होना चाहिए, इस बातपर विशेष ध्यान दिया गया है। बड़ी और छोटी वस्तुओंका सम्मिश्रण इस प्रकारसे हुआ है, वे इस अनुपातके साथ बनाई गई हैं कि आँखोंके सम्मुख एक सम्पूर्ण चित्रोंका खाका-सा खिंच जाता है। इसी कारण बाघके चित्र, चित्रकलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं[१]।

---

subjects direct from life-of that there is no shadow of doubt but however fresh and vital the potrayal may be, it never misses that quality of Abstraction which is indispensable to mural becoration, as it is, indeed, to all truly great paintings.

The Bagh Caves, Page 17

[१] It is the skill with which the artist has preserved the due relation between the major and minor parts of his design, and welded them together into a rich and harmonious whole, with no apparent effort or straining after effect, which entitle this great Bagh painting to be ranked among the highest achievements of its class.

Bagn Caves, Page 65

नारीका स्थान अजन्ताकी भाँति यहाँपर भी पूर्णतया उन्नत व समर्य्याद हैं, जो जीवनकी गतिविधिका परिचायक है। अजन्ताके चित्र परमधार्मिक हैं, तो वाघके चित्र मानव-जीवनसे सम्बद्ध हैं। धार्मिक हैं, पर गौण रूपसे। कारण कि अजन्ताके निर्वाणका भी भिक्षुओंके निवासमें, कलाकारोंके सांसारिक भावना सफलतापूर्वक व्यक्त करनेका अवसर नहीं मिला, पर वाघमें यह वात नहीं थी। इसका अर्थ यह न समझा जाना चाहिए कि इन चित्रोंमें गांभीर्य नहीं है। डा० जे० एच० कजन्सके निम्नांकित शब्दोंपर ध्यान दीजिए—

But while the Ajanta Frescoes are more religious in theme, depicting the incidents from the lives of Budha. The Bagh Frescoes are more human depicting the life of the time with its religious associations. In the Bagh Frescoes the humanity of the theme gives free rein to the joy of the Artist, though the general tone is one of gracious solemnity. The aesthitical element which is latent, almost cold in Ajanta, is Patent and pulsating in Bagh.[1]

Dr. J. H. Kajans

वाघ-गुफाओंका निर्माणकला, प्राच्यतत्त्ववेत्ताओंने लिपिके आधारपर 'गुप्तकाल' स्थिर किया है। अजन्ताका चित्र साम्य भी इसी युगकी पुष्टि करता है।

संख्या २ वाली गुफाकी सफ़ाई करते समय सं० १६८५ में महिष्मती-के राजा सुबन्धुका एक ताम्रपत्र मिला था। उसने ये गुफाएँ बनवाकर बौद्ध-भिक्षुको अर्पित कीं। साथमें पूजाके लिए गाँव भी चढ़ाये। यह घटना

---

१. 'Bagh Caves, page 73-74

ई० सं० ५–६ शतीके आस-पासकी मानी जाती है। मूल-ताम्रपत्र अब 'गूजरी महल संग्रहालय' में सुरक्षित है।

बाघके बाद कन्हेरीकी गुफाएँ आती है। ये टांडा और बोरीवली (बम्बई) स्टेशनोंसे पाँच मीलके फासलेपर है। छोटी-बड़ी सब गुफाओंकी संख्या १०९ है। ९ वीं शतीके लगभग इनका निर्माणकाल माना जाता है। इनका सम्बन्ध महायान-सम्प्रदायसे जान पड़ता है। इन गुफाओंमें भित्ति-चित्रोंका अंकन किया गया था, पर असावधानीसे अब तो कतिपय रेखाओंके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गुफाओंको सर्व प्रथम-प्रकाशमें लानेका यश साल्ट साहबको मिलना चाहिए। बाघ-अंकन पद्धति यों अजन्तासे साम्य रखती है, परन्तु यहांके कलाकार दीर्घ-दर्शी न थे, यदि होते तो आज भी अजन्ताकी नाई उन चित्रोंका अस्तित्व सम्यक् प्रकार रहता।

इन गुफाओंको सर्वप्रथम प्रकाशमें लानेका यश लेफ्टिनेंट डेंगर फिल्ट-को मिलना चाहिए, बादमें डाक्टर इम्पीकर्नल लुआर्डको है। अभी ग्वालियर पुरातत्त्व विभागकी ओरसे रक्षाका समुचित प्रबन्ध है।

तिब्बत

बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकलाके क्रमिक विकास-परम्पराको समझनेके लिए तिब्बतीय चित्रकलाका अनुशीलन भी आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। क्योंकि तिब्बत और भारतीय-चित्रकलाका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। बौद्धधर्म जहाँ गया वह अपनी लाक्षणिकताओंको भी साथ लेता गया। तिब्बतमें सर्वप्रथम बौद्धधर्म ई० सं० ६४० में नेपाली रानी खि-चुनके समय पहुँचा। नेपाल राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोंके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी- (? स्थपति) चित्रकार लायी थीं। सम्भव है इन कलाकारोंने वहाँके सामयिक उपकरणोंको चुनकर अपनी ललित भाव-धारा बहाकर जन-जीवनको कलात्मक भावनाओंसे

ओत-प्रोत कर दिया होगा। अभीतक हमने केवल भित्ति-चित्र ही देखे थे। भित्ति-चित्रोंका प्रचार एक दृष्टिसे अच्छा ही था, कारण कि वे ऐसे स्थानोंमें अंकित रहते थे, जहाँपर मानवमात्र उनसे अनुप्राणित हो सकता था, अर्थात् भित्ति-चित्रोंकी बौद्ध परिपाटी एक तरहसे समाजमूलक थी। अब चित्रकलाके उपकरणोंमें परिवर्तन होने लगा। अर्थात् भित्तिचित्रोंके अतिरिक्त काष्ठ फलक एवं स्तम्भोंपर चित्र बनने लगे थे। यों तो हर्षके कुछ काल बाद नेपाल भी चित्रकलाका एक केन्द्र बना हुआ था। नेपाल उन दिनों कलाकी दृष्टिसे भारतका एक अंग था। चीन व भोटमें भारतीय कलाका सामंजस्य पाया जाता है। हमारा ख़याल है कि बौद्धोंकी जबतक चित्र विषयक परम्परा क़ायम रही, तबतक कलाके द्वारा एक दूसरे प्रान्तके लोगोंसे सरलतापूर्वक मिला जा सकता था।

ल्हासाके मन्दिरोंमें जो चित्र उस समय अंकित किये गये थे, चीन और भारतीय कलाकारोंकी देन थे। परन्तु उस देशकी जलवायुके कारण वे कलात्मक कृतियाँ आज अनुपलब्ध हैं। कारण कि तिब्बतमें काष्ठका अभाव रहता था, अतः पक्की दीवार बनानेकी प्रथाका सूत्रपात न हो सका। जब-जब पलस्तर टूटने लगता तब-तब वहाँके लोग उसे हटाकर उसके स्थानपर नूतन चित्र चित्रित करवाते थे। अतः स्वाभाविक रूपसे तिब्बतीय प्राचीन भित्ति-चित्र उपलब्ध नहीं होते। इससे विदित होता है कि मजबूत पलस्तर बनानेकी कलासे तिब्बतके लोग अनभिज्ञ थे। सामयिक परिवर्तन होते ही रहते हैं। हर युग अपनी समस्या रखता है। कला भी युग-प्रभावसे बच नहीं सकती। अतः तिब्बती चित्रकलामें समय-समयपर बहुत बड़े परिवर्तन हुए। हाँ; इतना अवश्य है कि उस कालकी बनी प्रस्तर और काष्ठकी जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनपरसे हम सहजमें ही अनुमान लगा सकते हैं कि, उन दिनों चित्रकलाकी विकास परम्परा कहाँ तक अपनी जड़ जमाये थी। शिल्प-चित्रोंका पारस्परिक इतना मेल देखनेमें आता है कि कभी-कभी कहना कठिन हो जाता है कि किससे कौन प्रभावित है।

तिब्बतकी शिल्पकला भी भारतकी तक्षण कलासे बहुत प्रभावित है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि उसके अधिकतर निर्माता शुद्ध भारतीय कलाकार थे, या ऐसे कलाकार थे, जो भारतीय कलाके विभिन्नतम अलंकरणोंके सौन्दर्यसे प्रभावित थे। दूसरी तिब्बतीय शिल्पकलामें जो अलंकरण व्यवहृत हुए हैं, वे विशुद्ध भारतीय हैं। तिब्बतीय शिल्प और चित्रकलाके बहुतसे प्रतीक हमने देखे हैं, उनपरसे हमारा निश्चित मत बन गया है कि विशेषतः मागधी शिल्पकलाके तत्त्व वहाँ बहुत अधिक अंशमें विकसित हुए। राजनैतिक इतिहास भी इस बातका साक्षी है। आठ-नौ शतीमें बंगाल विहारके शासक बौद्ध-धर्मके अनुयायी, पोषक और प्रचारक थे। और शिक्षा-दीक्षाके आसनपर बौद्ध-साधु विराजमान थे। धर्मपाल (७५६-८०९) के द्वारा विनिर्मित ओद्यन्तपुरि-विहार शरीफके महाविहारके तौरपर ८२३-३५ ई० के बीच बसन्-यस्का विहार बना है। बौद्धभिक्षु भी चित्रकार[1] थे, जिनमें शान्तिरक्षितके शिष्य विरोचन-रक्षित मुख्य हैं वे भोट देशके थे। भोटके प्राचीन चित्र न मिलनेका एक कारण यह भी जान पड़ता है, जो वैज्ञानिक भी प्रतीत होता है, वहाँपर चित्रोंकी बाहुल्यता तो थी, समाजमें कलाप्रेम भी था, परन्तु कलाभिरुचि होते हुए भी यदि विवेक न हो तो वह प्रेम शत्रुताके रूपमें परिणत हो सकता है। वहाँ दीवालपर ज्यों ही चित्र खराब होने लगते, या मलिन हो जाते तो तुरन्त ही वहाँके लोग परिष्कारमें लग जाते फल यह होता कि उनदिनोंकी जो मौलिक कलात्मक परम्परा चली आ रही थी, उसकी हत्या हो जाती। उन लोगोंका ध्येय केवल इतना ही था कि स्वच्छ चित्र हो, तो रोज उनसे प्रेरणा प्राप्त की जाय। कमी थी केवल कलात्मक कृतियोंके प्रेमके

---

१. ईस्वी पूर्व छठवीं शतीमें चित्रकलाके व्यापक प्रचारको देखकर बुद्धने अपने अनुयायियोंको उसमें प्रवृत्त न होनेकी आज्ञा दी थी, पर बादमें इस परम्पराका अनुसरण नहीं किया गया प्रतीत होता है।

पीछे विवेक की। अतः भोट देशकी प्राचीन चित्रोंकी परम्पराके सम्बन्धमें तत्कालीन मूर्तियोंसे ही सन्तोष करना पड़ रहा है। यहाँपर कुछ ऐसे भी चित्र प्राप्त हुए हैं जो नेपाल, तिब्बत और भारतमें बने हैं बौद्ध-साधुओं द्वारा धार्मिक एकसूत्रताके कारण वे वहाँ पहुँच गये थे।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे प्रमाणित होता है कि भित्तिचित्रोंका उत्कृष्ट रूप केवल मध्यकालसे ही मिलता है। यद्यपि तिब्बतमें तो बादमें भी प्रत्येक शताब्दीके भित्ति-चित्र मिलते हैं जो मठोंकी दीवारोंपर चित्रित हैं। उनमेंसे कुछ ऐसे हैं, जिनपर समय-समयपर ज्यों-ज्यों रंग बिखरता गया त्यों-त्यों बादके लोग रंग भरते गये। परन्तु रेखाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। मध्यकालके बाद भले ही भित्ति-चित्रोंकी परम्परामें कला सर्वांगीण रूपसे साकार न हो सकी हो; परन्तु वस्त्र एवं कागजपर तो बहुतसे ऐसे कलात्मक प्रतीक मिले हैं, जिनपरसे बिना किसी हिचकके कहा जा सकता है, कि तिब्बतीय चित्रकला जिस रूपमें मध्य-कालसे भित्तिचित्रोंमें विराजमान थी, ठीक वैसे ही अभिलषित कालमें, इनपर थी। इस विषयकी पूर्ण विवेचना तो स्वतन्त्र निबन्धका विषय है।

भोजपत्र

अब हम बौद्ध चित्रकलाके उस रूपको लें, जो काग़ज़, तालपत्र, भोजपत्र, और काष्ठ तथा वस्त्रोंपर पायी जाती है। यहाँपर हम प्रासंगिक रूपसे सूचित कर दें कि कलाकार भिन्न-भिन्न समयके उपकरणोंको अपनाकर अपनी साधनाकर मानव-जीवन एवं प्रकृतिके सौन्दर्यको तादृश रूपमें उपस्थित करता है। जिस युगकी हम चर्चा कर रहे हैं वह पाल युग है। बङ्गाल, बिहारपर उस वंशका उन दिनों प्राधान्य था। वे न केवल बौद्ध धर्मके अनुयायी ही थे, अपितु चित्र और शिल्प कलाके परम उन्नायक भी। इस कालकी जो कलात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें 'प्रज्ञा-पारमिता'की कृतियाँ ही अधिक हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्धोंके महायान सम्प्रदायसे है।

काग़ज़पर तिब्बतमें कबसे चित्र अंकित होने लगे, नहीं कहा जा सकता। लेखन एवं विभिन्नतम चित्रकलाके उपकरणोंका अनुशीलन करनेके बाद विदित होगा कि प्रथम लेखन एवं चित्रकलामें भोजपत्रका उपयोग विशेष रूपसे होता था। प्रथम भुर्जपत्रको ठीकसे काटकर ओपनीसे घोंटकर काममें लिया जाता था। अधिक स्निग्ध बनानेके लिए नमकके पानीके छींटे दिये जाते थे। भोजपत्रपर अंकित कृतियाँ बहुत ही अल्प मिलती हैं। अत्यन्त कोमल होनेके कारण तथा एक स्थानसे खण्डित होनेके बाद उनकी रक्षा कदली पत्रवत् असम्भव हो जाती है। नागार्जुनकी योग रत्नमाला एवं कारिकावलीकी दो प्रतियाँ हमने अपने कलकत्तेके प्रवासमें एक लामाके पास देखी थीं, जिनमें दस एवं सात चित्र थे। इन चित्रोंके चेहरोंपर कुछ मङ्गोलका प्रभाव पाया जाता है। वह उस देशके मानवरूपका है। अतीव परितापपूर्वक लिखना पड़ रहा है कि क्षुद्र स्वार्थके लिए लामाजीने वह प्रति मेरे माँगनेपर भी न देकर, अमेरिकाके एक प्रोफेसर डा० विलियम नार्मन ब्राउनको चार हज़ारमें बेंच दी। ब्राउन साहबने इसका आलेखन काल विक्रमकी ११ वीं शती स्थिर किया था। वर्तमानमें तो भोजपत्रका उपयोग केवल मन्त्र और सिद्धिदायक यन्त्रोंके नामपर उदर-पूर्ति करनेवाले ही करते हैं। कश्मीरमें भी कुछ प्रतियाँ भोजपत्रोंपर लिखित पायी गयी हैं।

तालपत्र

तालपत्र भोजपत्रकी अपेक्षा टिकाऊ और लिखनेमें भी सुविधाजनक होते हैं। राजतालके पत्तोंको समान रूपसे सुसंस्कारितकर लकड़ीसे दबा दिया जाता था। घुटाईके बाद लोहेकी क़लमसे उसे गोद दिया जाता था। बादमें मषि फिरा दी जाती थी। कभी-कभी स्याहीसे लिखनेकी भी प्रथा थी। इनपर चित्र भी अंकित किये जाते थे, जिनमें लाल, नीला, पीला, सफ़ेद, काला, गुलाबी और सिन्दुरीय रंगका व्यवहार अधिक रूपसे होता

था। पटना निवासी कलाप्रेमी श्रीमान् दीवान बहादुर राधाकृष्णजी जालानके यहाँ हमने बौद्ध-व्याकरणकी एक ऐसी सचित्र प्रति देखी थी, जिसके पत्र तीन-तीन पत्रोंका एक जैसा लग रहे थे। ठीकसे देखनेपर मालूम हुआ कि प्रतिको अधिक कालतक सुरक्षित बनाये रखनेके लिए किसी स्निग्ध द्रव्यसे पत्रोंको सम्पुट कर दिया गया था। चित्र भी बहुत ही मनोरम थे। एक प्रति खण्डित थी। तालपत्रपरके पालकालीन जो चित्र हमने देखे हैं, उनका सामंजस्य पालयुगीन शिल्प-कलामें दृष्टिगोचर होता है। पालकालीन चित्रोंकी यही सबसे बड़ी विशेषता है कि चित्र और शिल्पकी रेखाओंका सूक्ष्मावलोकन करें तो पता चलेगा कि एक ही कलाकार की दो कृतियाँ तो नहीं हैं! यहाँसे जैनोंने भी ताड़पत्रोंको लेखन एवं चित्र-कलामें स्थान दिया। जैनोंके आलेख-विषय एवं शैली भिन्न थे। कलाकारोंने इसे अपभ्रंश शैली कहा है। जैन-चित्रकलाके तत्त्वोंका इतिहास एलोराकी शिल्पकलामें अन्तर्निहित है। बौद्धतालपत्रोंपर लिखित चित्रोंको हमने देखा है। उससे कह सकते हैं कि तालपत्रपर चित्रकलाका जितना विकास जैनोंने किया, उतना बौद्धोंने नहीं। सम्भव है इसलामके आक्रमणोंके कारण बौद्ध-कलाके प्रतीक नष्ट हो गये हों। क्योंकि जैनोंकी अपेक्षा बौद्ध इसलामके आक्रमणोंके भोग अधिक बने थे। तालपत्रोंपर जो बौद्ध-चित्र पाये जाते हैं उनके यों तो कई विषय हैं; परन्तु उनमें अवलोकितेश्वर, तारा, वज्र, सिद्ध एवं बुद्धदेवकी विभिन्न मुद्राएँ एवं प्रधान लामाओंके चित्र प्रमुख हैं। इन चित्रोंपर पर्यवेक्षणात्मक दृष्टिसे अध्ययन होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। संक्षेपमें इन चित्रोंपर इतना ही कहा जा सकता है कि पालयुगीन शिल्प-स्थापत्य-शैलीको समझनेकी सबसे बड़ी साकार साधन-सामग्री ये चित्र ही हैं।

पालवंशीय नरेश धर्मसे बौद्ध थे। अतः उनके द्वारा बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकलाका विकास होना स्वाभाविक था। सूचित समयमें—अर्थात् जब भित्तिचित्रोंकी परम्परा अन्तिम साँसें ले रही थी, तब ग्रन्थस्थ चित्रकला पूरे

जोरसे पनप रही थी। इनका कारण उस समयकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति भी थी। बंगाल, बिहार और नैपालमें १०वीं शती तक "प्रज्ञापारमिताकी कलात्मक प्रतियोंका सृजन खूब हुआ। इनका नाप २४३" × २३" होता था। इन प्रतियोंमे व रक्षार्थ बांधी जानेवाली काष्ठ पट्टिकाओंपर जो चित्र अंकित रहते थे, उनमें मुख्यतः देवदेवी व महायान—सम्प्रदाय मान्य भाव-चित्र थे। हां किसी-किसी प्रतिमें बुद्धदेवके जीवनकी बोधप्रद घटनाएं व जातकोंके शिष्ट व आकर्षक भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। नैपालकी चित्रकलापर भी पाल प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसका कारण धर्म साम्य ही ज्ञात होता है। तिब्बतीय प्रभाव भी उन दिनों नैपालमें कम न था। स्रोङ्चनगंबोने अपनी एक पुत्री नैपाल व्याही थी। वह बौद्ध थी। ई० स० ७८७में तिब्बतका निमन्त्रण पाकर, नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य शान्तिरक्षित तिब्बत गये थे। तदनन्तर दीपंकर श्रीज्ञान, जो विक्रमशिला विश्वविद्यालयके आचार्य थे, १०४०-४२ में तिब्बत गये थे। भारतीय धार्मिक इतिहाससे स्पष्ट सिद्ध है कि उसने कलाके विकासमें बड़ा योग दिया है। उपर्युक्त आचार्यों द्वारा भारतीय कला तत्त्व भी तिब्बत पहुँचा, और क्रमशः विकसित हुआ। १०वींसे १२ वीं शतीके तिब्बत व नैपालके चित्र प्रतीकोंपर दृष्टि केन्द्रित करें तो ज्ञात हुए बिना न रहेगा कि पाल कलाका प्रभाव उभयदेशीय प्रतीकोंपर कितना पड़ा है। यहींसे इस शैलीने चीन व मंगोलियाकी ओर प्रस्थान किया, पर भारतीयता बनी रही।

नैपालमें चीनी प्रभाव भी है, मंगोल भी। इसका कारण है नैपाली मनुष्योंका रूप।

प्रसंगतः एक बातका उल्लेख *करना अत्यावश्यक* जान पड़ता है कि पालकालीन चित्र व मूर्तिकलापर अजन्ताका खूब ही प्रभाव है। बौद्धविज्ञ तारानाथका यह उल्लेख मूल्यवान् है कि "जहां-जहां बौद्धधर्म था, वहां सापेक्षतः कलाका ह्रास कम हुआ।"

काष्ठ

यद्यपि काष्ठ कठोर है; परन्तु कलाकारोंकी दुनियामें वह भी समादृत हुआ। भारतीय गृह-निर्माण कलामें तो काष्ठका स्थान शताब्दियोंसे उच्च रहा है और आज भी कुछ प्रान्तोंमें है। तालपत्रकी प्रतियाँ सुरक्षित रखनेके हेतु उनके दोनों ओर काष्ठ लगाकर मध्य भागमें रस्सीसे पिरोकर रक्खी जाती थीं। उन दिनों कला भारतीय जनजीवनमें इतनी ओतप्रोत थी कि ये पट्टिकाएँ भी कलाका प्रतीक बन गईं। उनके भीतरी भागको संस्कारित कर किसी विशेष ढंग द्वारा पृष्ठभूमि बनाकर चित्रांकनकी पद्धति थी। तिब्बतमें तालपत्रके बाद जब काग़ज युग आरम्भ होता है तब काग़जोंको भी उतनी ही लम्बाई और तालपत्रोंसे चौगुनी चौड़ाईसे काटा जाता था। तदुपरि जो पट्टिकाएँ सुरक्षाके निमित्त रक्खी जाती थीं वे तालपत्रकी प्रतियोंकी अपेक्षा अधिक मोटी हुआ करती थीं। इनके ऊपरी भागमें बौद्ध संस्कृतिसे सम्बन्धित विशिष्ट प्रसंगोंका उत्खनन रहा करता था, ग्रन्थ रखनेके लिए छोटे-मोटे जो डिब्बे बनवाये जाते थे वे भी कलापूर्ण हुआ करते थे। उपर्युक्त जालान महोदयके संग्रहमें हमने एक अत्यन्त विशाल धर्मासन देखा जो विशुद्ध काष्ठका एवं भगवान् बुद्धकी जीवन-घटनाओंसे अंकित था। यह तिब्बती चित्रकलाका उत्कृष्ट प्रतीक था। इसकी खुदाई इतनी आश्चर्यजनक है कि धागों तकका प्रदर्शन कलाकारने बड़ी कुशलताके साथ किया है। पुष्पोंकी पंखुड़ियाँ एवं लताएँ बहुत स्पष्ट हैं। कलियोंका स्पष्टीकरण आश्चर्यजनक है। इसपरसे उन दिनोंकी उद्यान-संस्कार कलाका भी सूक्ष्माभास मिल जाता है। इसपर स्वर्णका काफ़ी काम है। काष्ठफलकोंपर अन्यत्र भी स्वर्णका कलात्मक प्रयोग देखा जाता है। बर्माके राजसिंहासनसे कौन अपरिचित होगा।

काग़ज़

समयके साथ कलाके तत्त्व और उपकरणोंमें भी परिवर्तन हुआ करता

है। ज्यों-ज्यों कलाकारोंके सम्मुख नवीन एवं सुविधाजनक उपकरण उपस्थित होने लगे त्यों-त्यों कला अवनतिके गर्तमें पड़ती गई। कलाकारोंकी कल्पना-शक्ति कुण्ठित हो गई। उनके हृदयमें कलाके वास्तविक तत्त्व न रह गये। उनका चिन्तन-प्रदेश अत्यन्त सीमित हो गया। सुकुमार भावनाओंका स्थान कठोरताने ले लिया। स्पष्ट कहा जाय तो उन दिनोंका कलाकार पारस्परिक संस्कारोंसे किंचित् ही प्रभावित था। अतः उनके हृदय व मस्तिष्क भावनाहीन थे। केवल हस्त ही काम कर रहे थे। काग़ज़पर कलाकारको तालपत्रकी अपेक्षा आन्तरिक सात्त्विक मनोभावोंको व्यक्त करनेका अधिक स्थान मिलता है। परन्तु जब वस्तु आती है तब परिस्थिति या वायुमण्डल प्रतिकूल रूप धारण कर लेता है। काग़ज़पर लिखे हुए जो बौद्ध-चित्रकलाके ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उन्हें हम अपनी सुविधाके लिए तीन भागोंमें बाँट दें तो अनुचित न होगा।

(१) प्रथम भागमें हम उन ग्रन्थगत चित्रोंको ले सकते हैं जो आकृतिमें तालपत्रीय ग्रन्थोंका अनुधावन करते हैं; अर्थात् कटाई-छटाई उसीके अनुरूप है। इन काग़ज़पर पाये जानेवाले चित्रोंमें केवल रंग-वैचित्र्य ही पाया जाता है। परन्तु रेखाओंमें वह सौंदर्य नहीं है जो सर्वसाधारण-को आकृष्ट कर सके। इसीलिए बौद्ध चित्रकला काग़ज़पर अवतरित होकर ह्रासोन्मुख हो गई। इन काग़ज़ोंपर स्वर्णकी स्याहीका भी उपयोग किया जाता था। रंगोंमें तालपत्रके अतिरिक्त हरा, बैंगनी आदि रंगों-का भी व्यवहार काफ़ी था। हाँ रंग जितने चमकीले थे उतनी ही रेखाएँ भद्दी थीं।

(२) द्वितीय विभागमें उन ग्रन्थोंको लिया जा सकता है जो काग़ज़-पर विशिष्टरूपसे लिखित थे। बर्मा और तिब्बतके कुछ हिस्सेमें ऐसी परि-पाटी रही थी जो काग़ज़ या तालपत्रोंपर चमड़ेकी मोटी पालिश कर कला-कार लिखने योग्य बनाते थे। ये सबसे अधिक टिकाऊ और कलाकी दृष्टिसे मूल्यवान् हैं। कलाकारको अपनी समस्त भावनाओंको व्यक्त करनेकी

काफी गुंजायश है। इन ग्रन्थोंको चित्रकलाकी कोटिमें हम इसीलिए गिन रहे हैं कि ये ग्रन्थ लेखनकला प्रधान होते हुए भी उनपर जो बेल-बूटे और कलात्मक भावमूलक रेखाएँ पाई जाती हैं वे अन्यत्र नहीं मिलतीं। इन ग्रन्थोंमें चित्र भी इस प्रकार सुरक्षित रहे हैं कि मानो अभी ही इनका निर्माण हुआ हो। इस कलामें वर्मा सबसे आगे रहा। वहाँपर पत्रोंको मज़बूत करनेके लिए चमड़ेका भी प्रयोग किया जाता था।

(३) तृतीय भागमें वे ग्रन्थ लिये जा सकते हैं जिनका आलेखन तिब्बतमें हुआ। कलाकार इन पूरे काग़ज़ोंको काले या किसी अनुकूल रंगसे रँग लेते थे। बादमें स्वर्ण या किसी स्याहीसे लिखते थे। इनमें जो चित्र पाये जाते हैं वे काफ़ी छोटे होते हैं। परन्तु फिर भी बौद्ध-ग्रन्थ चित्रकलाका प्रतिनिधित्व करनेकी उनमें क्षमता है। जैनोंमें भी काग़ज़ोंको रँगकर स्वर्णकी स्याहीसे लिखनेकी परिपाटी रही है।

काग़जपर बौद्ध-चित्रकलाके प्रतीकोंपर जहाँ तक हमारा खयाल है न तो समुचित अध्ययन ही हुआ है और न प्रकाशन ही। जहाँ तक चित्रकलाका प्रश्न है काग़ज़ युग बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि काग़ज़ युगमें कलाकी आराधना न केवल सामन्त वर्ग ही करता था अपितु साधारण जन भी कला-कृतियोंसे अपने गृहोंको सुशोभित कर अपनी कला-पिपासा तृप्त करते थे। इस विभागमें हम उन विस्तृत काग़ज़-पटोंको लें जो तिब्बतमें आज भी बहुतायतसे पाये जाते हैं। पत्र वेष्टनात्मक कृतियाँ खासतौरसे चित्रलेखनके लिए ही निर्मित हुआ करती थीं। जहाँ तक हमारा खयाल है इस प्रकारकी कलात्मक कृतियोंके पीछे बौद्ध साधुओंकी सुविधाओंका लक्ष्य ही प्रतिध्वनित होता है। साथ-ही-साथ अधिक काल तक सुरक्षित भी उन्हीं उपकरणोंके द्वारा चित्रोंको रक्खा जा सकता था। काष्ठ, बाँस या टिनके डिब्बे भी केवल इन्हींके लिए तिब्बतमें बनाये जाते थे। जिन पर वहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य अंकित रहा करता था, ऐसे नमूने जालान संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। कभी-कभी बौद्ध लोग चमड़ेको भी चित्रकलाका

उपकरण बनाते थे। कलकत्तेके स्यामाके पास एक चित्र हमने इसी पद्धति-का देखा था।

वस्त्र-चित्र

भारतीय चित्रकलाके इतिहासमें वस्त्रोपरि आलेखित चित्रोंका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम वस्त्रोंपर चित्रालेखन-पद्धतिका विकास कबसे हुआ और किस देशमें हुआ। भित्ति-चित्रोंके बाद कलाकारोंको अपने भाव व्यक्त करनेका पर्याप्त स्थान वस्त्रोंमें ही मिला। तिब्बत और भारतीय चित्रकलाके उत्कृष्ट प्रतीक वस्त्रोंपर ही पाये जाते हैं। इस प्रकारकी चित्राकन-पद्धतिका विकास किस शताब्दीमें भारत या तिब्बतमें अधिक हुआ, इसका विचार कर लेना आवश्यक है। क्योंकि भारतमें जो चित्रपट उपलब्ध हुए हैं, वे तेरहवीं शताब्दीके बादके हैं। तिब्बतसे प्राप्त चित्रपटोंका अध्ययन हमने प्रत्येक कालके शिल्प, स्थापत्य कलाके प्रतीकोंके साथ तुलनात्मक ढंगसे किया है। अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भारतकी अपेक्षा वस्त्रोंपर चित्रकलाका विकास तिब्बतमें ही प्रथम हुआ, जिसका ठीक संवत् ज्ञात न होनेपर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध कालमें ही तिब्बतीय बौद्ध-भिक्षु या कलाकारोंने वस्त्रको कलाका उपकरण मान लिया था। वस्त्र भी एक प्रकारसे यदि भित्तिचित्रका प्रतीक मान लें तो अत्युक्ति न होगी। वस्त्रपर चित्रकलाका विकास सम्भवतः इसलिए भी हुआ हो कि दीवालपर देशकाल प्रभावके अनुसार रंग-रेखाएँ मिटनेके कारण चित्रोंकी दशा दयनीय हो जाती थी। अतः कलाकार वस्त्रपर प्रासंगिक आलेखनकर दीवारपर लटका देते होंगे। सुरक्षाकी दृष्टिसे भी वस्त्र बिलकुल उपयुक्त है। वस्त्रपर चित्राकन करनेकी पद्धति तिब्बत और भारतमें प्रायः एक-सी रही है, विकास-काल अवश्य भिन्न रहा। सर्वप्रथम वस्त्रपर बहुत पतली चावलकी लेई या

गाढ़ा माड़ वनाकर लेप कर दिया जाता था और छाँहमें सूखनेके लिए रख दिया जाता था। धूपमें सुखानेसे कड़ा हो जानेका भय था। तदनन्तर ओपनीसे पानीके छींटे देकर वस्त्रकी घुटाई की जाती थी। वादमें बाँसकी चारों ओर कँमचीमें वस्त्रको रखकर चित्र वनाये जाते थे।

वौद्ध-चित्रकलासे सम्वन्धित जितने भी उच्चतम कलापूर्ण प्रतीक उपलब्ध हुए हैं उनमें ग्रन्थापेक्षया चित्रपटोंका स्थान वहुत ऊँचा और रंग-वैचित्र्य सूक्ष्मता, सुकुमारता, रेखाएँ आदि अनेक दृष्टियोंसे वहुत महत्त्वपूर्ण हैं। रेखाएँ किसी भी देशकी चित्रकलाकी आत्मा हैं, रंग देह। परन्तु यहाँ दोनोंका सौन्दर्य प्रतिविम्वित हुआ है। रेखाओंके विकासमें वौद्ध कलाकार वहुत आगे रहे हैं। एक-एक रेखामें चित्रकी आत्मा वोलने लगती है। वस्त्र-पर चित्र आलेखनके भी कई प्रकार हुआ करते थे। कुछ चित्र ऐसे मिलते हैं जिनकी लम्बाई चौवीस फुटसे कम नहीं। इस प्रकारके चित्र अधिकतर वोधिसत्त्व, मारविजय एवं सिद्धोंके ही मिलते हैं। जहाँतक हमारा अनु-मान है इन चित्रोंको मन्दिर, मठ या किसी श्रीमन्तके खास घरानोंमें सजानेके काममें लाते होंगे। चारों ओर जरीका काम देखा जाता है। इण्डियन म्यूजियमकी आर्ट गेलेरीमें जाकर देखिए तो पता चलेगा कि वौद्ध वस्त्र-चित्रण कितने सुन्दर पाये गये है जिनमेंसे वहुतोंका निर्माण नैपाल एवं तिव्वतमें ही हुआ है। हम कल्पना कर सकते हैं कि भारतमें भी इस पद्धतिका प्रचलन विक्रमी नवीं या दशवीं शताब्दीमें अवश्य ही रहा होगा। असम्भव नहीं कि दीपंकर श्रीज्ञान जव तिव्वत गये तव कलात्मक प्रतीक या वैचारिक परम्परा ले गये थे, एवं इसी पद्धतिका पूरा विकास धर्मका सहारा पाकर भोट, तिव्वत और नैपालमें हुआ हो।

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय वावू पूर्णचन्द्र नाहर एम० ए० वी० एल० तथा कलाप्रेमी स्व० वावू वहादुरसिंहजी सिंघीके संग्रहमें वौद्ध चित्रकलाके अच्छे प्रतीक सुरक्षित हैं जिनमें सिद्धों, गन्धकुटी, वुद्धदेवका सम्पूर्ण जीवन और ऐसे ही कुछ विशिष्ट प्रसंगों-लामोदिकोंका अंकन

सन्निविष्ट है। जहाँ तक हमें स्मरण है बौद्ध वस्त्र चित्रकलापर अभीतक समुचित अन्वेषण नहीं हुआ है, न भारतीय कलाप्रेमी विद्वान् ही इस ओर अभीतक आकृष्ट हैं। गतवर्ष मुझे छः मास पटनामें रहनेका सुअवसर मिला था। वहांके सुप्रसिद्ध नागरिक श्रीमान् राधाकृष्णजी जालानने अतीव परिश्रम करके कपड़ेपर आलेखित चित्रों का जैसा सुन्दर और चुनिन्दा संग्रह किया है, भारतमें वह सचमुच अनुपम है। तेरहवीं शताब्दीसे लगातार अठारहवीं शताब्दी तककी बौद्धकलाका जीवित रूप उनमें सुरक्षित है। हमने इनको सरसरी तौरसे देखा तो भी ढाई माससे अधिक समय देना पड़ा। यदि कोई पारखी कलाकार उनको रंग-रेखा और तत्कालीन शिल्प-स्थापत्यकी रेखाओंके साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करे तो सुनिश्चित रूपसे कलाके क्षेत्रकी एक दिशा अवश्य ही आलोकित हो उठेगी। उपर्युक्त चित्रोंका महत्त्व चित्रकलाके समस्त अगोंकी दृष्टिसे अंकित किया जाना चाहिए। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दीके कुछ ऐसे भी पट हैं जो बने हैं नैपालमें, परन्तु उनमें भारतीय शिल्प-स्थापत्य-कलाके तत्त्व बिखरे पड़े हैं। यहांपर सहज ही राहुलजीकी निम्नांकित पंक्तियाँ याद आ जाती हैं।

"तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीका एक बड़ा संग्रह सपोस-खड्ग (ग्यांचिके पास)में है। सपोस-खड्गका एक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पड़ता है। इन चित्रोंपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। उस शताब्दी-के दो दर्जन सुन्दर चित्रपट स-सक्य मठके ग़ु-रिम-ल्ह-खड्गमें है।"[1]

उन दिनों तिब्बतमें स्वर्णका उपयोग भी बहुतायतसे होता था। उपर्युक्त संग्रहमें कुछ ऐसे भी पट हैं जिनकी लम्बाई ७५ फ़ीटसे कम नहीं। इनमें कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो समझमें नहीं आ सकते। जातक कथाओंका भित्तिचित्रोंपर अंकन मिलता है, परन्तु इन वस्त्रपटोंपर भी बहुत-सी जातक

---

१. राहुल सांकृत्यायन—'तिब्बतमें चित्रकला' (निबन्ध)।

कथाओंके भाव अंकित हैं। इनमें एक वस्त्रपट हमने ऐसा देखा जिसकी लम्बाई ५० फ़ीटसे कम नहीं। आश्चर्य इस बातका है कि यह मुग़ल कलाका प्रतिनिधित्व करता है। पगड़ी शुद्ध मुग़ल है और स्थान-स्थानपर भगवान् बुद्ध अपने अनुयायियोंके बीच उपदेश देते हुए बताये गये हैं। कहीं पहाड़ोंमें साधु-सन्यासी उपदेश देते बताये गये हैं। हो सकता है कि वे सिद्ध ही हों और तप कर रहे हों। नित्य पर्यटन होता है। तम्बू लगे हैं, अश्व एवं हाथियोंपर मुग़लकालीन आभूषण पहने नागरिक विराजमान हैं। अन्त भागमें सुविस्तृत नागर शैलीका शिखरयुक्त मन्दिर भी दृश्यमान है। इन सब भावोंका धार्मिक महत्त्व चाहे जैसा भी हो, परन्तु हमारे लिए तो सबसे विचारणीय समस्या यह है कि मुग़लकालीन कलाकारोंके द्वारा इस कृतिका निर्माण कहाँ, क्यों, कैसे और किसलिए हुआ? कारण कि मुग़लोंके समयमें बौद्धोंका अस्तित्व नहींके बराबर था। यह एक ऐसा चित्रपट है जिसपर कलाकारोंको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। इतना तो निश्चित कह सकेंगे कि इस पटका सम्बन्ध जैन-संस्कृतिसे नहीं है। कारण बहुत स्थानोंपर उसमें बुद्धदेवकी विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित हैं, जिसपर नैपालका भी कुछ प्रभाव है। जैसे कि चपटी नासिका, प्रत्येक चित्रके अधोभागमें गद्य-पद्यात्मक उल्लेख भी देवनागरी लिपिमें हैं; पर ये अस्पष्ट हैं। एक बात अवश्य समझमें आ सकती है कि पट काँगड़ा कलमका नमूना हो, या उसका प्रारम्भिक रूप हो। उपर्युक्त पटोंमेंसे यद्यपि कुछ तो विशुद्ध धार्मिक हैं, अवशिष्ट तन्त्रोंसे सम्बन्धित हैं। इनमें कुछ ऐसे भी भयंकर चित्र हैं जिन्हें देखकर भय लगता है। कुछ चित्र अश्लील भी हैं। उपर्युक्त संग्रहमें कुछ वस्त्र चित्र ऐसे हैं जिनको दूरसे देखनेसे पता चलता है कि वे रंगरेखाओंसे समलंकृत हैं, परन्तु सचमुचमें उनकी बुनावट ही ऐसी है कि मानो तूलिका द्वारा ही आलेखन हुआ हो। इस प्रकारकी बनावट भारतमें भी सत्रहवीं शतीमें थी। वर्तमानमें भी बालिकाएँ इस प्रकारकी कलाका प्रदर्शन किया करती हैं।

चौदहवीं शताब्दीके बाद वस्त्रोंके ऊपर चित्र बनानेकी पद्धतिका विकास पश्चिमी भारतके जैनोंने ही किया। उन दिनों बौद्धधर्म क्षतविक्षत हो चुका था। तिब्बतमें उपर्युत कालमें भी कलाकी आराधना पूर्ववत् पाई जाती है। पीली टोपीवाले सम्प्रदायके मठोंमें इस प्रकारकी कलात्मक सम्पत्ति पर्याप्त रूपसे पाई जाती है। भिक्षु एवं भिक्षुणी भी खास तौरसे चित्रकलाका अभ्यास करनेमें गौरव समझते थे। सत्रहवीं शताब्दीमें तिब्बतमें अनेक चित्रकार उत्पन्न हुए। इन चित्रकारोंने भित्तिचित्रोंकी परम्पराको सुरक्षित रखा; अर्थात् पूर्वोल्लिखित रेखाओंपर ही अपनी तूलिका चलाते रहे। सत्रहवीं शताब्दीका तिब्बतीय चित्रकलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक वस्त्रपट हमारे अवलोकनमें आया, जिसके परिचय देनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। पटमें धारिणी बोधिसत्त्वकी विभिन्न मुद्राएँ अंकित हैं। यों तो पटमें लाल, भूरा, बैंगनी, हरा, श्याम, गेरुआ आदि कई रंगोंका व्यवहार कलाकारने उत्तम ढंगसे किया है, फिर भी नीले रंगकी पृष्ठभूमिमें जो तादृश्यके चित्रके लक्षण भासित होते हैं सम्भवतः वे अन्यत्र न मिलेंगे। चारों ओर उठे हुए घनघोर बादल सरोवरमें खिले कमल पटका प्राकृतिक सौन्दर्य और भी बढ़ा देते हैं। बुद्धदेवकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रचलित मुद्राओंमेंसे अट्ठारह प्रधान मुद्राओंका साक्षात् परिचय इसमें मिलता है। उपर्युक्त उभय भागमें कई विशेष व्यक्तियोंके चित्र उल्लिखित हैं। चित्रित मुद्राओंमें चित्रित की गई भाव-भंगिमाएँ अनेक तरहके भाव-प्रदर्शन बड़ी सूक्ष्मतासे कराती हैं। मध्य भागमें विशाल चक्राकार यन्त्र बना हुआ है जिसके चारों ओर बौद्धधर्म मान्य तान्त्रिक देव-देवियाँ अंकित हैं। किसीका वाहन शूकर, किसीका मुँह शूकर, कोई साँपपर तो कोई अग्निपर, कोई शान्त तो कोई रुद्र, कोई व्यग्र और कोई ध्यानमग्न है, किसीके वस्त्र गिद्ध खींच रहे हैं, कोई हाथ जोड़कर नमस्कार करता है। कहनेका तात्पर्य कि यह चित्र क्या है, नव रसोंका सामूहिक संकलन है। क़लमकी सूक्ष्मता, रंगोंका वैविध्य, रेखाओंकी

विलक्षणता और सौष्ठव किस कलाप्रेमीको अपनी ओर खींचकर अनिर्वचनीय आनन्दके सागरमें नहीं डुबो देगी। तदनन्तर वर्तुल मण्डलोंमें अलग-अलग तान्त्रिक शक्तियोंके साथ गणेशजी भी तोंद फुलाये बैठे हैं। चतुर्दिक् रंगोंसे इष्टिकाकृति सूचक रेखाएँ बनी हैं, मानो मणि रत्नोंकी दीवार.ही हों। तदुपरि विशाल छत्रके निम्नभागमें धर्मचक्र है जिसमें दोनों ओर मृग आश्चर्यान्वित मुद्रामें ताक रहे हैं। आठों ग्रासके मुख एवं उनमेंसे निकली शिल्पाकृतियाँ बहुत ही सुन्दर तादात्म्य सम्बन्धको व्यक्त करती हैं। यद्यपि ग्रास भारतीय कलाका प्रतीक माना जाता है, परन्तु तिब्बतमें भी उसने काफ़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। मण्डलमें कलश, अव्यवस्थित वस्त्राकृतियाँ-मयूर पंख आदि हैं। मध्य भागसे धारिणी देवी शान्त मुद्रा किये अगणित हस्त फैलाये मस्तकपर पारम्परिक छः छत्र धारण किये हुए अवस्थित हैं, जिसके बायें भागमें बीभत्स रसोत्पादक चित्र हैं। तन्निम्न भागके छोटेसे हिस्सेमें भारत एवं तिब्बतमें पाये जानेवाले कमसे कम एक सौसे अधिक प्रसिद्ध पशुओंके चित्र इस तरहसे अंकित हैं मानो ज्यूओलोजिकल गार्डेन तो यहाँ नहीं उपस्थित हो गया। चार इंच जैसे सीमित स्थानमें इतना विपुल अंकन अन्यत्र आजतक हमने नहीं देखा। नीचे भागमें क्षीणकाय व्यक्ति अर्ध सुषुप्त हैं। मण्डलके निम्न भागमें बैलों एवं घोड़ोंपर महाबीभत्स मुद्राधारी एवं हाथमें शस्त्रास्त्रारवण किये कुछ यक्ष-यक्षिणी दिखाई पड़ती हैं। इतने बड़े कलात्मक पटमें अश्वका अंकन ही अखरनेवाली चीज़ है। अत्यन्त विशाल मुख, लम्बे और मोटे कान, भद्दी गर्दन, यह बेहूदा पशु सम्भव है तिब्बतके टट्टूका ही प्रतिनिधित्व करता हो। सम्पूर्ण पटका कला और तन्त्रशास्त्रकी दृष्टिसे अवलोकन करनेके बाद विचार बँध जाता है कि कलाकारका अभीष्ट विषय तिब्बतमें प्रचलित तन्त्रसे है। सम्पूर्ण पट बोर्डरों की दृष्टिसे एवं तत्कालीन तिब्बतमें प्रचलित वस्त्रोंकी दृष्टिसे बहुत सुन्दर सामग्री उपस्थित करता है। कलाकारने हृदय, मस्तिष्कके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारोत्तेजक भावोंकी रंग, रेखा और तूलिका

द्वारा लघुतम वस्त्रपर लिखकर उस समयकी उच्चतम कलाका आभास कराकर सचमुच अपनेको अमर कर दिया है। पटकी एक भी रेखा ऐसी नहीं जो भाव-विहीन हो। इतने विवेचनके बाद यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कृतिका निर्माण-काल क्या हो सकता है ? तिब्बतीय कलाकार किसी भी कृतिमें अपना नाम न देते थे और न चित्रांकन समय ही। परन्तु सौभाग्यसे इस पटमें प्रत्येक तन्त्र सम्बन्धी प्रतिमाके पश्चात् भागमें परिचयार्थ कुछ पंक्तियाँ पाई जाती हैं जो हिंगूलसे उल्लिखित हैं। हमारे स्वर्गीय मित्र डा० बेनीमाधव बरुआने इन अक्षरोंका काल सत्रहवीं शताब्दीका प्रथम चरण स्थिर किया था। यह वस्त्र-पट राजपूतानाके एक जैन उपाश्रयमें था, अभी श्री भंवरलालजीके पास है। अठारहवीं शताब्दीके अधिकतर वस्त्रचित्र लामाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले मिलते हैं। आज भी तिब्बतमें चितेरोंकी कमी नहीं, परन्तु उनमें मौलिक तत्त्वोंका विकास न होकर केवल प्रतिकृति मात्र करनेकी क्षमता ही रह गई है।

उपर्युक्त जिन उपकरणोंकी चर्चा हमने की है, इनके आन्तरिक और भी प्रतीक जो पाये जाते हैं वे हमारे ध्यानसे बाहर नहीं हैं, जिनमें मृत्तिकाके भाजन एवं बौद्ध भिक्षा-पात्र आदि प्रमुख हैं। अत्यल्प संख्यामें उपलब्ध होनेके कारण यहाँपर उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। केवल एक बुद्ध-पात्रका हम यहाँपर इसलिए उल्लेख करेंगे कि उनका कलाकी दृष्टिसे बहुत बड़ा महत्त्व है। यह पात्र ,पटनाके जालान संग्रहालयमें सुरक्षित है। इस पात्रका निर्माण बेंतसे हुआ है। उसपर चमड़ा लगाकर सोनेका काम किया गया है। ढक्कनकी आकृति इस प्रकार बनी हुई है मानो कोई बौद्ध स्तूप ही हो। आज भी बर्मामें जो बौद्ध पात्र निर्माण किये जाते हैं उनमें अनेक प्रकारकी रेखात्मक आकृतियाँ खँचित रहती हैं।

उपर्युक्त लम्बे विवेचनके पश्चात् यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बौद्ध लोग कलाकी जीवन-साधना करनेमें अन्यापेक्षया कितने अग्र थे। वर्तमान कालमें भी सारनाथ स्थित जापानी मन्दिरमें कोसेट्सूनोत्सूकी जो

एक बौद्ध चित्रकार थे, सफल तूलिका द्वारा भगवान् बुद्धदेवके विशिष्ट एवं लाक्षणिक प्रसंगोंका भित्तिपर जो आलेखन १९३२ से ३८ तक अंकित किया गया है, वह निस्सन्देह बौद्धाश्रित चित्रकलाका वर्तमान कालीन सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इन चित्रोंके सामने मनुष्य स्वाभाविक रूपसे क्षणिक आवेशमें ही आत्म-समर्पण कर डालता है। जापानी कलाकारकी कृति होनेके बावजूद भी एक प्रकारसे वे भारतीय चित्रकलाके दिव्य स्तम्भ हैं। इन चित्रोंपर हमें अजन्ताका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, अतः यहाँ संक्षेपमें ही सन्तोष करेंगे। प्रासंगिक रूपसे शान्तिनिकेतन स्थित चीना भवनके विशाल भवनमें मास्टर (मोशाय) श्रीमान् नन्दलाल बोस द्वारा अंकित मारविजयके विशाल चित्रको हम कदापि नहीं भूल सकते।

वर्तमान कालमें बौद्धाश्रित चित्रकलाके निर्माणकी अपेक्षा गवेपणात्मक तथा समीक्षात्मक कार्य ही अधिक हुआ है।

२७ मार्च १९४९

महाकोसलके जैन-भित्तिचित्र

प्राचीन भारतीय इतिहासमें कोसल अत्यन्त प्रसिद्ध जनपद रहा है। भारतवर्षकी संस्कृतिका प्रधान केन्द्र भी। महाकोसल, जिसे प्राचीन साहित्यमें दक्षिणकोसल कहा गया है, वर्तमानमें मध्यप्रदेशका एक उप-विभाग है। प्राकृतिक-सौन्दर्य-सम्पन्न गिरिकन्दराओंसे विभूषित यह भूभाग शैलशृङ्ग, नद, निर्झर, जलप्रपात, विजनवन, पर्वत आदिके लिए अत्यन्त विख्यात है। यहाँकी प्राकृतिक शोभा कमनीय काननकी सहचरी ही नहीं, किन्तु वाग्देवीकी वीणा-झंकार और कलाकिन्नरीके विलास-विहारसे भी समलंकृत है। कहीं गुफा-मन्दिर कविकीर्ति कीर्तनकी ओर संकेत कर रहे हैं तो कहीं गिरिगृह साहित्य, सङ्गीत और कलाके महत्त्वपर मूक गर्व कर रहे हैं। कहीं विशाल एवं प्रकाण्ड प्रस्तर-फलक प्राचीनतम चित्रकारीका माधुर्य प्रकट कर रहे हैं तो कहीं मानव-जातिकी आदि लिपि-की उत्पत्ति—सूचनाकी ओर प्रकाश-रेखा प्रदर्शक गिरि-शिला भित्ति अवस्थित है! व्याघ्र, भालू एवं वनैले हाथियोंके क्रीड़ास्थल इन घनघोर विजन अरण्योंमें विषधर सर्प, वृश्चिक एवं मधु-मक्खियोंके काल-दंशनके भयसे ऐसे समस्त गिरि-गुहा, शिला-भित्ति इत्यादि अद्यावधि महा भयंकर और दुर्गम बने हुए हैं।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि महाकोसल प्रकृतिगत सौन्दर्यसे न केवल ओत-प्रोत ही रहा है, अपितु समसामयिक उपादान द्वारा प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोंने बिखरी हुई सौन्दर्य-छविको जन-समूहतक पहुँचाने-का भी सफल श्रम कर सांस्कृतिक कार्यकी सुदृढ़ शिला स्थापित की है। स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो मुस्लिम इतिहासकारोंका गोंडवाना पुरातन कालमें संस्कृति, प्रकृति और कलाका अनुपम

सङ्गम स्थान था। जैसा कि पाये जानेवाले प्राचीन ध्वंसावशेषोंसे फलित होता है!

संस्कृति एवं सभ्यताकी इतनी विराट् ठोस एवं विचारोत्तेजक सामग्री रहनेके बावजूद भी पुरातत्त्व एवं इतिहासविदोंकी दृष्टिमें इस भूखण्डका महत्त्व नगण्य-सा ही रहा है! कारण स्पष्ट है! दुर्भाग्यसे इस भूभागका ऐतिहासिक अन्वेषण एवं प्राप्त साधनोंका परीक्षण समुचित रूपसे आंग्ल-शासनमें तो नहीं ही हुआ, पर स्वाधीन भारतमें भी इसकी घोर उपेक्षा की जा रही है! मुझे इस भूखण्डमें अन्वेषण करनेका कुछ अवकाश मिला है, उसपरसे मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि यहाँका प्राचीन इतिहास तैयार किया जाय तो निस्सन्देह मानव संस्कृति विषयक अनेक नूतन तथ्य प्रकाशित होंगे।

भारतीय संस्कृतिका मुख्य ध्येय आध्यात्मिक विकास रहा है और वह बिना सांसारिक वृत्तियोंका पूर्ण त्याग किये सम्भव नहीं। मानवकी इच्छाओंका अन्त नहीं है। श्रमणसंस्कृति इच्छाके नाशपर जोर देती है। वह पार्थिव सौन्दर्यमें तल्लीन हो जानेकी अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य उद्‌बुद्ध करनेको उत्प्रेरित करती है। अतः अनन्त सौन्दर्यकी समुचित साधनाके लिए तृष्णावर्धक स्थानोंका परित्याग ही हितकर है। इसीलिए प्राचीन युगके सच्चे साधक ज्ञानमूलक अरण्यवासको अधिक महत्त्व देते थे। क्रमशः वर्षा एवं शीत-निवारणार्थ गुहाओंकी सृष्टि हुई! मनुष्य बुद्धि-जीवी प्राणी होनेके कारण उसका जीवन सतत प्रगतिगामी रहता है। क्रमशः गुफाओंकी दीवालोंपर पार्थिव आवश्यकताओंमें जन्म लेनेवाली कला द्वारा चित्रोंका प्रणयन भी होने लगा।

यद्यपि भित्तिचित्रोंकी परम्परा बहुत प्राचीन एवं सार्वजनिक रूपसे प्रचलित रही है, पर इनका उल्लेख न तो यहाँ विवक्षित है, न स्थान ही।

इन पंक्तियोंमें महाकोसलान्तर्गत पाये जानेवाले भित्तिचित्रों—विशेषकर श्रमण संस्कृतिसे सम्बन्धित कलाकृतियोंकी ही चर्चा करूँगा।

प्राचीन भारतमें भित्तिचित्र

भारतीय प्राचीन साहित्यानुशीलनसे सिद्ध होता है कि भित्तिचित्र या शिलाचित्रका इतिहास बहुत विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहासकी ओर संकेत करनेवाले कथा-साहित्य-विषयक ग्रन्थोंमें एतद्विषयक विशद् उल्लेख आये हैं, परन्तु उनसे तत्कालीन चित्रकला एवं उनके विभिन्न उपकरण शैली आदिका समुचित ज्ञान नहीं होता ! तात्पर्य कि भारतीय चित्रकलापर व्यवस्थित प्रकाश डालनेवाले प्राचीन स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते , केवल हमें फुटकर या अन्य ग्रन्थों-में आनेवाले प्रासंगिक उल्लेखोंपर ही निर्भर रहना पड़ता है। संस्कृत-साहित्यके वात्स्यायन कृत कामसूत्र एवं शिल्पशास्त्र व उपनिषदोंमें "चित्रतूलिका" (Brush), शब्द आया है एवं 'वाल्मीकि रामायण'में हेमधातु विभूषित धातुमंडित विचित्रशिखर चित्र सानुनग तथा चित्रसानु आदि कई शब्दोंका प्रयोग मिलता है जो चित्रकलाके इतिहासकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। उपर्युक्त उल्लेखसूचक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं !—

अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ॥११॥

× × ×

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः।
विचित्रशिखरः हीमां चित्रपुष्पितकाननः ॥१३॥

× × ×

अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः।
चित्रसानुगः हीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥२०॥

—किष्किन्धाकाण्ड ४१ सर्ग

× × ×

अभिवृष्टा महामेघैः निर्मलश्चित्रसानवः
अनुलिप्ताइवा भान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥२०॥

—किष्किन्धाकाण्ड ३० सर्ग

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।
शरदंगगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥६॥

उपर्युक्त उल्लेख प्राप्त साहित्यमें प्राचीन एवं विश्वस्त हैं। मेघदूतमें भी एक उल्लेख बड़े महत्त्वका है जो इस प्रकार है :—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम् ।

—कालिदास

श्लोकमें उल्लिखित गेरूका[1] उल्लेख बहुत महत्त्वका है। अधिकतर प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रोंमें गेरुए वर्णकी रेखाएँ ही मिलती हैं। प्रसंगतः कहना अनुचित न होगा कि अमेरिकामें भी प्राचीन चित्र रक्तवर्णके ही मिले हैं, जिनमें हस्तचिह्न[2] प्रमुख हैं जो गृह, मकान, मन्दिरमें बनाये जाते थे : यथा—

"Possibly the fatter of the family pad just Plastered the walls and his wife nad children had

---

[1] बहुत प्राचीन कालसे ही महाकोसलमें गेरू प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होता रहा है। आज भी कई खदानोंमें उत्तम गेरू निकलता है। ग्रामीण जनता अपनी गृह-दीवारोंपर चित्र अंकित करती है। जंगली सड़कोंपर बिछाई जानेवाली मृत्तिकामें भी गेरू अधिकतर देखा जाता है पर मिट्टीमेंसे रंग बनानेकी प्रथा उठ जानेसे कलाकारोंकी दृष्टिमें गेरूका महत्त्व बहुत कम हो गया है।

[2] इस चिह्न विषयक विशेष ज्ञातव्यके लिए देखें—"Proceedings of all India Oriental Conference," Baroda एवं "Rock Paintings in the Raigarh State."

come to see how to woke and place their hands on the fresh coverings sayiug in their own language"

"It is dry yet Dad ?"

जिस प्रकार पीली मिट्टी, गेरू आदिके द्वारा प्राचीन शिला-चित्र अंकित किये जाते थे, उसी प्रकार उड़ीसा और कहीं-कहीं दक्षिणी कोसलमें आज भी ग्रामीणोंके घरोंपर चित्र अंकि जाते हैं। समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार चित्रकलाके उपादानोंमें अवश्य परिवर्तन हुआ। यहाँकी आदिवासी सभ्यतामें पलनेवाली जनतापर उनका तनिक भी प्रभाव नहीं। यही कारण है कि वह अभी तक प्राचीनतम परम्पराको निभाये हुए हैं।

जैन भित्तिचित्र

जैनागम साहित्यके अतिरिक्त सुरसुन्दरी कथा, तरंगवती, कर्ण-सुन्दरी, कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी आदि कई ग्रन्थोंमें शिलाचित्र विषयक लेख आये हैं, उनसे ध्वनित होता है कि वे चित्र समय-समयपर भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न करते थे। धार्मिक विषयमूलक चित्र मनुष्यको ज्ञानमूलक वैराग्यकी ओर लिवा ले जाते थे। विवक्षित भूभागमें पाये जानेवाले अधिकतर शिलाचित्र विशुद्ध भौतिक वासनामय ही हैं। पर रामगढ़-स्थित चित्र वैराग्यका प्रतीक है, जो इस प्रकार है:—

जोगीमारा—इस प्रान्तके सरगुजा राज्यान्तर्गत लक्ष्मणपुरसे १२ मील रामगिरि, रामगढ़ नामक पहाड़ी है। वहाँपर जोगीमारा नामक गुफा है। यह पहाड़ी २६०० फुट ऊँची है। यहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा ही आकर्षक और शान्तिप्रदायक है। गुफाकी चौखटपर बड़े ही सुन्दर चित्र अंकित हैं। ये चित्र ऐतिहासिक दृष्टिसे प्राचीन हैं। चित्र-परिचय इस प्रकार है:—

(१) एक वृक्षसे निम्नस्थानमें एक पुरुषका चित्र है। बाईं ओर अप्सराएँ व गन्धर्व हैं। दाहिनी ओर सहस्ति एक जुलूस खड़ा है।

(२) अनेक पुरुष, चक्र तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके आभूषण हैं। मेरी रायमें उस समयके आभूषण और आजके आभूषणोंमें बहुत कम अन्तर है, और सामाजिक दृष्टिसे इनका अध्ययन अपेक्षित है।

(३) अर्द्धभाग अस्पष्ट है। एक वृक्षपर पक्षी, पुरुष और शिशु हैं, चारों ओर मानव-समूह उमड़ा हुआ है, केशोंमें ग्रन्थी लगी है।

(४) पद्मासनस्थ पुरुष है, एक ओर चैत्यकी खिड़की है तथा तीन घोड़ोंसे जुता हुआ रथ है।

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये चित्र जैनधर्मसे सम्बन्धित हैं, परन्तु संरक्षणके अभावसे चित्रोंकी हालत खराब हो गई है! इस बारेमें रायकृष्णदासने लिखा है—

"किन्तु उन चित्रोंकी सुन्दर रेखाएँ उनके ऊपर फिरसे खींचे गये भद्दे चित्रोंमें छिप गई हैं। बचे-खुचे अंशोंमेंसे अनुमान होता है कि वहाँके कुछ चित्रोंका विषय जैन था[1]!"

रामगिरि पर्वत :—संस्कृत-साहित्यके अभ्यासियोंको विदित है कि महाकवि कालिदासने अपने मेघदूत खण्डकाव्यमें रामगिरि पर्वतको अमर कर दिया। पं० नाथूराम प्रेमीका मानना है कि कालिदासकथित रामगिरि पर्वत यही है, क्योंकि वह दण्डकारण्यके अन्तर्गत है और कर्णरवा नदी सम्भवतः महानदी है। प्रेमीजी आगे लिखते हैं कि उग्रादित्याचार्य-जीने अपना "कल्याणकारक" नामक आयुर्वेदिक ग्रन्थ इसी रामगिरि पर्वत-पर रचा था। इन बातोंमें चाहे जितनी वास्तविकता हो, पर इतना तो

---

१. भारतकी चित्रकला, पृ० १२।

स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी समय इस प्रान्तमें जैनधर्म विस्तारके साथ फैला हुआ था, जिसका प्राचीन प्रमाण गुफाचित्र है! जिस समयकी गुफा बनी हुई है, उस समय यहाँ मौर्योंका साम्राज्य था। सम्प्रति सम्राट् जैन थे। सम्भव है, उन्होंने ही यह गुफा बनवाई हो। और भी अनेक उदाहरण ऐसे ही दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि पुरातन कालमें जैन-संस्कृति यहाँपर खूब विस्तारसे फैली हुई थी! जिनकल्पी मुनि-परम्पराका विहार जारी था।

महाकोसलके ही सुप्रसिद्ध कवि भवभूतिने अपने उत्तररामचरितमें भित्तिचित्रोंका उल्लेख किया है, यद्यपि कविवरने स्पष्टतः स्थानविशेषका सूचन नहीं किया, पर अनुमान होता है कि इसका सम्बन्ध रामगिरिसे या उन आंशिक गुफ़ाचित्रोंसे होना चाहिए, जिनकी अवस्थिति सिहावा तहसील के जंगलोंमें हैं। इन गुफाओंके निकटतम प्रचुर जैनप्रतिमाएँ एवं अन्य कलात्मक शिल्प प्रतीक उपलब्ध होते हैं। आजके प्रगतिशील एवं अन्वेषण-प्रधान युगमें भी उपर्युक्त गुफाएँ इतनी उपेक्षित हैं कि शायद ही कभी कोई वहाँ पहुँचता हो। राज्यकार्यवशात् इतिहासप्रेमी रायबहादुर गजाधरप्रसादजी तिवारी (Election Commissioner M. P.) जंगलमें पहुँचे और उन्होंने मेरा ध्यान आकृष्ट किया!

जैन-भित्तिचित्रोंकी परम्पराका प्रवाह इस प्रान्तमें किस शताब्दी तक प्रवाहित होता रहा, इसपर प्रकाश डालनेवाले मौलिक उल्लेख अत्यल्प हैं, पर विभिन्न पुरातन खण्डहरोंमें जो चित्रित रेखाएँ मिलती हैं, उनसे तो निश्चित हो जाता है कि मुग़लकालतक यह धारा उन्नत थी। मराठोंके समय भी भित्तिचित्रकी परम्परा चली, पर उसमें वह सौन्दर्य व आकर्षण नहीं जो कलाकारको अपनी ओर खींच सके! रामगिरिके चित्रोंके बाद भवभूतिका उल्लेख आता है। तदनन्तर कलचुरि राज्यवंशकी कला-कृतियाँ हमारे सामने हैं। यों तो अद्यावधि अन्वेषित सामग्रीसे यही फलित हुआ है कि हैहयवंशीय नरेश केवल शिल्पकलाके उन्नायक ही रहे हैं, परन्तु

गत वर्प मुझे कलचुरि शिल्पकलाका एक केन्द्र—[1]विलहरी—देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

विलहरी

वहाँपर एक जीर्णशीर्ण मठ है, निकट ही हनुमानजीका मन्दिर-वापिका है । मठ दर्जनों मूर्तियोंसे परिवेष्ठित है । मठका भीतरी भाग कुछ सुरक्षित रह सका है, परन्तु गर्भगृह शून्य रहनेके कारण नहीं कहा जा सकता कि इसका सम्बन्ध संस्कृतिकी किस धारासे है । प्रदक्षिणास्थान एवं जगती तथा सभागृहके ऊपर विभिन्न प्रकारके वेल-बूटे कढ़े हैं । इनमें रक्त एवं नीला रंग प्रयुक्त हुआ है । कहीं-कहीं सूक्ष्म रेखाएँ गेरूकी भी हैं । छतके स्थानपर सूक्ष्मतया देखनेपर ज्ञात होता है कि वहाँ कुछ चित्र अवश्य रहे होंगे कारण कि गिरी हुई पपड़ियाँ एवं कहीं-कहीं चेहरोंसे परिलक्षित होता है । इसी मठमें मुझे स्वस्तिक और कुम्भकलशकी स्पष्ट रेखाएँ दिखलाई पड़ीं । इन दो चित्र-प्रतीकोंसे मेरा अनुमान है कि इसका सम्बन्ध अवश्य ही जैन-संस्कृतिसे होना चाहिए । ये दोनों जैन-शिल्पस्थापत्य

---

१. यह स्थान कटनीसे १० मील पड़ता है । एक समय यह जैन-संस्कृतिका बहुत बड़ा केन्द्र था । आज भी वहाँपर सैकड़ों जैन-मूर्तियाँ एवं अन्य कलात्मक प्रतीक बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं । कोई जमीनमें अधगड़े हैं, कुछ मकानोंमें लगे हुए हैं, कुछ-एकपर चटनी और भंग पीसी जाती है । वस्त्र धोनेकी शिलाके रूपमें उल्टी मूर्तियोंका प्रयोग यहाँके लिए स्वाभाविक है । एक बात स्पष्ट कर दूँ कि साम्प्रदायिक गंभीरताके कारण हिन्दुओंके द्वारा जैन कलात्मक प्रतीकोंका जो अपमान यहाँपर मैंने देखा वह दिल कँपा देनेवाला है । जब मैं गतवर्ष वहाँ गया था तो एक जैन-मूर्तिपट ऐसा मिला जो एक वयोवृद्ध ब्राह्मण सज्जनकी सीढ़ियोंका काम दे रहा था । यहाँकी जैन-मूर्तियाँ कलचुरि कलाका अभिमान हैं । विशेषके लिए देखें मेरा "खंडहरोंका वैभव" ।

कलाके मंगलमय प्रतीक माने गये हैं। वहाँके अन्य हिन्दू मन्दिर मेरी इस शंकाको और भी दृढ़ कर देते हैं। कारण कि प्रत्येक हिन्दू-मन्दिरके गर्भ-द्वारके मध्य भागमें गणेशजी या तत्तद् देवस्थान-सूचक प्रतीक उत्कीर्णित रहते हैं! जब कि यहाँ कलशकी प्रधानता है!

जबलपुरस्थित हनुमानतालका मन्दिर भी भित्तिचित्रोंकी परम्पराकी कड़ी प्रस्तुत करता है। यों तो मन्दिरकी दीवारोंपर धार्मिक कथा-प्रसंग व जैनभूगोल विषयक चित्र काफ़ी तादादमें हैं, पर मुझे उन्हीं चित्र-कृतियों-पर विचार प्रस्तुत करना है, जिनका सीधा सम्बन्ध मुग़ल और मराठा क़लमसे है। महाकोसलमें जो वेलबूटे, चित्र एवं जालीदार रेखाओंमें रंग पाये जाते हैं, उनसे यह सिद्ध है कि उस समय भी राजमहल, विस्तृत भवन या आध्यात्मिक साधनाका केन्द्रस्थान-मन्दिर आदिमें चित्रांकन अपेक्षित था और स्थानीय कलाकारोंने पारम्परिक रंगोंके साथ इतर प्रान्तीय चित्रोंमें व्यवहृत रंगोंका उपयोग खुलकर किया था।

कथित मन्दिरमें चित्रकला-विषयक इतिहासकी दृष्टिसे दो कृतियाँ विशेष महत्त्वकी हैं, जो इस प्रकार हैं—

तथाकथित मन्दिरके उपरिभागमें एक छतपर वेलबूटोंवाली जाली-नुमा सुन्दर रेखाएँ अंकित हैं! लाल, गहरा नीला, एवं हल्के पीले रंगका प्रयोग हुआ है। यदि केवल इसी छतकी रेखाएँ और रंगोंके आधारपर इसका निर्माणकाल निश्चित करें तो मुग़लकालतक ले जा सकते हैं। पर वह उतना प्राचीन है नहीं, कारण कि ऐसा देखा गया है कि कला-विषयक परम्पराका विभाजन भौगोलिक या राजनैतिक दृष्टिसे आंशिकरूपेण सम्भव हो सकता है वह भी स्थायी शायद ही! मुझे तो ऐसा लगता है कि मरहठा-कालीन कलाकारोंने मुग़लकालमें प्रचलित जालियों एवं वेलबूटोंका अंकन सौन्दर्य-वृद्धिके हेतु ही किया होगा। मुग़लकालकी छाया पड़ने मात्रसे कोई वस्तु उस कालकी नहीं हो सकती। बिलहरीवाले मठकी एवं प्रस्तुत छतकी रेखाएँ एवं रंगोंमें पर्याप्त साम्य है।

मन्दिरके निम्नभागमें एक चित्र अठारहवीं शताब्दीका है। उसमें मराठा पहनाव एवं विशेषकर पगड़ियोंका बाहुल्य है। कलाकारने मराठा क़लमका उत्तम प्रभावोत्पादक परिचय देकर उस प्रसंगको महाराष्ट्रीय घटना ही बना डाला है। चित्रमें भव्य सिंहासनपर एक व्यक्ति बैठा है। वहाँके लोगोंका ऐसा ख्याल है कि ये **चिमनाजी भोंसले** ही हैं।

इस प्रकार महाकोसलमें जैन-भित्तिचित्रोंकी परम्परा आजतक सुरक्षित है, किन्तु अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण अद्यतनयुगीन चित्रोंमें कलातत्त्व बहुत कम रह गया है। कहीं-कहीं भित्तिचित्रोंकी आंशिक पूर्ति प्रतिमाचित्रों-से की जाती है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैंने कुछ एक चित्रोंका ही परिचय दिया है, परन्तु अभी भी बहुत-सी ऐसी सामग्री है जो अन्वेषणकी प्रतीक्षामें है। ऐसी स्थितिमें जैन-भित्तिचित्रोंकी गिनती ही क्या ? जहाँ कलावशेष ठुकराये जाते हों, शासनकी ओरसे जान-बूझकर उपेक्षावृत्तिसे काम लिया जाता हो—वहाँ सांस्कृतिक जनजागरणकी आशा कल्पना-मात्र है। मुझे बड़े परि-तापके साथ लिखना पड़ रहा है कि मध्य-प्रदेशकी सरकार अन्वेषण-विषयक कार्योंमें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा पिछड़ी हुई ही नहीं है, अपितु उसने इसपर ध्यान ही नहीं दिया ! बल्कि निस्वार्थ भावसे सांस्कृतिक व शैक्षणिक अन्वे-षणोंके प्रति जो रुख अपनाया है, वह जनतन्त्रको कलंकित करनेवाला है। मैं चाहूँगा कि मध्यप्रदेश-शासन प्रान्तमें असाम्प्रदायिक भावसे पुरातत्त्व-गवेषणाकी प्रतिष्ठा करें। जैन-समाजका भी अपने गौरव-प्रदायक प्रतीकोंपर ध्यान न जाना आश्चर्य ही है।

भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग

भारतके प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोंने अपनी सात्त्विक, सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओंको धातु, प्रस्तर और कागजके द्वारा साकार कर न केवल कलाके उपकरणोंकी रक्षा ही की, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि अन्तर्भावनाओंके विकास एवं स्थैर्यके लिए अमुक प्रकारका अलंकरण ही उपयुक्त है, ऐसी बात नहीं है। कलाकी उत्कट भावना किसी भी प्रकारके उपकरण द्वारा व्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्योंमें ही कला और सौन्दर्यका समुचित विकास पाया जाता है। प्रस्तुत निबन्धमें मैं कलाके एक उपकरण काष्ठकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, क्योंकि बहुत प्राचीनकालसे यहाँके साधारण जन-समूहसे लेकर उच्च-कोटिके कलाकारों तकने काष्ठका व्यापक उपयोग कर, अपने गार्हस्थ्य दैनिक आवश्यक कार्योंकी पूर्ति तो की ही, साथ ही साथ उच्च श्रेणीके प्रतीकोंका सृजनकर उसे सजीव प्रतीकोंकी कोटिमें ला खड़ा किया।

आदिकालीन मानवोंको जब शीत, धूप और जल-वृष्टिसे बचनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई तो काष्ठ-शलाकाओंसे झोपड़ियोंका निर्माण प्रारम्भ हुआ। बादमें ज्यों-ज्यों समय बदलता गया एवं मनुष्योंकी आवश्यकता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों गृह-निर्माण-कला एवं उसके पृथक्-पृथक् उपकरणोंमें भी परिवर्तन और अभिवृद्धि हुई, जिसमें काष्ठकी प्रधानता रही है। प्राचीन-कालके जितने भी ध्वस्त खण्डहर उपलब्ध हुए हैं एवं पौराणिक साहित्यमें जितने भी गृह-निर्माण विषयक उल्लेख मिलते हैं, उनसे काष्ठके व्यवहारपर प्रकाश पड़ता है।

विशुद्ध इतिहासकी दृष्टिसे यह तो कहना कठिन है कि किस कालसे गृह-निर्माण-कलामें काष्ठका आंशिक प्रयोग आरम्भ हुआ। यों तो काष्ठ-

शिल्पकी एक कथा जैन-साहित्यमें उपलब्ध हुई है, जिसका सारांश यह है कि वह शिल्पी जलयान एवं कई प्रकारके ऐसे वायुयान निर्माण करता था जिनका संचालन एक या दो कलोंसे हुआ करता था। इस प्रकारके कई आख्यान और भी मिल सकते हैं। परन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य कितना है यह एक विचारणीय समस्या होते हुए भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीनकालमें इस प्रकारके सामाजिक उद्योग अवश्य ही रहे होंगे। परन्तु जबतक इन किंवदन्तियोंका समुचित मूल्यांकन नहीं हो जाता, तबतक इनपर कुछ भी कहना अति साहस होगा। यों तो भारतमें जितने भी प्राचीन खण्डहर उपलब्ध हुए हैं, उनमें मोहन-जो-दारोका स्थान प्राचीनताकी दृष्टिसे प्रधान माना जाता है। अब तो यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि मोहन-जो-दारोका विकास भारतीय संस्कृतिके आधारोंपर हुआ था। उन दिनों मानवने अपने रहन-सहनके साधनोंका पर्याप्त विकास कर लिया था। परन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि अभीतक जो खुदाई वहाँपर हुई है उसमें काष्ठका कहीं भी पता नहीं मिला। यद्यपि इसे हम पत्थर-युग कहकर टाल देते हैं परन्तु उस युगमें काष्ठका उपयोग गृह-निर्माण कलामें नहीं होता था यह कैसे कहा जा सकता है ?

वैदिक युगमें यज्ञ-यागोंकी प्रधानता थी। तन्निमित्त मण्डपोंकी बहुत बड़ी आवश्यकता रहती थी। उसमें भाषा, ज्ञान-चर्चा, गीत, नृत्य आदि आध्यात्मिक एवं जनरंजक कार्य-क्रम हुआ करते थे। ये मण्डप अधिक द्रव्य व्यय कर सुन्दरसे सुन्दर बनाये जाते थे। कहीं पारस्परिक प्रतिस्पर्धाके कारण भी वर्ग अपनी धन-सम्पत्तिके बलपर मण्डपोंको अधिकसे अधिक सजाता था। परन्तु इन मण्डपोंका अस्तित्व निर्धारित समयके लिए ही था। इतने परिश्रम और विपुल अर्थ-व्ययसे तैयार होनेके बाद भी वे स्थायित्वके सौभाग्यसे वंचित रह जाते थे। समयने पलटा खाया। स्वाभाविक भी है कि जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं वैसे-वैसे समाजमें क्रान्ति और संघर्ष शुरू हो जाता है। वर्णित मण्डपोंके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर

कुछ मण्डप अपने ढंगसे पक्के बनने लगे। कमान आदि और शोभन अलंकरणोंका क्रमिक विकास होने लगा। इन सब सजावटोंके बाद भी आखिर वह काष्ठ ही तो ठहरा। भला कबतक टिकता। शीत, धूप और वर्षादिसे बहुत समय तक अपनेको बचाये रखनेके लिए मण्डप और भी इतने पक्के बनाये जाने लगे कि क्रमशः मण्डपोंका रूप परिवर्तित होते-होते गृह या मन्दिर हो गया। इससे हमें यह तो मानना ही होगा कि भारतीय शिल्प-कलामें वैदिक कालसे ही काष्ठका उपयोग प्रचुर परिमाणमें होने लगा था। उस कालके शिल्पियोंमें कल्पना और सृजन-शक्ति अद्भुत थी। उनका जीवन कलाकारका एक आदर्श जीवन था, वे सांसारिक होते हुए भी कलाकी साधनामें जुटते—अलिप्त थे। धनिक वर्ग द्वारा कलाकारोंका समुचित सम्मान भी होता था। इस सम्मानके पीछे कलाकारमें अपनी प्रतिभाके तत्त्व थे, जिनके बलपर धनवानोंमें वे समादृत होते थे, न कि अर्थसे उनको उन दिनों खरीदा जाता था! क्योंकि उस समय भारतका सामाजिक जीवन ही कुछ ऐसा बन गया था कि शायद ही कोई गृह ऐसा रहता, जिसपर सुरुचिपूर्ण कलात्मक अंकन न किया गया हो। बिना सूक्ष्म खननके आवास-गृह अशुद्ध और अपशकुन-जनक माना जाता था। लकड़ीको 'प्लेन' रहने देनेसे काष्ठोपजीवी वर्ग स्वयं इनकार कर देता था। गृह-कार्यमें आनेवाले झूले, पलंग, बालकोंके खिलौने, बेलन, पेटियाँ और प्रधान वाहन रथ भी रंगीन रहा करते थे। इस साधारण वस्तु-निर्माणमें भी कलाकार अपना श्रम लगाकर उसे जीवित प्रतीक-सम बना दिया करते थे। तात्पर्य यह कि घरकी कोई भी वस्तु ऐसी न रह पाती थी जिससे कलात्मक अभिव्यक्ति न होती हो। किसी भी देशका आर्थिक विकास सामयिक महत्त्व रखता है परन्तु कलात्मक विकास तो शताब्दियोंतक देशकी गौरव-गरिमा बनाये रखता है।

यज्ञ-स्तम्भ काष्ठके गढ़वाये जाते थे, जिसका एक उदाहरण देनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। बिलासपुर (मध्य प्रदेश) जिलान्तर्गत

चन्द्रपुर तालुकेमें किरारी नामक ग्राममें हीरावन्ध जलाशयमेंसे १९०० वर्ष पूर्व एक प्राचीन काष्ठका यज्ञ-स्तंभ मिला था जो सलईका प्रतीत होता है। इसपर जो लिपि है, वह गुप्तकालके पूर्वकी है। मैंने इसे नागपुर आश्चर्य-गृहमें देखा था। इस स्तंभमें विशेपकर उन दिनोंके राजनैतिक कर्मचारियोंके पदोंके उल्लेख पाये जाते हैं[1]। अतः इसका महत्त्व दोनों दृष्टियोंसे है। यद्यपि यज्ञ-स्तंभ तो और भी प्राप्त हुए हैं पर वे प्रायः पाषाणके हैं।

ई० पू० ६ वीं शतीमें महाश्रमण भगवान् महावीरकी चंदन-काष्ठपर मूर्ति खोदी गयी थी। इसे उज्जयिनीके राजा चण्डप्रद्योतने बनवाया था।

---

१. राजकीय पदोंके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) नगररखिनो (नगररक्षक City Kotwal or Magistrate)
(२) सेनापति (Commander of Army)
(३) प्रतिहार (द्वारपाल Door Keeper or Private Secretary)
(४) गणक (खजांची Accountant or Cashier)
(५) गाहपालिय (अग्निरक्षक keeper of house hole fire)
(६) भाण्डागारिक (भंडारी Store keeper)
(७) पादमूलक (मन्दिररक्षक Temple attendant)
(८) रथिक (सारथी charioteer)
(९) महानासिक (भोजनालय प्रबन्धक Super intendent of Kitchens)
(१०) धावक (सन्देशवाहक या डाकिया Runnes)
(११) सौगंधक (इत्रोंका परीक्षक Officer incharge of perfumes and sanitation)

ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दीमें गृहनिर्माण व पुतलियोंकी रचनामें काष्ठका प्रयोग होता था, जैसा कि तात्कालिक जैनागम साहित्यसे फलित होता है। गत वर्ष जब मैं पटनामें था तब प्राचीन पाटलिपुत्रकी खुदाईके अवशेष एवं भूमिको देखनेका सुअवसर आया था। वहाँपर बड़े-बड़े काष्ठके सुसंस्कृत पटरे पड़े हुए थे, जिनमें कुछ अधजले भी थे। पाटलिपुत्रमें विस्तृत आग लगनेके उल्लेख बौद्धसाहित्यमें आते हैं। मौर्यकालमें काष्ठका उपयोग व्यापक रूपसे हो रहा था, तक्षणकलामें तो होता ही था। पटनाके संग्रहालयमें आज भी बहुतसे काष्ठावशेषोंमें एक रथका पहिया भी है। इसे अशोकके खास रथका चक्र बताया जाता है। इसमें चाहे जितना सत्य हो या न हो पर पहियेकी बनावटसे इतना तो निःसंकोच भावसे कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्वका तो निश्चित है ही। रचना-कौशल प्रेक्षणीय है।

गौतम बुद्धने अक्षरारम्भ करते समय चन्दन काष्ठ-पट्टिकाका उपयोग किया था। इस उदाहरणसे ज्ञात होता है कि उन दिनों लेखन-कलाके विशेष

---

(१२) गोमाण्डलिक (Offiec incharge of Cow and Cattle)

(१३) यनसतायुधघरिक (रथों और आयुधोंके रक्षक Officer incharge of carriag-sheds and armoury)

(१४) लेहवारक (डांक दरोग़ा superintendent of letter carriers)

(१५) कुलपुत्रक (इंजिनियर या मुख्य मिस्त्री Chief of architects)

(१६) हायोराह (गजरक्षक Superintendent of elephants)

(१७) अश्वारोह (Superintendent of horses)

(१८) महासेनानी (Commander-in-chief)

अभ्यासमें काष्ठका प्रचलन रहा होगा। ललित विस्तर और कटहल जातक इसके उदाहरण हैं। यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन जितने भी कलात्मक प्रतीक मिले हैं, वे प्रायः सभी प्रस्तरके हैं, परन्तु उनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि उस कालमें गृह-निर्माणादि कार्योंमें काष्ठका प्रयोग न होता था। वसुदेव हिण्डीमें—जो कि छठी शतीका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है—एक काष्ठशिल्पकी रोचक कथा आती है। उसमें उस समयकी काष्ठ-निर्माणकलापर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। साहित्य यदि समाजका प्रतिबिम्ब है तो मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन तथा इतः पूर्व कुछ शताब्दियोंके पूर्व, भारतमें काष्ठको कलात्मक उपकरण निर्माणमें अवश्य ही प्रधान स्थान मिला था। भागवतमें मूर्ति-निर्माण विषयक उपकरणोंकी जहाँ-पर चर्चा की गई है, वहाँपर काष्ठकी मूर्तियाँ बनानेका स्पष्ट विधान है। ठीक इसी प्रकारके एकाधिक उल्लेख जैन-शिल्पके ग्रन्थोंमें भी पाये जाते हैं। जैन मूर्तियाँ काष्ठकी मैंने कई जगहपर देखी हैं। आशुतोष म्यूजियम (कलकत्ता विश्वविद्यालयान्तर्गत) में काष्ठकी विशाल जैन-मूर्ति हैं, जो विष्णुपुर (बंगाल) में प्राप्त की गई थीं। नेपालमें अत्यन्त सुन्दर काष्ठ-मूर्तियाँ बनानेकी विशिष्ट प्रथा थी। इन मूर्तियोंके निर्माणमें वहाँके सौन्दर्य-प्रेमी कलाकारोंने जो कमाल किया है, वह अनिर्वचनीय है। रंगीन मूर्तियोंको देखकर कल्पना नहीं होती कि ये प्रतिमाएँ काष्ठकी होंगी, विशेषकर बौद्ध तन्त्रोंसे सम्बन्धित मूर्तियाँ मिलती हैं। यों भी नैपाल पहाड़ी प्रदेश होनेके कारण काष्ठ शिल्पमें काफ़ी आगे रहा है। और भी पहाड़ी देशोंमें काष्ठका उपयोग अच्छे-से-अच्छे रूपमें होता है।

पश्चिमी भारतके विशाल भवन और देवमन्दिरोंके निर्माणमें बहुत कुछ अंशोंमें पत्थरोंका स्थान लकड़ीने ले रखा था। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि विवक्षित कालमें काष्ठके ऊपर कलात्मक रेखाएँ शायद ही खचित की जाती हों, जैसे पत्थरोंपर खींची जाती थीं।

सोमनाथका मन्दिर वैदिकोंकी दृष्टिमें ऊँचा स्थान रखता है। द्वादश

ज्योतिर्लिङ्गोंमें इसकी परिगणना है। शिल्प और प्राचीन तक्षणकलामें अभिरुचि रखनेवालोंके लिए भी मन्दिरकी रचनाशैली महत्त्वपूर्ण है। मन्दिरका प्रथम निर्माण किस पद्धतिसे हुआ होगा, यह कहना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। कारण उतनी प्राचीन कोई सामग्री ही न तो वहाँ उपलब्ध हुई है और न ग्रन्यस्थ उल्लेख ही वर्तमान है। परन्तु बारहवीं शतीके प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखोंसे निश्चित कहा जा सकता है कि परमार्हत महाराजा कुमारपाल-जीर्णोद्धारके समय सम्पूर्ण मन्दिर काष्ठका था। इसकी विशाल छत काष्ठके ५७ मजबूत खम्भोंपर आधृत थी[1], वे स्तम्भ खास तौरसे अफरीकासे लाये गये थे। इस मन्दिरको महमूद गजनवीने बुरी तरह क्षतविक्षत कर दिया था, अतः भीमदेव और महाराजा कुमारपालने (जैन होते हुए भी) इसका जीर्णोद्धार करवाया था—जो धार्मिक सहिष्णुताका अच्छा उदाहरण है। कुमारपालने तारंगा हिलपर अजितनाथजीका एक मन्दिर बनवाया था, इसमें ऐसी लकड़ीका उपयोग किया गया था कि अग्निस्पर्शसे जल निकलता था, ऐसा प्रवाद आज भी है। मैं नहीं कह सकता इसमें सत्य कितना है।

गिरिनगर-गिरिनारपर भगवान् नेमिनाथका जो मन्दिर है, वह पूर्वकालमें काष्ठका ही था, सिद्धराजके सौराष्ट्रके दण्डाधिपति श्री सज्जनने जीर्णशीर्ण काष्ठ-चैत्यका जीर्णोद्धार करके उसके स्थानपर नवीन प्रस्तरका मन्दिर, वि० सं० ११८५ में बनवाया[2]। इसके निर्माणमें सौराष्ट्रकी त्रैवार्षिक राजकीय आयका व्यय हुआ।

---

१. इब्न जाफिर पृ० १५, इब्नुल असीर, भा० ९ पृ० २४१ सिंघी इब्नुसज्वजी, पृ० २१५।

२. इक्कारसयसहीउ पंचासीय वच्छरि।
नेमिभुयणु उद्धरिउ साजणि नरसेहरि॥
रेवंगिरिरासु, कड० १,

काष्ठ-मन्दिरका निर्माण किसके द्वारा और कब हुआ होगा ? यह एक प्रश्न है। श्रीयुत जयसुखराय पु० जोषीपुराने सूचित किया है[1] कि ई० स० ६०९में रत्न नामक श्रावकने काष्ठ-मन्दिर बनवाया। परन्तु इसके पीछे ऐतिहासिक व पुष्ट प्रमाण नहीं है। अनुमान है कि वल्लभीकालमें जैनोंका प्राबल्य सौराष्ट्रमें सविशेष था। उसी समय काष्ठ-मन्दिर बना होगा। सिद्धराज और कुमारपालके समयमें सौराष्ट्र व गुजरातमें सर्वत्र काष्ठ मन्दिरोंको पत्थरोंसे बाँधना शुरू कर दिया था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि पाषाणके मन्दिर बाँधनेकी प्रथा तो गुप्तकालमें चली, पर नवम शती तक काष्ठ-चैत्योंकी प्रथा भी थी।[2]

प्राचीन नीति-विषयक ग्रन्थोंमें काष्ठका उपयोग चिरकालतक बिना तैलके जलनेवाली मशालके रूपमें आया है।

प्राचीनकालमें तिब्बत और चीनमें, हस्तलिखित ग्रन्थोंकी रक्षाके लिए काष्ठ-फलकोंका प्रयोग होने लगा था। एवं कलाकारों द्वारा उनपर कई प्रकारकी नक्काशीका काम प्रारम्भ हुआ। ठीक उसीके अनुरूप भारतमें भी १२ वीं शतीके उत्तरार्द्धमें इस प्रथाका सूत्रपात हुआ, सम्भव है इतः पूर्व भी हुआ हो। दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही था कि तिब्बत और बर्माके कलाकारोंने अपने सम्पुटके ऊपरी भागको कलात्मक रेखाओं द्वारा सुन्दर बनानेपर अधिक ध्यान दिया, उनपर अपने धर्म-मान्य विविध भावोंका उत्खनन एवं कहींपर बेलबूटोंके समूह अंकित किये, इनके पीछे धर्म भावना तो थी ही, परन्तु वह समाजमूलक थी, प्रकृतिगत थी, कला समीक्षकोंके लिए इतनी ही सामग्री काफ़ी है। इतने परसे उन-उन देशोंकी जनताके मनोभावोंका हल्का पता तो लग ही जाता है। इनके विशाल सम्पुट बर्मा और चीन तथा बोडलयन संग्रहालयोंमें विद्यमान हैं।

---

१. "गिरनारनुं गौरव", पृ० ८१।

२. श्रीदुर्गाशंकर, के० शास्त्री—"ऐतिहासिक-संशोधन", पृ० ६८१।

मुझे पता चला है इस प्रकारके सम्पुटके निर्माणमें लामालोग चन्दनका उपयोग—शायद बहुमूल्य होनेके कारण, करते थे। चन्दनका व्यवहार बौद्धोंने इतः पूर्व भी किया था। गोपालके पुत्र धर्मपालने (विहार शरीफ पटनामें) एक विशाल विहार बनवाया था, इसमें बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी प्रतिमा चन्दनकी प्रस्थापित की थी। इस विहारकी यात्रा ह्यू-श्रान्-चूआङ्ने भी की थी। अस्तु—

पश्चिम भारतमें जैनोंने ताड़पत्रके ग्रंथोंको चिरकालतक सुरक्षित रखनेमें सहायक काष्ठफलकोंके बाह्य भागोंपर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसा बौद्ध लोग देते थे। परन्तु भीतरी भागपर अधिक ध्यान दिया। अन्तर्भागको भली-भाँति स्वच्छ कर उनपर जैनसाहित्यके कथा-विभागसे संबंधित भागोंका तथा तीर्थंकर एवं उनके अधिष्ठाता-अधिष्ठातृ देवियोंके चित्र अंकित किये जाते हैं। कभी-कभी ग्रंथ लेखक या लिखवानेवालों-द्वारा अपने आत्मीय पूज्याचार्योंके जीवनकी विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाका तथा सर्वप्रिय महात्माओंके चित्र भी अंकित करवानेके काफ़ी उदाहरण मिलते हैं। यों तो इस प्रकारके काष्ठ-फलक बहुतसे ज्ञानागारोंमें मिलते हैं, परन्तु अद्यावधि ज्ञान पट्टिकाएँ जैसलमेरके ज्ञान-भण्डारकी अच्छी मानी जाती हैं। इनका दो दृष्टिसे महत्त्व है। एक तो चित्रकलाकी दृष्टिसे और द्वितीय ऐतिहासिक घटनावलिसे।

इस प्रकारकी और भी काष्टपट्टिकाएँ जैसलमेरमें होनेकी सम्भावना की जा रही थी। मुनि पुण्यविजयजीने इसे सत्य सिद्ध कर दिखलाया। ऐसे १४ काष्ठ-फलकोंका पता लगाया। इनमेंसे कुछेकका प्रकाशन जैसलमेरनी चित्र समृद्धिमें किया गया है।

कुछ तो जैन-समाजके गुरु कहलानेवाले यतियोंने पानीके मोल विदेशियोंके हाथ बेंच भी दीं। तिब्बतमें भी इस प्रकारके काष्ठ-फलक प्रज्ञापारमिताकी पोथियोंमें पाये जाते हैं। दक्षिण भारतमें भी तालपत्रपर खरोंचकर लिखा जाता था। वहाँपर भी पश्चिमभारतके समान ही कलापूर्ण काष्ठ-

फलक बनते रहे होंगे। परन्तु दक्षिण भारतमें अभीतक प्राचीन ग्रन्थ विषयक अन्वेषण नहीं हुआ।

१५वीं शतीके बाद कुछ ऐसी भी लकड़ीकी पट्टियाँ मिलती हैं जिनपर संपूर्ण वर्णमाला, संख्या और संयुक्ताक्षर लिखे रहते हैं। इनके दूसरे भागमें अपने-अपने धर्मके मान्य भाव अंकित रहते हैं। इस प्रकारकी पद्धतिके विकासके पीछे दो भावनाएँ काम करती हैं। बालकोंकी लिपि प्रारम्भसे ही साधु रहे और दूसरे प्राचीन लिपि उसकी मरोड़का भी समुचित ज्ञान हो जाय। क्योंकि प्राचीन कालमें ग्रंथाध्ययन विषयक साधन समाजके पास स्वल्प थे। वर्त्तमानमें प्राचीनसंग्रहालयोंमें[1] इस प्रकारकी कई पट्टिकाएँ प्राप्त होती हैं और आज भी मध्यकालीन लिपियोंसे परिचय रखनेके लिए जैनमुनियोंको सीखनी पड़ती हैं। मुझे भी इस कोटिमें छुटपनमें आना पड़ा था। शिक्षाप्राप्तिके ये उपकरण शोषित समाजके रहे हों, चाहे सांस्कृतिक, परन्तु इतना सच है कि साधारण श्रेणीका मनुष्य भी अल्प साधन रहनेके बावजूद भी उन दिनों अक्षर-ज्ञानसे वंचित न रहता था।

सन् १९४१के दिनों मै त्रिपुरीमें था, मुझे चन्दन-काष्ठकी तीन पट्टिकाएँ मिली थीं। वे इतिहास और खुदाईकी दृष्टिसे अत्यन्त मूल्यवान् हैं। प्रथम काष्ठ-पट्टिका ९६ इंचकी है। अश्वपर एक स्त्री आभूषणोंसे विभूषित बैठी है। ये छत्तीसगढ़में प्रचलित आभूषणोंसे मण्डित हैं। बायीं ओर तलवार एवं कटि-प्रदेशमें कटार है। कानोंके जेवर विलक्षण हैं। मस्तकके बाल खुले हैं। सम्भवतः यह कोई गोंड राजकुमारी रही होगी; या यह किसी सतीका प्रतीक हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरी पट्टिका १० इंच लम्बी ५ इंच चौड़ी। एक व्यक्ति मस्तकपर विशिष्ट प्रकारका मुकुट धारण किये, हाथमें बन्दूक लिये निशाना लगा रहा है। पूर्वमें कुछ वृक्ष एवं छोटे-मोटे पौधोंके आकार बने हैं। दोनों

---

१. जैनचित्र कल्पद्रुम, पृष्ठ ४९।

लाँगवन्धी धोती, पीछेकी ओर तरकस, गलेमें धनुप-प्रत्यंचा, कानोंमें कुण्डल (इतने चौड़े मानो कोई नाथ-सम्प्रदायका साधु हो) चौड़ा ललाट। इन भावोंको व्यक्त करनेवाला चित्र किसका होगा यह एक प्रश्न है।

तीसरी पट्टिका १० इञ्च लम्बी ५ इञ्च चौड़ी है। अश्वपर स्पष्ट मुखवाला पुरुष अविष्ठित है। निम्नभागमें ये शब्द खुदे हैं—"कल्याणसिंह संवत १६६६ वः सुना"। मेरी रायमें यह किसी योद्धाका चित्र है।

उपर्युक्त तीनों काष्ठ-शिल्पके अध्ययनसे इस निष्कर्पपर पहुँचता हूँ कि ये १६ वीं, १७वीं शतीकी महाकोसल-कलाके सुन्दर उदाहरण हैं।

चांदवड (जि० नासिक) में अहिल्यावाई होल्करका एक विशाल राजमहल है। इसके निर्माणमें ४०० से अधिक काष्ठ-स्तम्भ लगे हैं। ये स्तम्भ ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों ओरसे दो व्यक्ति अंकवारमें लेकर मिलना चाहें तो नहीं मिल सकते। काष्ठ-छतको कड़ियोंपर जो नक्काशी की गयी है वह उन्नीसवीं शतीकी अच्छी कारीगरीके नमूनोंमें है। यद्यपि अहिल्यावाईका यह महल इतिहासकी दृष्टिसे वहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्राचीन भारतीय गृह-निर्माणकलाकी यह अन्तिम कड़ी है। अहिल्यावाईका धर्म-प्रेम भारत-प्रसिद्ध है। जिस हालमें वह वैठा करती थी, उभय विस्तृत दीवालोंपर दोनों ओर रायायण और महाभारतके चित्र महाराष्ट्र क़लममें अंकित हैं। इन चित्रोंका अध्ययन सम्भवतः अभी नहीं हुआ है। टीपू सुल्तानने श्रीरंगपट्टन का सम्पूर्ण महल ही काष्ठका वनवाया था। १७वीं या १८वीं शतीका मानवाकार विशाल काष्ठ-सिंहासन दीवान वहादुर राधाकृष्ण जालान (पटना) के संग्रहालयमें है। इसपर सुनहरी स्याही पोत दी गयी है। इसकी सवसे वड़ी विशेपता है कि अग्रभागमें भगवान् वुद्धकी विशिष्ट जीवन घटनाएँ एवं लामाओंके मठोंकी आकृतियाँ खचित

हैं। साथ-ही-साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके उभरे हुए पुष्प प्रेक्षकोंका ध्यान खींच लेते हैं। यह सिंहासन तिब्बतीय कलाका अनुपम प्रतीक है। बर्मामें विस्तृत काष्ठ-निर्मित राज्य-सिंहासनसे शायद ही कोई अपरिचित हो। उपर्युक्त जालान महोदयके संग्रहमें काष्ठको कारीगरीके वहुतसे अवशेष हैं। इनमें उड़ीसाके एक मन्दिरका तोरण वहुत ही मनोहर है। इसे मैं उड़ीसाका इसलिए कहता हूँ कि तोरणमें उत्कीर्णित शिखर-भुवनेश्वरकी शिखराकृति ही है। चौदह स्वप्नोंका जमाव होनेसे और मध्यमें कलशाकृति स्पष्ट होनेसे, निस्सन्देह यह किसी जैन-मन्दिरका ही भाग है। उड़ीसामें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा आज भी कलाके उपकरणके रूपमें काष्ठका व्यवहार व्यापक रूपसे होता है। उड़ीसा अर्थकी दृष्टिसे भी काफ़ी पिछड़ा हुआ प्रान्त है। फिर भी वहाँकी ग्रामीण जनताका जीवन सर्वथा कलाविहीन नहीं है। आप किसी भी देहातमें चले जाइये, वहाँ जगन्नाथके मन्दिर काष्ठके ही वने हुए मिलेंगे। इनमें विष्णुके दशावतार सहित या भागवत एवं रामायणसे सम्वन्धित चित्र लकड़ीपर खुदे हुए मिलेंगे। इन मन्दिरोंके वहाने आज भी जनताके कलाकारोंका पोषण उड़ीसामें होता है। पटनाके जैन-मन्दिर (वाड़ेकी गली) में काष्ठपर नेमिनाथकी वरयात्राका सुन्दर अंकन है।

उपसंहार

इतने लम्बे विवेचनके बाद एक वातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो काष्ठ-निर्मित वस्तुएँ प्रत्यक्ष मिलती हैं उनकी चर्चा ऊपर की गयी है। परन्तु इस प्रकारके अध्ययनमें अजन्ता, वाघ आदि गुफाओंके भित्ति-चित्रोंको नहीं भुलाना चाहिए, क्योंकि उनमें तात्कालिक जनताके आमोद-प्रमोद, उत्सवकी वहुत-सी घटनाओंके साथ-साथ समाजमूलक प्रवृत्तियोंमें सहायक एवं भिन्न-भिन्न वाहनोंके चित्र भी अंकित मिलते हैं। इनसे इतना अन्दाज़ तो लगाया ही जा सकता है कि वे काष्ठके ही वने होंगे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य और क्रमिक विकसित

शिल्प एवं चित्रकलाको भी इसके अध्ययनमें स्थान देना चाहिए। इन पंक्तियोंसे यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मक भावोंको व्यक्त करनेके लिए सौन्दर्य-सम्पन्न उपकरण ही आवश्यक हैं ऐसी वात नहीं। कला वही है जो असुन्दर वस्तुमें शिवत्वकी स्थापना कर सके। भारतीय कलाकारोंपर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।

राजस्थानमें संगीत

राजस्थान एक ऐसा प्रान्त है जिसने आर्यत्वकी रक्षा तथा माँ-बहनोंकी प्रतिष्ठा बचानेमें एवं तत्कालीन म्लेच्छों द्वारा होनेवाले आक्रमणोंका बड़ी वीरतापूर्वक मुक़ाबला करनेमें सदा अग्रणीका कार्य किया है। स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो संस्कृतिके वाह्य एवं आंशिक रूपसे आन्तरिक तत्त्वोंको भी बहुत कुछ अंशोंमें संरक्षित एवं विकसित करनेका सुयश राजस्थानको प्राप्त है। कर्तव्यशीलताकी बलिवेदीपर सहर्ष उत्सर्ग होनेको तैयार रहनेकी क्षमता रखनेवाले वीरोंकी बहुलता राजस्थानकी मिट्टीकी अपनी विशेषता है। राजपूत माता पुत्रको एवं पत्नी पतिको युद्धके क्षेत्रमें सोत्साह भेजनेमें अपनेको गौरवान्वित समझती है। राजपूतके जीवनका जिस प्रकार संघर्पमें गौरवपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कलामें भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशेप कर कवितामें। राजस्थानके काव्यमें माताका जितना वीरतापूर्ण शब्दचित्र अंकित किया है, वैसे भाव और मातृत्वकी वैसी ही कल्पना अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो।

भारतवर्पके प्रान्तीय इतिहास-विपयक साधनोंपर दृष्टिपात करनेसे अवगत होता है कि राजस्थान और गुजरात ही ऐसे प्रान्त हैं जिनके निवासियोंने अपने जन-इतिहासकी नैतिक परम्पराओंको साहित्यिक एवं मौखिक रूपसे न केवल सुरक्षित रखा है, अपितु उन्नतिशील तत्त्वोंसे अपने जीवनको भी समुन्नत बनाया है। सन्त-परम्पराका अधिकतर साहित्य राजस्थानमें ही निर्मित हुआ है। एक समय था संगीत, साहित्य और ललित कलाओंका राजस्थानमें विकास अपनी चरम सीमापर था। ये त्रिपुटि ही मानव संस्कृतिको विकसित करते-करते शिवं सुन्दरम् द्वारा सत्य तक पहुँचाती है। यही मानवका अभिलपित अंतिम तत्त्व है।

राजस्थानका अतीत अत्यन्त उज्ज्वल होते हुए भी वर्तमान कालमें उसकी काफ़ी उपेक्षा रही है, जैसे वहाँ न नागरिक जीवन रहा हो, न संस्कृति ही और न वहांका मानव-क्षितिज ही परिष्कृत रहा हो। आज राजस्थानकी जहाँ थोड़ी-बहुत चर्चा होती भी है तो केवल अर्थाश्रित जीवनके बलपर ही। परन्तु राजस्थानका प्राचीन इतिहासमें जो गौरवपूर्ण स्थान रहा है, उसका कारण न तो औद्योगिक विकास है और न अतुल लक्ष्मी ही, अपितु विद्वज्जगत्में एवं कला-समीक्षकोंकी दृष्टिमें गौरवका प्रधान मेरु-दण्ड है संगीत, साहित्य और कला। इनके विकासपर ही देशमें ऐतिहासिक स्थायित्व आ सकता है एवं दूसरेके प्रति समादृत भी हो सकता है।

प्रस्तुत निबन्धमें वर्तमान प्रधान राजस्थानमें पल्लवित कुछ संगीतकी विभिन्न शाखाएँ एवं ललित-कलाओंके बहुमुखी विकासका दिग्दर्शन करनेका यथामति प्रयत्न किया जायेगा।

संगीत

जीवनमें संगीतका क्या स्थान है, इसे शब्दों-द्वारा व्यक्त तभी किया जा सकता है, जब वह हमारे जीवनसे संबंधित न हो। आध्यात्मिक विकास चित्तवृत्तियोंकी स्थिरता, तल्लीनता एवं मानवका परितोष संगीतमें सर्वत्र व्याप्त है। अंतरके अमूर्तपर विशिष्ट प्रेरणादायक भावोंका स्वर, ताल, लय एवं नृत्यपूर्वक समीचीन व्यक्तीकरण ही यदि संगीत कहा जाय तो मानना होगा कि जहाँ कहीं भी मानवका निवास है वहाँ किसी न किसी रूपमें इसका प्रादुर्भाव अवश्य ही पाया जायेगा। चाहे जंगलीसे जंगली जाति ही क्यों न हो? अन्तरप्रेरणाको केवल स्वरके द्वारा ही उत्तम ढंगसे व्यक्त करनेका ढंग अरण्यवासिनी जातियोंमें अधिक प्रचलित है। वस्तुतः देखा जाय तो स्वर ही संगीतकी आत्मा है। स्वर संगीत ही संगीत है। शब्द संगीत पंगु है। स्वरोंकी प्रक्रिया मानसकी परिस्थितियोंको विचलित कर देती है। स्वरोंकी झंकृति नहीं भुलाई जा सकती। शिशु भी इसके

आनन्दमें इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपनी बाल्य-सुलभ चंचल-वृत्तियोंतकका परित्यागकर अपनेको थोड़ी देरके लिए भूल जाता है। संगीत-के स्वर पाषाण-हृदयको भी द्रवित कर देनेमें सक्षम हैं। वे भक्तिके प्रधान वाहन हैं। यदि हम इसे ध्वनिकी अपेक्षासे विश्वभाषा भी मान लें तो आपत्ति नहीं। राजस्थानकी संस्कृतिके आलोकपूर्ण पृष्ठोंपर यदि दृष्टि केन्द्रित करें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए विना न रहेगा कि यहाँके निवासी ललितकलाओंमें कितनी गहरी अभिरुचि रखते थे। संगीतको राजस्थानके नरेश एवं श्रीमन्त प्रोत्साहन देते थे। मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि राजस्थानका संगीत लोक-संगीत था। राजमहलोंसे लेकर झोपड़ियोंतकमें इसका समान भावसे आदर होता था। साधारणसे-साधारण मानव भी अपने स्वरमें मानवोचित गुण, इष्टदेव-स्तुति, वीररसके पद्य, तथा जीवनगत घटनाओंके प्रेरणादायक तत्त्वोंपर प्रकाश डालनेवाली हृत्तंत्रीके तारोंको झंकृत कर देनेवाली मानव-शक्तिका यशोगानकर आत्मानन्दका अनुभव करते थे।

शास्त्रीय संगीतकी अपेक्षा लोकसंगीत इसलिए अधिक व्यापक हो जाता है कि उसमें उस प्रान्तके समयानुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। जनता अपने ढंगसे अलग-अलग तरहसे एक ही रागको गाती हैं। क्रमशः सभी दृष्टिमें सीमित स्वरोंका महत्त्व न रहकर परिचित परम्परा अर्थात् आनन्द ही प्रधान रहता है। संगीत-शास्त्रके वैदिककालसे लगाकर मध्य कालतक-के स्वरोंके इतिहास-पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि समय-समयपर विशुद्ध शास्त्रीय संगीतमें भी वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके गायकोंने एवं तदुत्तरवर्ती प्रतिभासम्पन्न कलाकारोंने बहुत-सा ऐसा परि-वर्तन किया है, जो इस समय तो वह नया प्रयास होनेके कारण अमान्य रहा, पर बादके समालोचकोंने संगीतकी शुद्ध परिभाषामें स्थान दे दिया। वैदिक कालमें जब वेदोंका सस्वर पाठ किया जाता था, तब अमुक स्वर ही अमुक शाखामें प्रधान माने जाते थे। अतिरिक्त स्वर निन्द्य तक समझे जाते थे, कारण कि इसकी शाखावाले उनका प्रयोग करते थे। यहाँ तक कि स्वरोंकी

प्रकृतिके कारण पारस्परिक युद्धतक हुए हैं। परन्तु कुछ वर्षोंके वाद ही जिन वैदिक गायकोंकी दृष्टिमें जो स्वर अवैदिक घोषित किये जा चुके थे, वे ही अगली पीढ़ियोंमें वैदिक मान लिये जाते हैं। मेरे विचारमें भारतमें वहुत प्रारंभ कालसे ही कुछ ऐसा वातावरण रहा है कि चलती हुई स्थितिमें नवीन परिवर्तनके लिए यहाँके एकांगी चिन्तक कभी तैयार नहीं होते। इसी स्थिति-पालक परम्पराने भारतको सांस्कृतिक धक्का भी पहुँचाया है। संगीतपर उप-र्युक्त पंक्तियाँ सोलहों आने चरितार्थ होती हैं।

प्रधानतः स्वरोंके क्रमिक विकासका जहाँ प्रश्न उपस्थित होता है, विचार किया जाता है, वहाँ सर्व ऋक् प्रातिशाख्यको ही प्रधानता दी जाती है, कारण कि इसमें कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो स्वर और उनकी मात्राएँ तथा कौन पक्षी या पशु किस स्वरमें वोलता है आदि वातें संगृहीत हैं। एक समय था कि वर्णित स्वरोंका प्रयोग ही शास्त्रीय-संगीत माना जाता था, परन्तु वादमें स्वतंत्रतापूर्वक ज्यों-ज्यों जनताने आनन्द प्राप्ति-के लिए नवीन स्वरोंका आविष्कार किया या वास्तविक स्वरोंको पहचाना त्यों-त्यों वे स्वर भी शास्त्रीय-संगीतमें सम्मिलित कर लिये गये। यद्यपि वैदिक साहित्यके संवंधमें मेरा ज्ञान सीमित ही है, अतः वैदिक कालीन किस शाखा-में कौन-कौन स्वर किस वेदके पाठके प्रधान वैदिक थे और कौन-कौनसे अवैदिक, यह वताना मेरे लिए कठिन है। न विद्वज्जगत्‌में इस दृष्टिकोणको ध्यानमें रखते हुए संगीत एवं साहित्यके मर्मज्ञोंने चेष्टा की है। हाँ, शांति-निकेतनके आचार्य क्षितिमोहन सेनने इस विपयपर १९४८में मुझे एक निवन्ध सुनाया था।

वैदिकोत्तर कालीन संगीत भी सदैव परिवर्तित होता रहा है। स्वरोंकी झंझटें उतनी नहीं थीं। प्रान्तीय रागोंमें अन्तर अवश्य था। संगीत शास्त्रा-नुसार केवल गान विद्या ही संगीत नहीं है। अपितु 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं संगीतं त्रयमुच्यते' गायन, वादन और नृत्य ही संगीत है। इस परिभापाके अनुसार संगीत शब्दका प्रयोग करूँगा। प्रस्तुत कालमें वाद्योंका काफ़ी

विकास हुआ, कारण कि जहाँतक वाद्योंका प्रश्न है वह अधिकतर जनताके प्राप्त साधनोंपर निर्भर था। वाद्य गायनमें सहयोग देते हैं और स्वर समा बाँध देते हैं। अतः वाद्योंकी आवश्यकता केवल स्वर प्राप्ति ही है। अतः इस व्यापक उद्देश्यकी प्राप्ति किसी भी द्रव्यसे की जा सकती है, अर्थात् स्वर निकाले जा सकते हैं। अर्थात् कुछ वाद्य प्रमुख हैं। वैदिकोत्तर कालमें वाद्योंमें न केवल क्रान्तिकारी परिवर्तन ही हुए, अपितु बहुतसे नूतन वाद्योंकी सृष्टि भी हुई।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें विषयान्तर सकारण है। जिसप्रकार अलग-अलग कालोंमें संगीतके स्वर, वाद्य और नृत्य-पद्धतिमें तथा प्रान्तीय भेदोंके कारण रागके नामोंमें परिवर्तन किये, ठीक उसी प्रकार उपप्रान्तोंमें या एक ही परम्पराका जहाँ विकास होता है, वहाँ कालक्रमसे रागोंके नाम भी देश-परक हो जाते हैं। कम-से-कम राजस्थानमें तो ऐसा अवश्य ही हुआ है। नमाबु माढ़ (जैसलमेर प्रदेश) मारू आदि कुछ राग और खास देशियाँ जिन्हें हम जनताका संगीत कह सकते हैं····राजस्थानकी संगीत साहित्यको मौलिक देन है। इसमें भाट, और मीरासी, ढोली आदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिनका आज भी गायन ही व्यवसाय है। चौदहवीं सदीमें भारतीय संगीतमें अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है, ऐसा संगीत-समीक्षकोंका अभिमत है; परन्तु किन परिस्थितियोंमें किस प्रान्तमें और कैसे यह परिवर्तन हुआ, यह आवश्यक साधनोंके अभावमें बताना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। ऐतिहासिक परिवर्तन और जहाँतक नैतिक और साहित्यिक विकासका प्रश्न है वह परिवर्तन सम्भवतः राजस्थानसे ही प्रारम्भ हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं, कारण कि उन दिनों राजस्थान संघर्षके काले बादलोंसे घिरा था, परंतु सांस्कृतिक चेतना तो थी ही। उन्हीं दिनों भक्तिपरक साहित्य भी राजस्थानमें ही निर्मित हुआ। जैन-सन्तोंने अपनी व्यापक और समत्वकी मौलिक भावनापर आवृत औपदेशिक वाणीका प्रवाह संगीतके द्वारा प्रवाहित किया था। आचार्य श्री जिनकुशलसूरि १४वीं सदीके ऐसे महान् संगीतज्ञ

आचार्य थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभासे संगीतकी सम्पूर्ण परिभाषाको ही अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्यकी ध्वनिको इस प्रकार छन्दोंमें ग्रथित कर दिया—

छन्द हरिगीत

द्रें द्रें कि धपमप, धुधूमि धोंधों, ध्रसकि धरधप धोरवं,
दों दों कि दों दों, दाग्डिदि द्राग्डिदिकि, द्रमकि द्रण रण द्रेणवं,
झझिंझेंकि झूं झूं, झणणरणण, निजकि निजजन रंजनं,
सुर-शैल-शिखरे भवतु सुखदं पार्श्वजिनपति मज्जनं ॥१॥
कटरेंगिनि थोंगिनि, किटति गि गुड़दां, धुधुकि धुटनट पाटवं,
गुण गुणण गुणगण, रणकिणोंणें गुणणगुणगण गौरवं,
झझि झें कि झें झें, झणणरणरण निजकि निजजन सज्जना
कलयंति कमला कलितकलमल, मुकलमीश-महेजिना ॥२॥
ठ कि ठें कि ठें ठें, ठेंहि ठेंहि कि ठ हि पट्टास्ताड्यते
तल लोंकि लों लों, त्रेंपि त्रेंपिनि ढेंपि ढेंपिनि वाद्यते,
थों थों कि थों थों थोंगि थोंगिनि घोंगि घोंगिनि कलरवे,
जिनमतमनंतां महिमतनुतां, नमति सुरनरमुच्छवे ॥३॥
खुंदां कि खुंदां खुखुद् दि खुंदां, खुखुदद्दि दों दों अम्बरे,
चाचपट चचपट रणकि णें णें ढणणण ढेंढें डम्बरे,
तिहां सरगमपधुनि, निधपमगरस ससससस सुर-सेविता,
जिन-नाट्य रंगे, कुशल मुनीशं, दिशतु शासन देवता ॥४॥
मुझे मिर्जापुरमें जो हस्तलिखित गुटका प्राप्त हुआ था, उसमें राजस्थानी संगीतपर प्रकाश डालनेवाली स्फुट रचनाएं पर्याप्त हैं। उसमें एक जैन भी है जो इस प्रकार है—

छन्द स्रग्धरा

पापा धावानि धावा, धपमपधिगा, सासगासार धापा,
सासागागार धापा निगमसरिपा पापगा सार धापा,

इत्थं षटजाग्रिम्यं, करणलघुयुतं सकृला भी समेतं,
संजीतं यस्य देवो वहिव मति सुभं पातु सो पार्श्वनाथं ॥१॥
घोन्दा घोन्दा घुघदां डिगडिग डिग डि भाटां घुमाटा घुमाट,
डुग्मां डुग्मां डुमां डुमां डुलि डुलि डुलिमां भांतु भाजांभुभामं,
छल्मां छल्मां निछल्मां टिक टिक रिटिभां अ्रुवां अ्रुवां भुर्यं,
पामां तो तो घेंवाघे, वि बुघत्ति विबुघां, पान्त वस्तीर्थवास्ते ॥२॥
कोटंट रावणं त त्रिभुवन करटं दर्पणं टं रणं टं,
डाविड अंडहड़हड़, हडकं अंगुलं त्रिवु त्रिगुणे,
प्रं भ्रंपा भ्रंपा भ्रभ्रंप्रा त्रिषुमि प्रिषु भिषु त्रिभिषुद्र नाथे,
रेभें स्तूर्य संतोपेज्जनपति वचसा पातु पूज्योपचार ॥३॥
त्राटा निन्वाटयंती तुटिति कटिपटः कटके लोटयंती,
कोटाघि कोटयंती कपट नटि पटं कि पटे सार यन्ती,
उत्पाले...लिन्नाले स्यारिजलज्जाटा तूटकं जाटेयन्ती,
वरुव्या लयन्तीघममघनवसा, श्रेयसो वर्द्धमान ॥४॥
इति वर्द्धमानस्तुति। पं० दयाकुशल लिपीचक्रे[1]।

१४ वीं सदी ही भारतीय सङ्गीतमें मौलिक परिवर्तन—विशेपतः रागोंके परिवार आदिकी दृष्टिसे वड़े महत्त्वकी सदी है। राजस्थानसे ही यह प्रयास प्रारम्भ हुआ, जैसा कि ऊपर मैं लिख चुका हूँ। यों तो राजस्थान वीरप्रसू-भूमि होनेके कारण और यहांके निवासियोंका संघर्पमय जीवन रहनेके कारण अधिकतर वीर रसात्मक राग ही अधिक प्रचलित थे, परन्तु जीवन-में आनन्द उत्पन्न करनेवाले स्वराश्रित राग रागिणियोंकी ओर भी उपेक्षा-त्मकवृत्ति नहीं थी।

राजस्थान प्रान्तका सङ्गीत आजतक क्रमिक विकास और इतिहासकी

---

१. इस स्तुतिकी एक ही प्रति मेरे अवलोकनमें आयी है। इसमें छन्दके हिसावसे काफी अशुद्धियां हैं।

दृष्टिसे प्राय: उपेक्षित-सा हो रहा है। यद्यपि लोकसाहित्यके कुछ एक मर्मज्ञोंने राजस्थानके लोकगीतोंकी चर्चा कर उनके सार्वजनिक महत्त्वपर अवश्य ही प्रकाश डालकर अन्य प्रान्तीय एतद्विपयक साहित्यिकोंका ध्यान आकृष्ट कर इस सांस्कृतिक निधिको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न किया है, परन्तु लोकगीतोंकी पुरानी देशियोंमें जो स्वर तत्त्व पाया जाता है एवं रसानुसार जिन स्वरोंकी, उनके रचयिताओंने योजना की है, इस विषयपर वे भी मौनावलम्बन किये हुए हैं। जब तक अभिलषित विषयपर समुचित प्रकाश डालनेवाले साधन उपलब्ध नहीं हो जाते, तबतक राजस्थानमें जो संगीतका व्यापक रूप बिखरा हुआ है, उसकी कल्पना नहीं हो सकती।

मेवाड़के महाराणाओंको संगीतसे विशेष प्रेम था। महाराणा कुम्भा शिल्प स्थापत्यके साथ संगीतकलाके भी मर्मज्ञ थे। उनकी मुद्राओंमें भी वीणावादिनी सरस्वतीका चित्र अंकित रहा करता था। संगीतराज महाराणाकी भारतीय संगीत साहित्यमें अमरकृति है। संगीतरत्नाकर और गीतगोविन्द पर वृत्तियाँ रचकर अपना एतद्विषयक ठोस परिचय दिया है। आज भी यह ग्रन्थ हमारे लिए गर्वकी वस्तु हैं, परन्तु अत्यन्त परिताप है कि ऐसे मूल्यवान् ग्रन्थको आजतक समुचित रूपसे प्रकाशमें नहीं लाया गया और न उसके आभ्यन्तरिक रहस्य, शैली आदिपर आलोचनात्मक विचार ही किया गया। यद्यपि इसके कुछ भाग बीकानेर राज्यसे श्री डॉ० कुन्हन राजाके सम्पादनमें प्रकाशित देखे हैं, परन्तु मुझे खेद है कि उसे देखकर कोई भी संगीत प्रेमी बिना क्रुद्ध हुए न रहेगा।

राजस्थानी स्वभावसे भावुक होते हैं। यही कारण है कि भक्तिकी परम्परामें राजस्थानी सन्तोंकी सर्वाधिक देन है। मीरा इस परम्पराकी एक प्रकारसे नेत्री थीं। आपने अपने भक्तिसिक्त पदोंमें शास्त्रीय संगीतका उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वहाँ विचरण करनेवाले जैन-श्रमणोंने भी हज़ारोंकी संख्यामें न केवल शास्त्रीय संगीतबद्ध पदोंकी ही रचना की, अपितु समयसुन्दरजी और वाचक कुशल-लाभ जैसे संस्कृतके प्रकाण्ड

पण्डितोंने राजस्थानीय रागोंमें भी अपनी कृतियोंका प्रणयन किया है। इन मुनियोंने राजस्थानमें प्रचलित संगीत पद्धति एवं स्वरोंपर प्रकाश डालने-वाली स्वतन्त्र रागमालाएँ भी निर्माण की हैं, वे उस प्रान्तके मुखको उज्ज्वल करती हैं।

यों तो संगीत परमार्थका साधक है, परन्तु इतिहासमें देखा यह गया है कि जनशक्तिके उत्प्रेरक इस संगीतका प्रयोग आभिजात्य वर्ग द्वारा अधिक-तर श्रृंगारिक भावोंके उद्दीपनके रूपमें किया गया है, परन्तु राजस्थानमें संगीतकी सरिता दूसरे ही रूपमें वही है। इसका यह अर्थ नहीं कि उपर्युक्त उल्लिखित अर्थमें राजस्थानमें संगीतका उपयोग हुआ ही नहीं, प्रायः इस कार्यके लिए उसका उपयोग नहीं हुआ। राजस्थानमें संगीतका उपयोग वीररसके उद्दीपनके रूपमें हुआ है, जैसा कि वीरगाथाकालीन साहित्यसे लेकर आजतकके डिंगलसाहित्यके अन्वेषणसे ज्ञात होता है। वीररसका स्थायी भाव उत्साह ही है और उसे स्वर और शब्दके द्वारा राजस्थानमें प्रोत्साहित किया जाता है। राजस्थानकी चारण परम्परामें आज भी ऐसे-ऐसे गायक हैं, जो निरुत्साह और शक्तिहीन व्यक्तिको भी तलवारकी मूठ पकड़नेको बाध्य कर देते हैं।

संगीतकी आत्मा स्वर है। नादका महत्त्व संगीत-विषयक शास्त्रोंमें बहुत बड़ा बतलाया गया है। परब्रह्मकी साधनामें भी नादका महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। नादका समुचित उत्थान शुद्ध संगीत ही है। नाद प्राणिमात्रको प्रभावित कर, इतना तल्लीन बना देता है कि वह अपने आपको कुछ क्षणोंके लिए भुला देता है। अनुश्रुति है कि बैजू बावरा, गोपाल नायक, और मोहम्मद, घोष आदिके संगीतके समय वन्य पशु तक स्तम्भित हो जाते थे, किन्तु खेद है कि इस दृष्टिसे राजस्थानके गीतोंके मूल्यांकनका प्रयत्न सम्भवतः कम ही हुआ है। अधिकांश गीतोंके मर्मतक साधारण जनकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती, वे भी गीतोंके नादसे प्रभावित हो तल्लीन हो उठते हैं।

निरालाजीके गीतोंके पाठक इन पंक्तियोंका सरलतापूर्वक अनुभव कर सकते हैं। निरालाजीके तथाकथित क्लिष्टतम गीतोंका मर्म तभी खुलता है, जब वे भी मुग्ध हो उनका पाठ कर सकते हैं। यही बात मीरांके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। राजस्थानमें मीरांका व्यक्तित्व सर्वाधिक उभरा हुआ है। बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो मीरांके द्वारा ही इधर कुछ प्रान्त राजस्थानको जानते हैं। राजस्थानको भक्ति-परम्परामें मीरांका ही ऐसा व्यक्तित्व है जो वैचारिक दृष्टिसे भी संपूर्ण भारतवर्षमें फैला हुआ है। उनके संगीतबद्ध गीत प्रायः सारे भारतवर्षमें श्रद्धाके साथ गाये जाते हैं। राजस्थानी भाषासे अपरिचित व्यक्ति भी मीरांके गीतोंके सस्वर पाठ सुनकर आनन्द-विभोर हो उठता है। अपने गीत तत्त्वोंके कारण ही मीरांकी भाषा हृदयको छू लेती है।

राजस्थानमें संगीतशास्त्रके विभिन्न अंगोंका विकास किस प्रकार हुआ होगा, इसपर स्वतंत्र प्रकाश महाराणा कुम्भा रचित संगीतराजसे तो कुछ मिलता ही है, परन्तु राजस्थानमें निवास करनेवाले जैनमुनियोंने देशकी नैतिक परम्पराको क़ायम रखनेवाली जो संस्कृत, प्राकृत एवं देशी भाषाओं-में कथाएँ रची है, उनमें भी प्रासंगिक रूपसे संगीतकी जो चर्चा की है उससे इस बातका पता चलता है कि वहाँ संगीतकी क्या स्थिति थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे कथाओंके निर्माणकालसे ही राजस्थानके संगीतका इतिहास खोजा जाय तो वर्तमान उपलब्ध साधन-सामग्रीसे यह स्थिर करना असंगत न होगा कि विक्रमकी दसवीं या एकादसवीं शताब्दीमें राजस्थानमें संगीत था; क्योंकि आचार्य श्रीजिनेश्वरसूरिने ११वीं सदीमें अपने कथाकोपमें सिंहकुमार कथानकमें गांधर्वकलाका परिचय देते हुए तंत्री समुत्थ, वेणु समुत्थ और मनुज समुत्थ नादोंका वर्णन किया है। नादका उत्थान कैसा होता है और उसके स्थान-भेदसे स्वर-भेद कैसे हो जाते हैं, और फिर उसके ग्राम मूर्च्छना आदि कितने प्रकारके राग-भेद होते हैं, इसे सूचित किया है। कथाकार आचार्यने लिखा है कि इस विषयका शास्त्र एक लाख

श्लोकका है। नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी रचना है। इसी कथानकमें भरतमुनिके नाट्यशास्त्रका उल्लेख करते हुए नृत्य भंग एवं अभिनय आदिका विशद वर्णन किया गया है। प्रासंगिक और भी कथानकों-में अवान्तर रूपसे इस प्रकारकी चर्चा आती है। यदि इन कथा-कहानियों-को तात्कालिक समाजका प्रतिविम्ब माना जाय तो कहना होगा कि उन दिनों जिस प्रान्तमें जिस कथाका प्रणयन हुआ हो, उसका सांस्कृतिक प्रभाव अवश्य ही कथाओंपर पड़ा है। अर्थात् इससे प्रकट होता है कि इन कथाओंसे तत्कालीन राजस्थानी संस्कृतिका अध्ययन करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

राजस्थानमें इतिहास पुरातत्त्वकी जो साधन-सामग्री समुपलब्ध हुई है, उससे पता चलता है कि राजस्थानमें संगीत बहुत अधिक व्यापक हो चुका था। व्यक्ति या अभिजात-वर्ग तक ही संगीतका प्रचार सीमित न था, अपितु जन-जीवनमें ओतप्रोत था। राजस्थानकी अधिकांश कथाओंसे, जिनमें जन-जीवनका चित्रण मिलता है, ज्ञात होता है कि विशिष्ट उत्सव एवं प्रातः-कालमें महिलाएँ समुचित रूपसे गाती-बजाती हैं। आज भी उदयपुर, जोध-पुर आदिमें ढोली जातिकी स्त्रियाँ प्रतिदिन एक-आध घण्टे रईसोंके यहाँ गानेके लिए रखी जाती हैं।

राजस्थानी चित्रकलामें राग और रागिनी चित्रोंका बाहुल्य है। एक समय था जब शायद ही कोई श्रीमन्त रहा हो, जिसने अपने शयनागारमें रागिनी चित्र न लगाया हो। राजदरबारमें तो विशेष रूपसे इसका ध्यान दिया जाता था।

हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथोंके हाशियोंमें भी रागिनी चित्र या संगीत उपकरण अंकित मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि अतीतमें इस कलामें राजस्थान पश्चात्-पाद न था, अपितु कुछ शाखाओंमें आगे ही था।

लि पि
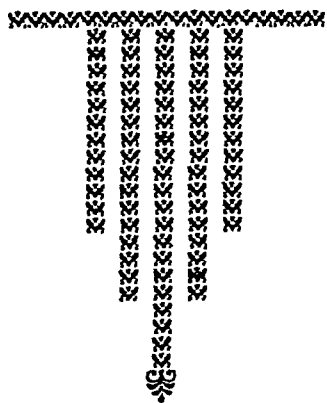
खोजकी पगडंडियाँ

"राज्ञ श्रीमत्पृथ्वी देवः"

कलचुरि पृथ्वीदेवके ताम्रपत्रकी मुहर
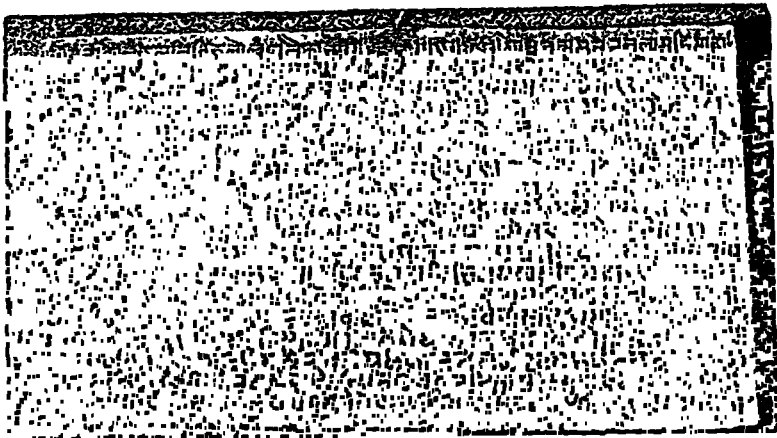
कलचुरि पृथ्वीदेवका ताम्रपत्र
पूर्वार्द्ध

कलचुरि पृथ्वीदेवका ताम्रपत्र
उत्तरार्द्ध

महाराज हस्तीका नवोपलब्ध ताम्रशासन

भारतीय इतिहासकी महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक विश्वस्त साधन-सामग्रीमें ताम्रपत्र व शिलोत्कीर्ण लिपियोंकी उपयोगिता सर्व-विदित है, सीमित स्थानमें महत्त्वपूर्ण आवश्यक घटनाएँ ही उनमें उत्कीर्णित रहती हैं। अतः वे इतिहासके क्रमिक विकासकी प्रामाणिक कड़ियाँ हैं। जहाँतक ताम्रपत्रोंका सवाल है, उनके सम्बन्धमें ग्रामीण जनतामें कई प्रकारके भ्रम फैले हुए हैं। कुछ लोग इन्हें देवताओंके सिद्धिदायक यन्त्र समझकर भक्ति-पूर्वक अर्चना कर अपनी भावुकताका परिचय देते हैं। कहीं-कहीं ये गड़े हुए धनकी सूचना देनेवाले बीजक-पत्र भी समझे जाते हैं। अन्ध-विश्वासोंके कारण इस प्रकारकी ऐतिहासिक साधन-सामग्री-प्राप्त्यर्थ शोधकको कितना श्रम करना पड़ता है, कितनी बार भर्त्सनाका पात्रतक बनना पड़ता है, यह भुक्तभोगी ही समझ सकता है। श्रद्धाजीवीको समझना कठिन नहीं होता। पर यदि उसका स्वार्थ किसीमें निहित हो तो निश्चित रूपसे वह किसी भी प्रकार समझाने-बुझानेपर भी अपनी बात नहीं छोड़ सकता। ताम्रपत्रोंपर ये पंक्तियाँ सोलहों आना चरितार्थ होती हैं। अभी-अभी मुझे पता चला है कि खानदेशमें एक स्थानपर तीन-चार ताम्रपत्र व मुद्राएँ एक व्यक्तिके पास हैं। पर वह इतना बेसमझ व अनुदार है कि पाँच मिनिटसे अधिक ताम्रपत्रोंको पढ़नेतक नहीं देता। उसे शक है कि गड़े हुए धनका पाठकको कहीं पता न लग जाय। ऐसी सामग्री प्राप्त करनेके लिए कभी-कभी दो-तीन पीढ़ी तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और अन्य शोधकोंको करनी पड़ी है। सम्भव है इसकी पुनर्प्राप्तिके लिए भी उतनी ही या उससे कम तपश्चर्या मुझे भी करनी पड़े।

ताम्रपत्रकी प्राप्ति—

सन् १९४२ वैशाखमें मैं पूजनीय गुरु महाराज उपाध्याय श्री सुखसागर-जी महाराजके साथ जबलपुर था। उस समय सुषमा-साहित्य-मन्दिरके संचालक बाबू सौभाग्यमलजी जैन एक व्यक्तिको लाये—जिसका नाम मुझे स्मरण नहीं है—जो आर० एम० एस० में काम करता था। उसने अपने गाँवकी, जो रीवाँ और सतनाके बीच या कहीं आसपास पड़ता है, एक घटना सुनाई।

चातुर्मासके दिनमें अतिवृष्टिके कारण वहाँ एक मन्दिरका शिखर टूट गया। दीवालोंकी कुछ ईंटें भी खिसक गईं, इनमेंसे बहुत-सी स्वर्ण व रजत मुद्राएँ एवं फुटकर मूल्यवान् धातुके खंड प्राप्त हुए। इन्हीं दिनों इस व्यक्तिके खेतमेंसे एक ताम्रपत्र अनायास ही उपलब्ध हो गया, उसका भाई हल जोत रहा था। एकाएक ठेस लगनेसे वह अटक गया। मधुर आवाज हुई। विशुद्ध धार्मिक मानस होनेसे प्रथम तो वह कुछ भयभीत हुआ, पर बादमें ऊपरवाली घटना स्मरण हो आनेसे उसने प्रसन्नताके साथ जमीन खोदना शुरू किया। इस विश्वासके साथ कि शायद मन्दिरके समान इसमें भी कहीं धन निकल आये। मनुष्यकी सभी आशाएँ मूर्त नहीं हो सकतीं। उत्खननके फलस्वरूप एक ताम्रघट, जिसमें राख भरी हुई थी, प्राप्त हुआ। इसमें दो ताम्रपत्र एवं एक मुद्रा अवस्थित थीं। कुछ वर्षों तक तो उसने देववत् पूजन किया। इतनेमें भूमिविषयक पारिवारिक कलह उत्पन्न हुआ। इन दोनों घटनाओंने उसके हृदयमें ताम्रपत्रका रहस्य जाननेकी जिज्ञासा उत्पन्न की। क्योंकि उनका भ्रम था कि या तो धनकी सूचना इसमें उल्लिखित होगी या अपनी भूमिविषयक अधिकारी बातें होंगी। वह ताम्रपत्र भी विशेषरूपसे लपेटे हुए था, जैसे कोई उपासक देवमूर्तिको रखता है। उस समय पुरातत्त्व-के क्षेत्रमें मैंने प्रवेशमात्र ही किया था, अतः लिपिविषयक मेरा ज्ञान भी सीमित होनेके कारण तत्काल पूर्ण ताम्रपत्रको पढ़कर रहस्य तक पहुँचना कठिन था। मैं केवल सील ही पढ़ पाया, जिसपर श्रीहस्ति राज्ञः अंकित था

इनपरसे मुझे इतना तो अनुमान हो गया कि इस ताम्रशासनका सम्बन्ध गुप्त राज्यवंशसे है। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि उसने इसे आजतक किसीको भी बताया नहीं है। अतः इसपर मेरा आकर्षण और बढ़ा। मैंने चाहा कि इसे दो-चार दिन अपने पास रखकर पढ़नेका प्रयास करूँ, कमसे कम इम्प्रेशन या फोटो तो उतरवा ही लूँ, पर वह एक क्षण भी मेरे पास न तो रखनेको तैयार था और न फोटो उतरवानेकी अनुमति देनेकी ही स्थितिमें था। कारण स्पष्ट है। मुझे भी आश्चर्य नहीं हुआ। दो सप्ताहतक मैंने भी स्वेच्छासे उसकी उपेक्षा ही की। कभी-कभी उपेक्षित वृत्ति भी कार्य-साधक बन जाती है, विशेषकर ऐसे मामलोंमें।

ताम्रपत्र-स्थिति—

अनुशासन दो ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्णित है। दोनों ताम्रपत्रोंके उपरि-भागमें दो गोलाकार छिद्र हैं। मध्यमें एक ताम्रकी कड़ी है, जिसका आधा भाग सापेक्षतः अधिक चौड़ा है। इसपर 'श्री हस्तिराज्ञः' खुदा हुआ है। जब ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ, तब कड़ी और पत्र भिन्न थे, बादमें संयुक्त रूप दे दिया गया है। प्रथम ताम्रपत्रमें तेरह और द्वितीयमें १२ पंक्तियाँ उत्कीर्णित है। ताम्रपत्रका निर्माण कुशल ताम्रकारकी कृति है। उभय ताम्रपत्रोंके चारों ओरके किनारोंका भाग पीट-पीटकर उठा दिया गया है, जिससे मूल लेखकी घिसाई वगैरहसे क्षति न हो। उठे हुए भागपर बार्डर-नुमा कुछ रेखाएँ खींची हुई हैं। लेख काफ़ी गहरा खुदा है। प्रथम ताम्र-पत्र तो स्पष्टतासे पढ़ा जा सकता है, परन्तु द्वितीय ताम्रशासनकी स्थिति ठीक नहीं है। ऐसा लगता है मानो वह जंग खा गया हो। कहीं-कहीं सूक्ष्म छिद्र भी हो गये हैं, जो लिपिके साथ ऐसे घुल-मिल गये है कि पढ़ते समय उन्हें भिन्न समझना कठिन है। यद्यपि ताम्रपत्रोंको उस समय मैंने तोला तो नहीं था पर अनुमानतः एक-एक पत्र ६ पावसे कम नहीं रहा होगा। लम्बाई-चौड़ाई अनुमानतः ८″ × ४½″ होगी।

वैशाखमें भारतपर जापानी आक्रमणके कारण हमें जबलपुरसे प्रस्थान करना पड़ा। ताम्रपत्र गुमानेका कुछ अफ़सोस तो था ही; पर यदि मैं उस वक़्त उसका महत्त्व बताता तो शायद उसे प्राप्त भी न कर सकता। ठीक अक्षय तृतीयाके दिन पुनः ताम्रशासन मेरे हाथमें आया और मैंने उसे अल्पमत्यनुसार पढ़कर भारतीय लिपिमालाके सहारे अक्षरान्तर तैयार किया और फोटो कापी भी उतरवा ली। उन दिनों मुझे अपने द्वारा पठित पाठपर विश्वास न हुआ, तब फोटो प्रति सहित अक्षरान्तर श्रीयुत रणछोड़लाल भाई ज्ञानी (क्यूरेटर, प्रिंस आफ़ वेल्स, म्यूज़ियम, बम्बई) एवं स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकरजी हीराचन्द ओझा को भेजे। उपर्युक्त महाशयोंसे मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला। ओझाजीने ताम्रपत्र - स्वीकृतिपर जो पत्र दिया, उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है—

"आपके भेजे हुए ताम्रपत्रके दोनों फोटो और उनका अक्षरान्तर रजिस्टर्ड पार्सलद्वारा प्राप्त हुआ। मैं इन दिनों अस्वस्थ हूँ तो भी मैंने ताम्रपत्रके फोटोको पढ़नेका कार्य आरम्भ किया और एक पत्र पढ़ लिया है तथा दूसरा पत्र पढ़ रहा हूँ। यह ताम्रपत्र परिव्राजक (योगी) महाराज हस्तीका है। इससे कुछ नवीन बात मालूम नहीं होती, क्योंकि इसके पहले उसी महाराज हस्तीके तीन दानपत्र गुप्त-संवत्, १५६ १६३ और १९१ (वि० सं० ५३२, ५३९ और ५६७ के मिल चुके हैं। आपके भेजे हुए ताम्रपत्रके फोटो गुप्त संवत् १७० (वि० सं० ५४६) के हैं। इन चारों ताम्रपत्रोंमें महाराज देवाढ्य, महाराज प्रभंजन, महाराज दामोदर और महाराज हस्तीकी वंशपरम्परा दी है। आपके भेजे हुए अक्षरान्तरमें कुछ पाठभेद अवश्य है और पहले पत्रकी पंक्ति बारह तथा तेरहके अक्षर कुछ अस्पष्ट हैं। बाक़ी बहुधा ठीक हैं। ये योगी राजा गुप्तोंके सामन्त थे और बुन्देलखण्डमें उच्चकल्प

(उचहरा) में राज्य करते थे और इनको जोगिया राजा कहते थे। इन चारों ताम्रपत्रोंमें कई ब्राह्मणोंको गाँव दान करनेका उल्लेख है। इनके अतिरिक्त और कोई बात नहीं है।"

(विशाल भारत, जून १९४७ पृष्ठ ४१२)

श्रीमान् नानीजीने सन् १९४३ में इसे प्रकाशित करनेकी इच्छा व्यक्त की। इस बीच मैं अपने भ्रमण एवं अन्यान्य कार्योंमें व्यस्त रहा और इस नवोपलब्ध ताम्रपत्रके प्रकाशनकी बात प्रमादवश यों ही टलती गयी! सन् १९४९ में तत्कालीन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी इतिहास विभागके प्रधान श्रीमान् डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर महोदयसे इस विषयमें बातचीत हुई और मैंने नानीजी, और ओझाजीके अक्षरान्तर उन्हें प्रकाशनार्थ दिये। आपने भारतीय लिपिविज्ञान-विशारद सौजन्यमूर्ति श्रीमान् डाक्टर बहादुर-

---

१. एक समय था जब उचहरा परिव्राजकोंका प्रमुख नगर था, संस्कृति और सभ्यताका प्रमुख केन्द्र भी। परन्तु आज स्थिति दूसरी ही है। गुप्तकालीन भारतीय शिल्पस्थापत्य कलाकी उज्ज्वल कीर्तिपर प्रकाश डालने वाले अनुपम सौन्दर्यसम्पन्न, विचारोत्तेजक अगणित अवशेष यहाँसे उठ-उठकर कलकत्ता और प्रयाग आदि नगरोंके संग्रहालयोंमें चले गये। फिर भी नगरमें भ्रमण करनेपर कुछ अवशेष सामूहिक रूपमें या एक खण्ड-खण्ड इतस्ततः विशृङ्खलित रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं, जो तत्कालीन कला-मण्डपका प्रतिनिधित्व तो क्या, पर धुँधला संस्मरण अवश्य कराते हैं। आज भी वहाँ ग्रामीणों द्वारा पुरातन अवशेषोंकी घोर दुर्दशा हो रही है, परन्तु स्वतन्त्र भारतकी सरकार और भारतीय पुरातत्त्व विभाग इस ओर पूर्णतः उपेक्षित दृष्टिसे काम ले रहा है। अधिक आश्चर्य और दुःखकी बात तो यह है कि पुरातन लेखोंके, जो अद्यावधि अपठित व अप्रकाशित हैं, प्रस्तरपर निर्दयतापूर्वक चटनी और भङ्ग पीसी जाती हैं! ऐसा होना जनतन्त्रके लिए भारी कलंक है।

चन्दजी छावड़ा एम० ए०, पी० एच० डी० उटकमण्डको एपिग्राफिया इण्डिकामें प्रकाशनार्थ भेज दिया।

उत्कृष्ट कोटिकी गवेषणात्मक सामग्री प्रायः प्रथम अंग्रेजीमें ही प्रकट होती है, इससे हिन्दीके पुरातत्त्वप्रेमी पाठक, जो विदेशी भाषासे सर्वथा अपरिचित हैं, वंचित ही रह जाते हैं। दुर्भाग्यसे भारतमें राष्ट्रभाषाके आसनपर हिन्दीको बैठानेके बावजूद भी पुरातत्त्वीय गवेषणा-विषयक वृत्तान्त अंग्रेजीमें ही प्रकाशित होते हैं। ओरियण्ट कान्फ्रेन्स और हिस्ट्री-कांग्रेस-जैसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सरस्वती-पुत्रोंकी संस्थाओंकी कार्यवाही भी यदि हिन्दीमें प्रकाशित होने लगे तो निस्सन्देह न केवल हिन्दीका ही स्तर उच्च होगा, किन्तु जन-साधारणके ज्ञानमें भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि होगी। डॉ० छावड़ाजीने मेरे कहनेसे एक हिन्दी निबन्ध "ज्ञानोदय" (वर्ष ३ अं० ५) में प्रकाशनार्थ भेजा था, उसे भी मैं यथावत् उद्धृत करना यहाँ उचित समझता हूँ—

मुनि कान्तिसागरजीने २४ जुलाई १९४९के पत्रके साथ बनारससे मुझे इस शासनके फोटो भेजे। पत्रमें आप लिखते हैं कि "जब मैं जबलपुर-में था तो मुझे महाराज हस्तिनका एक अप्रसिद्ध[1] ताम्रपत्र मिला था, जिसका ब्लाक मैंने बनवा लिया था। प्रिंट अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ।" उसके बाद प्रयत्न जारी है कि मूल ताम्रशासनकी कुछ समीचीन छापें बनवाई जाएँ, परन्तु वह ताम्रशासन अब कहाँ और किसके पास है इसका अभी तक कोई पता नहीं लग रहा है। आशा है कि मुनि कान्तिसागर-जीके पुनः प्रयत्नसे यह आकांक्षा शीघ्र पूर्ण हो जायगी।

मुनिजी द्वारा बनवाये ब्लाकसे यद्यपि मैंने सम्पूर्ण लेख पढ़ लिया था, परन्तु छपवानेके लिए अधिक स्पष्ट चित्रों अथवा छापोंका होना आवश्यक है। जबतक यह सामग्री नहीं मिलती, तबतक पाठकों तथा

---

१. अप्रसिद्धसे आपका अभिप्राय है अप्रकाशित।

इतिहास-प्रेमियोंके बोधार्थ उक्त ताम्रशासनके विषयमें कुछ यहां लिखा जाता है।

ताम्रशासन परिव्राजक महाराज श्रीहस्तीका है। जैसा कि इसी महाराज हस्तीके अन्यान्य ताम्रशासनोंसे विदित है, वैसे ही इस ताम्रशासनमें भी उनकी वंशपरम्परा दी हुई है। आप महाराज देवाढ्यके प्रपौत्र, महाराज प्रभंजनके पौत्र तथा महाराज दामोदरके पुत्र थे।

"सिद्धं नमो महोदवाय स्वस्ति"के बाद शासनकी तिथि दी गई है जो इस प्रकार है "सप्तत्युत्तरेब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महाज्येष्ठसाम्वत्सरे फाल्गुणमासशुक्लपक्षपंचम्यां अस्यान्दिवस पूर्व्वायां" अर्थात् गुप्तराजाओंके राज्यकालमें १७०वें वर्षमें, जब कि महाज्येष्ठ नामका संवत्सर चल रहा था, फागुन महीनेके शुक्लपक्षकी ५वीं तिथिको। यहां 'संवत्सर'की जगह 'साम्वत्सर' एवं 'फालगुन'के स्थानपर 'फाल्गुण'का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। फाल्गुनके विषयमें कोषकारोंका तो यह कहना है कि "गगने फाल्गुने फेने णत्वमिच्छन्ति बर्बराः"। अर्थात् जो लोग उक्त तीन शब्दोंमें नकारके स्थानपर णकारका प्रयोग करते हैं वे असभ्य हैं। अंगण आदिके विषयमें उनकी क्या सम्मति है, पता नहीं। जो भी हो, फाल्गुण या फाल्गुन शब्दका प्रयोग बहुत प्राचीन शिलालेखोंमें भी मिलता है, उदाहरणार्थ कोटा राज्यके अन्तर्गत बड़वा गांवसे प्राप्त तीन प्रस्तरयूपोंपर खुदे मौखरियोंके अभिलेखोंमें फल्गुण ही मिलता है। ये तीनों अभिलेख विक्रम संवत् २९५में तिथ्यंकित हैं।[1]

अस्तु, ताम्रशासनका प्रतिपाद्य विषय यह है कि उपर्युक्त तिथिपर

---

१. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २३, पृ० ५५। फाल्गुणके उदाहरणोंके लिए देखो—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० १३०; फ्लीट द्वारा सम्पादित गुप्त अभिलेख (कार्प्स् इन्सक्रिप्सनुम् इण्डिकारम्, जिल्द ३), पृ० २४६ और पृ० २५३।

परिव्राजककुलोत्पन्न महाराज हस्तीने अपने पुण्यकी वृद्धिके निमित्त मधूक-गर्तिका नामक गांवका दान किया। इस गांवमें भगवद्विष्णुपल्लिका और गोधिकापल्लिका नामके दो खेड़े भी शामिल थे। इन तीनोंका उसने एक अग्रहार अर्थात् ब्रह्मदाय बना दिया। दान जिन ब्राह्मणोंको मिला उनके नाम इस प्रकार हैं—"कोद्रव शर्मा, नागशर्मा, मातृदत्त, गंगाभद्रस्वामी, धनदत्त, कपिलस्वामी, अग्निशर्मा, विष्णदेव, विशाखदेव, गोविन्दस्वामी, परितोषशर्मा, कृष्णस्वामी, देवशर्मा, रोहशर्मा, देवशर्मा, देवाढ्य, दत्तशर्मा, मनोरथ, अग्निदत्त, हरिशर्मा, रुद्रभव, विशाखदत्त, दारभट्ट, मौन, विष्णुस्वामी, विष्णुदेवस्वामी, गङ्गघोष, इत्यादि।" दो-एक व्यक्तियोंके नाम एक जैसे हैं। अग्रहारकी सीमाओंका उल्लेख भी किया गया है।

दानका वर्णनकर महाराज हस्तीने यह अनुरोध किया है कि "आगे चलकर हमारे वंशका कोई राजा अथवा हमारा कोई सेवक इस दानमें हस्तक्षेप न करे। इस आज्ञाका जो कोई उल्लंघन करेगा उसको मैं देहान्तरको प्राप्त हुआ भी बड़े अवध्यानसे भस्म कर दूंगा। यहां अवध्यान शब्दका प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ है घृणा करना, बुरा मनाना, अभिशाप देना, इत्यादि। भागवतपुराणके दशमस्कन्धके ४४ वें अध्यायके अन्तिम (४८वें) श्लोकमें 'अवध्यायी' शब्दका प्रयोग मिलता है—

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते॥

अर्थात्—इस संसारमें सभी प्राणियोंका केवल कृष्ण ही उत्पादक, संरक्षक और संहारक है। जो उसकी अवज्ञा करता है वह कहीं सुख नहीं पाता, और न उन्नतिको ही प्राप्त होता है।

आगे शासनमें भूमिदान सम्बन्धी ऋषि व्यासके तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं। और अन्तमें ताम्रशासनके लेखक तथा दूतकके नाम दिये गये हैं जो क्रमशः महासान्धिविग्रहिक सूर्यदत्त और नागसिंह हैं। सूर्यदत्त भोगिक रविदत्तका पुत्र, भोगिक नरदत्तका पौत्र एवं अमात्य वक्रका प्रपौत्र

था इस सूर्यदत्तने महाराज हस्तीके कई एक अन्य ताम्रशासन भी लिखे थे।

ताम्रशासनकी मुद्रापर जो छोटा-सा लेख है उसका पाठ है 'श्रीहस्ति-राजः'। व्याकरणके अनुसार तो इसे कदाचित् 'श्रीहस्तिराजस्य' होना चाहिए।

पाठ

पहिला ताम्रपत्र

१ सिद्धम्[1] नमो महादेवाय।[2] स्वस्ति सप्तत्युत्तरेऽब्दशते...[3] गुप्तनृप

२ राज्यभुक्तौ महाज्येष्ठसाम्व (संव) त्सरे फाल्गुणमासशुक्लपक्षपंचम्यां

३ अस्यान्दिवसपूर्व्वायां नृपतिपरिव्रा (व्रा) जककुलोत्पन्नेन महाराज देवाढ्यप्रण (-प्ता)

४ प्त (प्त्रा) महाराजप्रभञ्जननप्त्रा श्रीमहाराजदामोदरसुतेन गोसहस्र-ह (-स्ति)

५ स्त्यश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेन गुरुपितृमातृपूजातत्परेणात्यन्तदेवब्रा (-ह्म)

---

१. मूलमें इस मंगलात्मक सिद्धम् शब्दको एक चिह्न द्वारा प्रकट किया गया है। इसी चिह्नको बहुत-से विद्वान् ओंका चिह्न मानते हैं।

२. मूलमें इस विरामको एक तिरछी रेखासे दरसाया गया है, आड़ी रेखासे नहीं। आगे चलकर जहाँ दान-पात्र ब्राह्मणोंका नामोल्लेख है वहाँ भी इसी तिरछी रेखाका ही प्रयोग किया गया है। परन्तु वहाँ इसका प्रयोजन विराम नहीं, अपितु समासगत पदोंका छेद प्रयोजन है, जैसा कि आजकल हम प्रायः किया करते हैं (उदाहरणार्थ इसी वाक्यमें दान-पात्र)।

३. शतेके आगे कोई अक्षर है या केवल विरामचिह्न मात्र यह फोटोपरसे स्पष्ट नहीं।

६ ह्मणभक्तेन[1] नैकसमरशतविजयिना स्ववंशा(शा)मोदकरेण श्रीमहाराज (*)

७ हस्तिना स्वपुण्याप्यायनार्थं ब्राह्मणकोद्रवशर्म्मनाग शर्म्म-मातृदत्त(-*)

८ गङ्गाभद्रस्व (स्वा) मि-धनदत्त-कपिलस्वामि-अग्निशा (श) र्म्म-विष्णु-देवशिखदेव-

९ गो (वि*) न्दस्वामि-परितोपशर्म्म—कृष्णस्वामि-देवशर्म्म-रोहशर्म्म-देवशर्म्म-

१० देवाढ्य-दत्तशर्म्म-मनोरथः(थ-)अग्निदत्त-हरिशर्म्म-रुद्र-भव-विशाखदत्त-दार

११ सोनभट्ट—विष्णुस्वामि-पुनरपि विष्णु[2] ` (ष्ण)देव-[3]स्वामि-गङ्गघोषाद्यान(नां)-मधूक(-*)

१२ गर्त्तिका भगवद्विस्णु(ष्ण) पल्लिकागोधिकापल्लिक(का)समवेताग्राहारोतिसृष्टः सोद्र (-*)

१३ ङ्गः सोपरिकरः अचाटभटप्रा (प्रा) वेश्यश्चौरवर्ज्जं समधुकः यत्राघाटा [:*]

१. 'अत्यन्तदेवब्राह्मणभक्तेन'में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो अत्त्यन्तमें तकारका द्वित्व, दूसरे इसी शब्दका समासमें दूरान्वय—यह भक्तका विशेषण है देवब्राह्मणका नहीं।

२. इस लम्बे समासके मध्यमें पुनरपिका आ पड़ना उल्लेखनीय है। लेखक यह बताना चाहता है कि विष्णुदेव नामके दो ब्राह्मण थे, एकका उल्लेख तो ऊपर आठवीं पंक्तिमें आ गया है और यहाँ दूसरे विष्णदेवका उल्लेख है।

३. इस स्वामिके पहले किसी नामका होना आवश्यक जान पड़ता है अथवा इसे पूर्वगत विष्णुदेवके साथ ही पढ़ना चाहिए—विष्णुदेव-स्वामि इस अवस्थामें तिरछी रेखा व्यर्थ है।

दूसरा ताम्रपत्र

१४ पश्चिमदक्षिणेन मधूकर्गात्तिकासिहनकः उत्तरेण गल्लकी म···[1] :

१५ पूर्व्वेण वटा वाहिकाः किन्नाटदेहिकौ च दक्षिणपूर्वेण ग्राम्रगर्तमधूक–

१६ र्गात्तिकासंगमश्चेत्येवं न केनचिदस्मत्कुलोत्थेन मत्पादपिण्डोपजीविनावा

१७ कालान्तरेष्यपि व्याघात न[2] कार्य्यः (।*) एवमाज्ञप्ते योन्यथा कुर्य्यात् तमहं दे–

१८ हान्तरगतोपि महताव्द्ध्यानेन निर्द्दहेयं (यम्) (॥*) उक्तं च भगवता परमर्षिणा वेद-

१९ व्यासेन व्यासेन (॥*) पूर्व्वदत्ता (त्तां) द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*) महिम्महिमतां ।

२० श्रेष्ठो (ष्ठ) दानाच्छ्रेयोनुपालनं (नम्) (॥*) वहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः (।*) य (-*) !।

२१ स्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं (लम्) (॥*) ग्रास्फोटयन्ति पितरः प्रवर्ल्ग (ल्गा)-

२२ न्ति पितामहाः (।*) भूमिदाता कुले जातः स नस्राता भविष्यति (॥*) तिः (इति ।।) लिखितं ।

२३ वक्कामात्यप्रणप्त्रा भोगिकनरदत्तनप्त्रा भोगिकरविदत्त पुत्रेण

२४ महासन्धिविग्रहिकसूर्यदत्तेन ॥ दूतको नार्गासिह ।

मुद्रा

श्रीहस्तिराज्ञः

ता० ३–१०–५१

---

१. फोटोपरसे इस अक्षरका पढ़ा जाना दुष्कर है।

२. यह 'न' निरर्थक है। शुद्ध पाठ होना चाहिए व्याघातः।

कलचुरि पृथ्वीराज द्वितीयका ताम्रशासन

मध्य-प्रान्त और वरारके प्राचीन राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास पटपर नूतन प्रकाश डालनेवाले अनेक शिला व ताम्र एवं ग्रन्थगत लेख उपलब्ध हुए हैं, जो विभिन्न पुस्तकोंमें प्रकाशित थे। उनका प्रान्तीय विद्वानोंकी सुविधाके लिए पं० लोचनप्रसाद पाण्डेयने 'महाकोसल-रत्नमाला'में सामूहिक प्रकाशन किया है।

यह ताम्रपत्र मुझे ८ नवम्बर, १९४४को रायपुरमें तात्कालिक जिलाधीश श्रीयुत गजाधरप्रसाद तिवारी द्वारा प्राप्त हुआ था। वस्तुतः यह बिलाईगढ़ जमींदारीके अधिकारमें था। मुझे तिवारीजीने यह लेख इसीलिए वतलाया कि मैं इसे ठीक-ठीक वढ़कर हिन्दीमें संक्षिप्त सार लिख दूँ। मेरे लिए तो यह अतीव आनन्दका विपय था कि वर्षोंसे अँधेरी कोठरीमें पड़े हुए क़ैदीको छुट्टी तो मिली। मूल ताम्रशासन दो भागोंमें विभाजित है। प्रत्येक पत्रकी लम्वाई ११ इंच और चौड़ाई ३ × ६॥ इञ्च है। एक-एक भागपर १८-१८—इस प्रकार ३६ पंक्तियाँ उत्कीर्णित हैं। लिपि सुन्दर होनेसे स्पष्टतः पढ़ी जाती है। उभय पत्रोंके परिभागमें परस्पर जोड़ रखनेके कारण वीचमें एक कड़ीके लिए गोलाकार छिद्र बना हुआ है, जिसमें कड़ी लगी हुई है। तदुपरि हिस्सेमें राजाकी मुहर है। वीचमें लक्ष्मीजी और उनके दोनों ओर गज उत्कीर्णित हैं। प्रतिमा सौन्दर्य-विहीन है। शारीरिक रचना वहुत ही भद्दी है। निम्न भागमें राज्ञ श्रीमत्पृथ्वीदेव शव्द खुदे हुए हैं। चारों ओर गोलाकृतियाँ खचित हैं। ताम्रपट्टकी लिपि शीघ्रतासे घिसने न पावे, इस ध्येयसे चारों ओरका कुछ भाग उठा हुआ है, जिसपर सुन्दर वेल वना दी गयी है। इनका वजन २-२॥ सेरसे कम नहीं। इतने वर्षोंके वाद भी ताम्रशासन अच्छी हालतमें है। केवल द्वितीय भागमें कुछ विकृति-सी आ गई है; पर अक्षरोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

ताम्रपत्रकी लिपि तेरहवीं शताब्दीकी देवनागरी है। महाकोसलमें पाषाण और अन्य ताम्रपत्र भी इसी लिपिमें लिखे गये मैंने देखे हैं। मोड़ सुन्दर होते हुए भी कई अक्षर—'इ','र', 'श'—कुछ विलक्षण-से जान पड़ते हैं। मातृका-संयोजनापर लेखक और खुदाई करनेवालोंने पूर्ण ध्यान दिया मालूम देता है। वर्ण्य विषयकी समाप्तिपर पैराग्राफ़-सूचक विशेष प्रकारके चिह्न बने हुए हैं। लेखकी भाषा शुद्ध संस्कृत है। इसकी रचना अनुष्टुप् (१ से ८ व १६ से २२-२४), शार्दूलविक्रीड़ित (३-८-१२), वसन्ततिलका (४-६-७-१०), उपजाति (५-१३ से १५-२३), मन्दाक्रान्ता (११), उपेन्द्रवज्रा (२) जैसे गीर्वाणगिराके प्रमुख व्यापक छन्दोंमें की गई है। ये २४ पद्य कवित्व-शक्ति और प्रतिभा-सम्पन्न पाण्डित्यके परिचायक तथा रचनामें लालित्य एवं हृदयको प्रभावित करनेकी क्षमता रखते हैं। कलचुरि-नरेशोंके जितने भी ताम्रपत्र मैंने देखे, उन सभीका साहित्यिक दृष्टिसे बहुत बड़ा महत्त्व है। इसपर म० म० प्रो० मिराशीजीने अन्यत्र प्रकाश डाला है।

ताम्रपत्रकी प्रधान हक़ीक़त यह हैं कि कलचुरि-नरेश श्री पृथ्वीदेवने पण्डरतलाई ग्राम सूर्यग्रहणके अवसरपर स्नान करके, वेदान्त-तत्त्व-निपुण तथा स्मृत्यादि शास्त्रोंके पारगामी विद्वान्, अतुलनीय प्रतिभा-सम्पन्न एवं संसार-कल्याणरत श्रीमान् देल्हूक नामक ब्राह्मणको प्रदान किया। इसी विषयको ताम्रशासन-निर्माताने तीन भागोंमें विभाजित किया है। प्रथम ११ श्लोकोंमें निर्गुण, व्यापक, नित्य, परम कल्याणके कारण, भावसे ग्राह्य, ज्योतिस्वरूप ऐसे नित्यब्रह्मको नमस्कार करके आकाशका अग्रसर अनादि पुरुष जो ज्योति-स्वरूपसे सकल संसारमें व्यापक उनके वंशमें मनु आदि राजा हुए। बादमें जो महान् पराक्रमी वीर और प्रतिभा-सम्पन्न कार्त्तवीर्य नरेश हुए, उनके वंशकी ख्याति हैहय नामसे हुई। एतद्वंश समुद्भूत राजाओंकी कीर्त्ति समस्त संसारमें व्याप्त हो गई थी। शत्रुओंके मनमें तापानलोत्पादक एवं धर्म-ध्यानादि धन-यशसे सज्जनोंको सदा

सुखानुभव करानेवाले सर्वगुणसम्पन्न श्रीकोक्कल नाम नरेश हुए। इनके शत्रु-रूप हस्ति, उसके मस्तक भेदनमें सिंह-स्वरूप अत्यन्त शूरवीर अठारह पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमेंसे बड़े मुग्धतुंगपुरीके नरेश हुए। अन्य लघु बन्धुओं-को इतर स्थानोंमें राज्य दे दिया होगा। रत्नपुर (या तुम्माण) में भी इन अठारह पुत्रोंमेंसे एकको गद्दी उसी समय स्थापित हुई, जिसके संस्थापक महाराज कलिंगराज थे। इनकी प्रतापाग्निसे ही शत्रु राजा प्रकम्पित हो उठे थे। उज्ज्वल कीर्त्ति-कान्तिसे परिपूर्ण कमलराज नामक पुत्र हुआ। जिसके प्रताप-रूपी सूर्योदयसे रातमें कमल-वन विकसित हो जाते थे, ऐसे कमलराजने विश्वोपकारक, करुणार्जित भार वहन करनेवाले उभय बाहुजनित विक्रम-पराक्रमसे तीन भुवनमें शत्रुओंका नाश किया। इन्हींके पुत्र रत्नदेव प्रथम हुए। इसीने रत्नपुर वसा वहाँपर रत्नेश शिवमन्दिरका निर्माण कराया। शिल्प-स्थापत्य-कलासे इन्हें बहुत रुचि थी। इनका विवाह कोमोमण्डलके राजा वज्जूककी पुत्री नोन्नल्लासे हुआ। यह भी बड़ी शूरवीरा थीं पृथ्वी-देव प्रथम इनके पुत्र थे। आपने रत्नपुरमें विशाल जलाशय एवं तुम्माणमें पृथ्वीश्वरका मन्दिर वनवाया। रानी राजल्लदेवीकी रत्नकुक्षीसे जाजल्ल-देव नामक बड़ा शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सज्जनोंको यथेष्ट दान देनेमें कल्पवृक्ष, विद्वानोंको उचित रूपसे सत्कार करनेमें निपुण, शत्रुओंके लिए तीक्ष्ण कंटक और सुन्दरियोंके लिए कामदेव सदृश था। इसने अपने शौर्य-धर्मसे अनेक राजाओंको अपने अधीन किया। भाणार (भण्डारा लांजी), वैरागर आदिके माण्डलिक इन्हें खिराज देते थे। वताया जाता है कि यह राजा दिङ्नाग आदि नैयायिक आचार्योंके सिद्धान्तोंका सूक्ष्मतया परिज्ञान रखता था। इसीसे जाना जाता है कि विक्रमकी १२वीं शताब्दीमें छत्तीसगढ़ में शिक्षाका कितना विशद प्रचार था। दिङ्नाग-जैसे महान् दार्शनिकका ज्ञान महाराजा तक रखते थे। सिरपुरमें हमें ४ ताँबेके सिक्के मिले, जिनपर श्री मज्जाजल्लदेवः और दूसरी ओर हनुमन्तकी प्रतिमा उत्कीर्णित थे। विदित होता है कि इन मुद्राओंका सम्बन्ध इसी नरेशसे होगा। चेदि सं०

८९६ (वि० सं० ११३१, ई० सं० १११४) का एक जाजल्लदेव लेख मिला है। इसका पुत्र रत्नदेव द्वितीय हुआ, जो अनेक नरेशोंसे सेवित, सकल कोसल-देशका मण्डन-स्वरूप था। इसके विशेषणोंसे स्पष्ट है कि यह बड़ा प्रतापी और पूर्वजोंकी निर्मल कीर्त्तिका रक्षक और प्रवर्द्धक था। रत्नदेवके सिक्के भी उपलब्ध होते हैं; पर ठीक रूपसे नहीं कहा जा सकता कि ये रत्नदेव प्रथमके हैं या द्वितीयके।

रत्नदेव प्रथमके पुत्र हुए महाराज पृथ्वीदेव, जो इस ताम्रपत्रके प्रदाता हैं। इनके चरणोंमें शत्रुओंके मस्तक नम्रीभूत रहते थे। बड़े-बड़े नरेश इनकी सेवा करनेमें अपना परम गौरव मानते थे। इस ताम्र पत्रमें एक उल्लेख महत्त्वका ज्ञात पड़ता है। वह यह है कि अद्यावधि प्राप्त लेखोंसे विदित हुआ है कि कलिंग-नरेश श्री चोडगंगको रत्नदेव प्रथमने पराजित किया था; पर इसमें तो स्पष्ट उल्लेख है कि उसे पृथ्वीदेव द्वितीयने हराया था :

> यः श्रीगंगं नृपतिमकरोच्चक्रकोटोपमर्दा
> चिन्ताक्रान्तं जलनिधिजलोल्लंघनैकाभ्युपाये ॥११॥

द्वितीय गंगके समयमें भी पृथ्वीदेवका अस्तित्व था। एक ही देशमें, अत्यन्त निकट समयमें एक नामके दो राजा हो जानेसे कभी-कभी किसी विशेष घटनाको लेकर उनके इतिहास व सत्कार्योंके निर्णयमें समस्या खड़ी हो जाती है। महाराज रत्नदेवके सम्बन्धमें वैसा ही हुआ है। महाराज रत्नदेवके एक अन्य ताम्रशासनमें चोड़गंग विषयक जो उल्लेख आया है वह इस प्रकार है—

"यः चोड़गंग गोकरणं यदि चकई परांग मुखं" चोड़गंग तथा गोकर्णको रत्नदेव द्वितीयने पराजित किया था जबकि प्रकृत ताम्रपत्रसे यह फलित होता है कि चोड़गंगको रत्नदेव द्वितीयने पराजित किया था। इस ताम्र-पत्रमें ग्यारहवें श्लोकके प्रथम भागमें वर्णित 'गंग' राजा कौन और कहाँका था?

यह एक प्रश्न है ! चक्रकोटसे वर्तमान जगदलपुर व वस्तरका भू-भाग समझा जाना चाहिए ।

प्रसंगतः एक वातकी सूचना आवश्यक जान पड़ती है कि सभी कलचुरि राजाओंके ताम्रपत्रोंकी मुद्रामें गजलक्ष्मीका चिह्न नहीं मिलता, केवल राजाका नामोल्लेख ही रहता है । ऐसा एक ताम्रपत्र शवरीनारायणसे प्राप्त हुआ है । इस विषयपर मध्यप्रदेशके वयोवृद्ध गवेषक पं० लोचन प्रसादजी पाण्डेयने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है तदर्थ आभार व्यक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ[1] ।

इसप्रकार ११ श्लोकोंके प्रथम विभागमें पृथ्वीदेवके पूर्वजोंका परिचय सुन्दर-ललित भाषामें दिया गया है । तदनन्तर द्वितीय भागमें वत्सगोत्रीय हारूक नामक बुध, जो वेद, श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके उद्‌भट विद्वान् एवं अभिनन्दनीय है उन्नति जिसकी, कर्पूर-चूर्ण-तुल्य आकाशमण्डलमें व्याप्त है यश जिसका, के पुत्र पृथ्वीको पवित्र करनेवाले, चरित्रको धारण करते हुए तथा असीमित है गुणगौरव जिसका, लक्ष्मी जिसकी गुँथी हुई मालाके सदृश है, मानो गुणोंसे प्रभावित होकर लक्ष्मीने अपना चलत्व-धर्म ही छोड़ दिया हो, इन सद्‌गुणोंके अधिपति श्री जीमूतवाहन हुए । इनके 'देल्हूक नामक विद्वन्मान्य पुत्र हुए; जिसकी मति वेदान्त-तत्त्वके मनन-हृदयंगम करनेमें अत्यन्त निपुण थी । अतुलनीय महिमा और विश्व-कल्याणकी उत्कृष्टतम भावनाओंका हुआ है विकास जिसके हृदयमें, मानव-मात्रकी उन्नति करनेमें चतुर, ऐसे वे थे । मेरा अनुमान है कि ये राज-सभाके मान्य पण्डित राजवंशके प्रमुख पुरोहित रहे होंगे । पुरातनकालीन राजवंशोंमें नियम था कि राजा-महाराजा तन्निर्मित या अन्य मन्दिरोंके प्रतिष्ठित महोत्सवोंपर; सूर्य-चन्द्र-ग्रहणोपलक्षमें स्नान करनेके अनन्तर या और किसी ऐसे ही धार्मिक अवसरोंपर ग्राम-मन्दिरों या विद्वान् ब्राह्मणोंको दान-प्रदान

---

१. दि० ९-८-५१ के व्यक्तिगत पत्रसे ।

करते थे। इसीको चिरस्थायित्वका रूप देनेके कारण ताम्रशासन दे दिया जाता था। प्रस्तुत ताम्रपट्ट भी महाराज पृथ्वीदेव द्वितीयने पण्डरतलाई नामक ग्राममें, जो मेवडी-मण्डलमें था, सूर्य-ग्रहणके अवसरपर स्नान करके देल्हूक नामक ब्राह्मणको भेंट किया, यथा :—

पण्डरतलाइग्रामं, ख्यात मेवडिमण्डले
पृथ्वीदेवो ददौ तस्मै, सूर्यग्रहणपर्व्वणि ॥१६॥

१७–२२ श्लोकोंमें प्रदत्त भूमि-दानकी महिमा कालान्तरसे राजा-महाराजा या कोई अमात्य हो, उनको इस लेखकी आज्ञा शिरोधार्य करनेमें ही धर्मका पालन है, इस प्रकारकी शिक्षा दी गई है। बादमें जिस समय भूमिपर जिसका आधिपत्य हो, उसे भी प्रदत्त दानका आंशिक फल अवश्य मिलता है। तदनन्तर पुराणके सुप्रसिद्ध श्लोकोंके भाव व्यक्त किये गये हैं कि नूतन दान देनेकी अपेक्षा प्रदत्त भूमिकी रक्षाका फल अधिक है। पराई दी हुई भूमिका जो अपहरण करता है, वह विष्ठाका कीड़ा बनकर अपने पितृव्योंके साथ पचता है। सहस्रों जलाशय, सैकड़ों अश्वमेध-यज्ञ और करोड़ों गो-दानसे भी भूमिहर्त्ता शुद्ध नहीं होता। २६वें श्लोकमें ताम्रपत्र-प्रशस्ति-रचयिता श्रीमान् शुभंकरके पुत्र बहुश्रुत अनेक सुन्दर प्रबन्धके प्रणेता कविवर्य श्री अल्हणका उल्लेख (आजतक एक भी प्रबन्ध इनका मिला नहीं) है। वामनने प्रशस्ति कही, कीर्तिसूनुने लिखी और लक्ष्मीधरके पुत्रने इस ताम्रपत्रको बनाया।

गुप्तकालीन एवं उसके बादके कुछ ताम्रपत्रोंमें प्रदत्त भूमि, ग्रामकी चौहद्दी आदिका वर्णन आता है। पर इसमें इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। अन्यान्य ऐतिहासिक साधनोंसे ज्ञात होता है कि पण्डरतलाई ग्राम आज भी ठीक इसी नामसे विख्यात और बिलासपुर ज़िलेके पण्डरिया ज़मींदारीके अन्तर्गत अवस्थित है। वहांपर एक प्राचीन मन्दिर भी विद्यमान है, जिसपर सुन्दर खुदाईका काम किया गया है। आज पण्डरतलाईपर राजगोंडका अधिकार है, जिनकी एक शाखा कबीरधाम (कवर्धा-रियासत) में है।

विलासपुरके वाबू प्यारेलाल गुप्तसे विदित हुआ कि हैहयोंकी चौरासीमें यह जमींदारी कभी नहीं रही। पर यह ताम्रपत्र तो चौरासी-जैसी विभाजन-प्रथाके बहुत वर्ष पूर्वका है। इस जमींदारीका इतिहास भी दान देनेके ५०० वर्षो वादसे प्रारम्भ होता है। मानकुमारीदेवी अभी इसकी प्रधान हैं।

महाराज पृथ्वीदेवकी ४ स्वर्ण-मुद्राएँ मैंने सराईपाली (रायपुर) में देखी थीं, जिनपर एक ओर 'श्रीमत्पृथ्वीदेवः' दूसरी ओर द्विभुजी हनूमान्‌की प्रतिमा उत्कीर्णित थी। इसमें सन्देह नहीं कि ये कलचुरि ही थे; पर इस वंशमें एक ही नामके भिन्न-भिन्न समयमें तीन नरेश हुए हैं। अतः समुचित प्रमाणके अभावमें ठीक नहीं कहा जा सकता कि इन मुद्राओंके निर्माता कौन-से पृथ्वीदेव थे।

प्रस्तुत ताम्रपत्रमें '८९६ अमिने' उल्लेख है, पर स्पष्ट नहीं किया गया कि यह कौन-सा संवत् होना चाहिए। पर अन्यान्य साधनोंसे निश्चित रूप-से कहा जा सकता है कि यह संवत् कलचुरि ही है। कलचुरियों त्रैकूटक एवं गुजरातके ताम्रपत्रोंमें इस संवत्‌का प्रयोग विशेषरूपेण होता था। इसे चेदि-संवत्सर भी कहा गया है। पर मुद्राओंमें इस संवत्‌का न-जाने क्यों विकास नहीं हुआ। ईस्वी सन् १४९ से इसकी शुरुआत होती है। मूल ताम्रपत्र इस प्रकार है :—

ताम्र पत्रका लिप्यंतर

(१)

१ ७. ओं नमो ब्रह्मणे। निर्गुणं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणं। भावग्राह्यं परंज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्म

२ णे नमः ॥१॥ यदेतदग्रेसरमंवरस्य ज्योतिः सपूषा पुरुपः पुराणः। अथास्य पुत्रो मनुरा-

३ दिराजस्तदन्वयेऽभूद्भुवि कार्त्तवीर्यः ॥२॥ तद्वंशप्रभवा नरेन्द्रपतयः
स्यावाः क्षितौ हैहया
४ स्तेषामन्वयभूषणं रिपुमनोविन्यस्ततापानलः ।
वर्म्मध्यानधनानुसंचितयशाः (सत्व) सत्वलतां सौख्य
५ कृत्प्रेयान्सर्वगुणान्वितः समभवच्छ्रीमानसौ कोक्कलः ॥३॥
अष्टादशारिकरिकुम्भविभंगसिंहा
६ : पुत्रा बभूवुरतिशौ (शौ) र्यधराश्च तस्य । तत्राग्रजो नृपवरस्त्रिपुरीश
आसीत्सार्श्वे (र्वे) च मण्डलपतीन्स
७ चकार बन्धून् ॥४॥ तेषामनूजस्य कुलिगराजः
प्रतापवह्निज्वलिताररिराजः । जातोऽन्वयेद्वि
८ ष्टरिपुप्रवीरप्रियाननांभोरुहपार्व्वणेंदुः ॥५॥
तस्मादपि प्रततनिर्मलकीर्त्तिकान्तो जा
९ तः सुतः कमलराज इति प्रसिद्धः ।
यस्य प्रतापतरणावुदिते रजन्यां जातानि पंकज
१० वनानि विकासभांजि ॥६॥ तेनाय चंद्रवदनोऽज्जनि रत्नराजो
विश्वोपकारकरुणार्ज्जि
११ तपुण्यभारः । येन स्वबाहुयुगनिर्म्मितविक्रमेण नीतं यशस्त्रिभुवने
विनिहत्य श
१२ त्रून् ॥७॥ नोनल्लाख्या प्रिया तस्य शूरस्येव हि शूरता ॥
तयोः सुतो नृपश्रेष्ठः पृथ्वीदेवो
१३ बभूव ह ॥८॥ पृथ्वीदेवसमुद्भवः समभवद्राजाल्लदेवीसुतः शूरः
सज्जनवांछितार्थफल
१४ दः कल्पद्रुमः श्रीफलः । सर्वेषामुचितोऽर्च्चने सुमनसां
तीक्ष्णद्विपत्कंटकः पुष्यत्कान्त
१५ तरांगनांगमदनो जाजल्लदेवो नृपः ॥९॥ तस्यात्मजः
सकलकोसलमंडनश्रीः श्रीमा

१६ न्समाहृतसमस्तनराधिपश्रीः । सर्वक्षितीश्वरशिरोविहितांघ्रिसेवः
सेवाभृतां नि

१७ धिरसौ भुवि रत्नदेवः ॥१०॥ पुत्रस्तस्य प्रथितमहिमा
सोऽभवद्भूपतींद्रः पृथ्वीदे

१८ वोरिपुनृपगिरःश्रेणिदत्तांह्रिपद्मः । यः श्रीगंगं नृपतिम
करोच्चक्रकोटोपम

(२)

१९ दीञ्चिन्ताक्रान्तं जलनिधिजलोल्लंघनैकाम्युपाये ॥१॥* गोत्रे
वत्समुनेरनल्पमहिमा ह्रा

२० रुकनामा पुरा विप्रोऽभूद्भुवनप्रियः श्रुतिविदामाद्योऽनवद्योन्नतिः ।
यस्यासो (शो) भियशोभि

२१ रम्बरतलं कर्पूरपारिप्लवं श्रीखंडद्रवसोदरैखिसदालिप्तं
समन्तादपि ॥२॥ जीमूतवा

२२ हन इति प्रथितस्तदीयः पुत्रः पवित्रितवरित्रिदधच्चरित्रं ।
आसीदसीमगुणगौरवगुं

२३ फितश्रीः श्रीरेव यत्र च मुमोच निजं चलत्वं ॥१३॥ देल्हूक
इत्यभवदस्य सुतोमनीशी वे

२४ दान्ततत्त्वनिपुणा धिपणा यदीया । स्फूर्त्तिः स्मृतावनुपमा महिमा
च यस्य विश्वोपकारचतुरो

२५ चतुरोन्नतस्य ॥१४॥ सा .(शा) कंभरीमनुपमां भुवनेपुविद्यां ज्ञात्वा
यतो युधि विजित्य समस्त

२६ शत्रून् य ब्रह्मदेव इति विश्रुतमाण्डलीको जानाति
निर्ज्जरगुरूपममेकमुच्चैः ॥१५॥

२७ पंडरतलाइग्रामं ख्यातमेवडिमंडले । पृथ्वीदेवो ददौ तस्मै
सूर्य्यग्रहणपर्व्वणि ॥१६॥

२८ सि(षि)रस्तंभसहस्रे(स्रे)ण यावद्धत्ते महीमहि: । तावत्ताम्रमिदं पाल्य-
मेतदन्वयजन्मभि: ॥१७॥ का

२९ लान्तरेऽपि य: कश्चिन्नृपोऽमात्योऽथवा भवेत् । पालनीय: प्रयत्नेन धर्म्मोयं मम तैरपि

३० ॥१८॥*॥ व(ब)हुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि: सगरादिभि: । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य त

३१ स्य तदा फलं ॥१९॥ पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष पुरंदर । महीं महीभृतां श्रेष्ठ दाना

३२ च्छ्रेयो हि पालनं ॥२०॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृ

३३ भि: सह मज्जयति ॥२१॥ तडागानां सहस्रेण वाजपेयस (श) तेन च । गवां कोटिप्रदानेन भूमि

३४ हर्त्ता न सु(शु)ध्यति ॥२२॥ ताम्रप्रसस्ति (शस्ति) रचनेयमकारि तेन श्रीमत्सु(च्छु)भंकरसुतेन बहुश्रु

३५ तेन । श्री मल्हणेन कविकैरवषट्पदेन भूरिप्रबन्धरचितार्थलसत्पदेन ॥२३॥ घटितं वा

३६ मनेनात्र लिखितं कीर्त्तिसूनुना । लक्ष्मीधरसुतेनेदमुत्कीर्णं ताम्रमुत्तमं ॥२४॥ संवत् ८९६ अमिने ।

१–१–१४७

गुप्त लिपि

यहाँ हम एक ऐसी मुग़ल-कालीन नूतन लेखन-प्रणालिकाका परिचय देना चाहते हैं, जो भारतीय लेखन-कला-विज्ञानका मस्तक ऊँचा करती है। रोहणखेड़ सत्रहवीं शताब्दीमें एक उन्नतिशील नगर था। प्राचीन संस्कृत, प्राकृत एवं अरबी-फ़ारसी तवारीख़ोंमें रोहिणीखण्ड, रोहणगिरी, रोहणावाद आदि नामोंसे इस नगरके उल्लेख मिलते हैं। इस नगरकी स्थिति ठीक खानदेश और बरारकी सरहदपर है। निज़ाम-स्टेटकी सीमा भी यहाँसे कुछ ही दूरपर मिली है। अतः सत्रहवीं शतीमें सुरक्षाकी दृष्टिसे इस नगरका स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मुग़लों और मराठोंके प्रमुख युद्ध यहीं हुए हैं, जैसा कि तत्कालीन राजनीतिक इतिहास-ग्रन्थोंसे जाना जाता है। मार्च, १९३९ में हमें एक दिन यहाँ रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँके विभिन्न प्रकारके अवशेषोंसे, जो अधिकतर मुग़ल-कलासे ही सम्बन्धित हैं, हमने समझ लिया था कि अवश्य ही यह किसी समय उन्नत नगर होगा। ग्रामके पास एक विशाल मक़बरा बना हुआ है। निर्माण-काल-सूचक कोई लेख प्राप्त न होनेसे इसके बननेके निश्चित समयका निर्देश करना सम्भव नहीं; यहाँपर प्रचलित जनश्रुति एवं कलापरसे निश्चित रूपसे तो कहा ही जा सकता है कि सत्रहवीं शतीके उत्तरार्द्धके बादका इसका निर्माण-काल नहीं हो सकता। कहा जाता है कि औरंगजेबकी एक पुत्री यहाँपर रहती थी और यहींपर उसका देहावसान हुआ। शायद उसीकी स्मृति-रूप यह मक़बरा निर्मित हुआ हो?

प्रस्तुत मक़बरेकी निर्माण-कला बड़ी सजीव है। इसके कलात्मक अवशेष ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं। अन्दरका नमाज़का स्थान, मूलस्थान और आजू-बाजूकी जालियाँ आदि स्थापत्य-कलापर गुजरातमें प्रचलित

मुगलकलाका स्पष्ट प्रभाव प्रकट करते हैं। दीवालोंपर विभिन्न प्रकारकी पुष्प-लताएँ अंकित हैं, जो स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट समयका समर्थन करती हैं। इस प्रकारकी कलापूर्ण इमारतको देखकर हमने स्वभावतः प्रश्न किया कि इतना सुन्दर कलापूर्ण मक़बरा बनानेवाला कैसा व्यक्ति था, जिसने क़ुरानकी आयतें भी यहाँ न खुदवाई? पर वहाँ रहनेवाले एक मुसलमान व्यक्तिने कहा—"यहाँपर क़ुरानकी आयतें ही नहीं, महाकवि हाफ़िज़के पद्य भी गुप्त-रूपसे उल्लिखित हैं।" हमने आश्चर्यसे कहा—"यहाँ तो केवल कोरे पाषाणोंके अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता?" पर उस व्यक्तिने ज्योंही दीवालपर जलका छींटा दिया, त्योंही तत्रांकित लिपि सजीव हो उठी! जहाँ-जहाँ जलसे स्थान भींगता गया, वहाँ-वहाँ लिपि प्रकट होती गई। जल सूखा कि लिपि भी विलुप्त! परिचायकसे विदित हुआ कि क़ुरानकी कुछ खास आयतें इस लिपिमें लिखित हैं। यह लेखन-कला इतनी सुन्दर, स्पष्ट और आकर्षक है कि देखते ही बनता है। एक-एक आयतके चारों ओर बड़ा सुन्दर बार्डर पृथक्-पृथक् ढंगसे बना है। लिपिमें पीली, काली, हरी और लाल स्याहीका उपयोग होनेसे वस्तुतः लेखनमें सजीवता आ गई है। इस प्रकारका लिपि-कौशल हमारे अवलोकनमें तो आजतक कहीं नहीं आया था। कहना होगा कि यह कला मुगल-कालीन भारतकी सबसे बड़ी देन है। इस लेखन-पद्धतिको देखनेसे स्पष्ट विदित होता है कि आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व भी भारतका कलात्मक जीवन कितना उच्चकोटिका था।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकारकी लेखन-प्रणालिकाका प्रचार भारतमें कबसे कबतक तथा इसका विधान कैसा था? साथ ही भारतके किन-किन स्थानोंमें इस पद्धतिका विकास हुआ, आदि। इन प्रश्नोंका उत्तर भारतीय खण्डहरोंके अन्वेषणोंपर निर्भर करता है। प्राचीन साहित्य इस विषयमें मौन है; परन्तु कुछ फुटकर हस्त-लिखित पत्रोंमें जो उल्लेख आये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे हमारी इस समस्याको पूर्णरूपेण नहीं सुलझाते,

फिर भी उनसे इसपर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। खासकर इस प्रकार-की गुप्त लिपि लिखनेमें मोम, सिरखटा और तिलके तेलका उपयोग विशेष-रूपसे होता था। लिखते समय निम्न भागमें पाषाणको आग द्वारा तपाये रखना पड़ता था। कुछ घण्टोंके बाद नीबूसे पाषाणोंको धोकर दीवारपर लगा दिया जाता था। हमने इसमें साबुन मिलाकर कुछ ऐसे पत्र लिखे, जिन्हें पढ़नेमें अच्छे-अच्छे गुप्तचर भी समर्थ न हो सके।

भौगोलिक
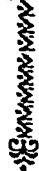
और
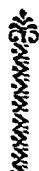
यात्रा

मेरी नालन्दा-यात्रा

पैदल-यात्राका आनन्द और सांस्कृतिक महत्त्व

पैदल-यात्रा भी जीवनका एक अद्‌भुत आनन्द है। प्रकृतिका सान्निध्य पैदलयात्रासे ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव-जीवनकी गहनता और वास्तविकताकी जो अनुभूति घुमक्कड़को होती है, सम्भवतः वाहन-विहारी उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। भारतका सांस्कृतिक अध्ययन और इस महादेशमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी नैतिक परम्पराओंका तलस्पर्शी अनुशीलन पैदल-यात्री और दृष्टि-सम्पन्न कलाकार ही कर सकता है। भारतीय सन्त-परम्पराका सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है। सन्तोंने सारे एशियाको और कभी-कभी विश्वके कुछ देशोंको भी अपनी इसी साधनाके बलपर, सांस्कृतिक सूत्रमें आबद्ध किया था। यह सांस्कृतिक एकता न केवल तात्कालिक जन-जीवनको सुखद बना सकती है, अपितु मानो संसारके लिए भी कुछ ऐसी परम्पराएँ छोड़ जाती है, जिनसे वे भी मानवताके मूल्यको पहचान सकें। पर वर्त्तमान युग तो प्रगतिशील ठहरा! सन्त-परम्परा भी वाहन-विहारिणी हो आकाशमें उड़ने लगी है! गति सीमित ही श्रेयस्कर हो सकती है। आवश्यकतासे अधिक प्रगति जीवनको संतुलित नहीं रख सकती। मुझे तो ऐसा लगता है कि आज भले ही संस्कृति या नैतिक परम्पराके नामपर लोग चाहे जो कहें या यन्त्रोंके सहारे उनका प्रचार भी करें; परन्तु पैदल-यात्रा करनेवाले श्रमणोंके सांस्कृतिक कार्यकी तुलना, इनसे नहीं हो सकती। आजका प्रचार कागजके चीथड़ोंपर है। पूर्वकालमें वह जीवनसे सम्बन्धित था, अल्प होते हुए भी चिरस्थायी था। उन दिनों संस्कृति केवल मानसिक श्रम और वैचारिक आनन्दकी वस्तु न थी, बल्कि उसका उपयोग जीवनके

विकासके लिए था। कला, कलाके लिए न होकर जीवनके लिए थी। अब सन्त-परम्परामें भी वह जीवन-शक्ति न रही, जो उसे जन-कल्याणके प्रशस्त पथकी ओर उत्प्रेरित कर सके। कहनेके लिए आज भी पैदल चलनेवालोंकी कोई कमी नहीं है; पर उनमें बहुमुखी प्रतिभा और सांस्कृतिक दृष्टिकोण प्रायः नहीं है। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि सन्त-परम्पराके अनुयायी अपनी दृष्टिको अतीतसे वर्तमानके आधारपर भविष्यकी ओर मोड़ लें या दृष्टि माँज डालें तो संस्कृतिके नामपर फैली हुई अनैतिकताको दूर किया जा सकता है तथा एकांगी शुष्क जीवनमें भी सौन्दर्यकी स्रोतस्विनी प्रवहमान हो सकती है। जैन-मुनियोंके जीवनमें पैदल-यात्राके साथ सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है। आज भी वे इस जटिल नियमका पालन कट्टरतासे करते हैं। मध्यकालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक इतिहासकी जितनी सामग्री इन पादविहारी मुनियोंने, अपने यात्रा-विवरणोंमें एकत्र की है, उतनी शायद चीनी पर्यटक भी नहीं कर सके हैं। यद्यपि जैन-मुनियोंका दृष्टिकोण शुद्ध-धार्मिक था, पर उन्होंने मार्गमें आनेवाले देशके अनेक सामाजिक व धार्मिक रिवाजोंको एकत्र करनेमें तनिक भी संकोच नहीं किया। बंगाल, बिहार, ओरिसा, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारतके आदिवासी जानपदोंकी महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक सूचनाएँ अपने ग्रन्थोंमें संग्रहीतकर इतिहासके विद्यार्थियोंपर बड़ा उपकार किया है। पर हाँ, विद्वानोंने इस विषयको विशेष दृष्टिकोणसे देखनेका या अध्ययन करनेका परिश्रम नहीं किया है। मैं नहीं समझता ऐसा प्रत्यक्षदर्शी वर्णन अन्यत्र उपलब्ध होगा।

नालन्दाकी ओर

पुरातत्त्वमें थोड़ी-बहुत अभिरुचि रखनेके कारण नालन्दाके कलात्मक प्रतीकोंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। तबतक केवल कतिपय प्रतीकोंके चित्र ही देख पाया था, अतः उन्हें प्रत्यक्ष देखनेकी उत्कट अभिलाषा बहुत दिनोंसे थी। जब पूज्यपाद गुरुवर उपाध्याय मुनि श्रीसुखसागरजी महाराज तथा मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराजके साथ सन् '४८ में मैं मगधमें प्रवास

कर रहा था तो वहांके ऐतिहासिक भग्नावशेषोंके देखनेका सौभाग्य प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

सिमरिया, राजगृह, लछुवाड़ तथा श्रमण भगवान् महावीरकी निर्वाण-भूमि पावापुरीकी यात्रा समाप्त कर हम २६ अप्रैलको नालन्दाकी ओर चल पड़े। राजगृहसे नालन्दाके लिए दो मार्ग हैं। एक तो सड़कसे और दूसरा पगडण्डियोंसे। सड़कसे नालन्दा जानेमें बहुत घूमकर जाना पड़ता है; परन्तु पगडण्डियोंसे केवल ५ मील चलना पड़ता है, इसलिए हम सड़कसे दाहिनी ओर मुड़नेवाली पगडण्डीसे ही चले, जो नदी, नालों और खेतोंको पार करती आगे निकल जाती है। कहीं-कहीं यह मार्ग इस प्रकार लुप्त भी हो जाता है कि मार्ग-दर्शकके विना सही रास्तेका पता पाना मुश्किल हो जाता है। मार्गमें कई सुन्दर गाँव भी पड़ते हैं। प्रातःकालका समय होनेसे गाँव और भी आकर्षक प्रतीत होते थे। नालन्दा आस-पासकी ग्राम-संस्कृति में इतना घर कर गया है कि वहांके लोगोंसे उसका मार्ग पूछनेपर उनका चेहरा खिल उठता है। सचमुच सौन्दर्य और संस्कृति किसी अभिजात वर्गकी ही वस्तु नहीं है, वल्कि ग्राम्य-जीवनमें तो प्रकृति और संस्कृतिका अद्भुत तादात्म्य हुआ है।

जिन पगडण्डियोंसे हम जा रहे थे, वे कभी-कभी खेतकी मेड़ोंपर भी चढ़ जाती थीं। धानके खेतोंकी मेड़ें वैसे ही ऊँची होती हैं। १५ सेरका बोझ कन्धेपर लादकर इन सकरी मेड़ोंपर चलना कोई आसान काम नहीं है।

चारों ओर सिवा धानके खाली खेतोंके और कुछ भी नहीं दीखता था। पेड़ोंकी संख्या भी इस क्षेत्रमें अपेक्षाकृत कम थी। गर्मीके दिनोंमें धानके इन खेतोंमें बड़ी-बड़ी दरारें फट पड़ती हैं, जो यात्रियोंमें भयका संचार करती हैं। नालन्दाके सम्बन्धमें कल्पनाओंका सागर-सा उमड़ा पड़ता था। अतः मार्गकी इन असुविधाओंपर ध्यान भी नहीं गया। गति एक लक्ष्यपर केन्द्रित थी। पैर उसी ओर बढ़ रहे थे। देखते-ही-देखते हम सवा घण्टेमें ही नालन्दा-स्टेशनपर पहुँच गये। पहुँचते ही अवशेषोंके दर्शनके लिए मन

अधीर हो उठा, आश्चर्यान्वित मुद्रामें इधर-उधर झाँकने लगा। इतनेमें एक महाशय, जो शायद सी० आई० डी० के कोई चर थे, मेरी ओर बढ़े और उन्होंने मुझसे प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। उनके प्रश्नोंके ढङ्गसे ऐसा लगा, मानो वे मुझे कोई राजनीतिक फरार समझते थे। उनके इस व्यवहारसे मुझे बड़ी झुँझलाहट हुई और उनके सब प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने केवल इतना कहा, "आपको मेरी कैफ़ियत जाननेकी ज़रूरत नहीं।" वे चले गये।

नालन्दामें

ठीक पौने नौ बजे हम लोगोंने नालन्दाकी पुनीत भूमिपर पैर रखा। दूरसे ही खण्डित लाल ईंटोंके अवशेष दिखलाई पड़े। उन्हें देखकर मन पुलकित हो गया, हृदय गौरव-गरिमासे उछलने लगा। मानसिक वृत्तियाँ टूटे-फूटे खण्डहरोंसे लिपट गयीं। मानस-पटलसे तद्विषयक कल्पनाओंका स्रोत फूट पड़ा। प्रेरणाप्रद वातावरणसे विगत स्वर्णिम सृष्टिका स्वतः अनुभव होने लगा। ज्यों-ज्यों हम लोग बढ़ने लगे त्यों-त्यों और भी कई अवशेष सामने आने लगे, वर्षोंकी साधना पूर्ण होती प्रतीत हुई। यह देख मन प्रसन्नताका अनुभव करने लगा। समस्त खण्डहरोंने हमें इतना प्रभावित किया कि उन्हें बादमें देखनेका धैर्य रखना मुश्किल हो गया; परन्तु अप्रैलका महीना होनेसे उस समय मार्गकी धूल इतनी तप्त हो रही थी कि पैर जमाना मुश्किल था। दूसरे शरीरपर भी बोझ काफ़ी था। अतः नालन्दाके कलात्मक प्रतीकोंका थोड़ा-सा अवलोकन कर हम लोगोंने नालन्दाकी जैन-धर्मशालामें डेरा जमाया।

एक खेतमें

आहार करके सोच रहा था कि कुछ लेटकर खण्डहर और खेतोंमें इतस्ततः बिखरे अवशेषोंसे भेंट कर उनकी मूक कहानी सुनूँ, तबतक सूर्य-तापकी प्रखरता भी कम हो जायगी। उन दिनों प्रकृति भी हमारा साथ दे रही थी। ठीक १ बजे आकाशमें हल्के काले मेघ उमड़ आये। मैंने अपनी दूरबीन सम्हाली और केमरा लेकर चल पड़ा। मेरे आवाससे नालन्दाके

खण्डहर लगे हुए ही थे। ज्यों ही धर्मशालाके पिछले द्वारसे निकला, मेरी दृष्टि खेतके एक अवशेषपर पड़ी। यह बौद्धतन्त्रसे सम्बन्धित एक देवीकी मूर्त्ति थी। कई हाथ विविध आयुधोंसे सुसज्जित थे। मुखपर जो भाव कलाकारने व्यक्त किये थे, उनसे स्पष्ट पता लग रहा था कि देवी कितनी क्रूर रही होगी। मूर्त्तिका अंग-विन्यास विचित्र होते हुए भी आकर्षक था। वह विभिन्न आभूषणोंसे अलंकृत थी। ये आभूषण ही सूचित कर रहे थे कि प्रतिमा निस्सन्देह पाल-कालीन थी, क्योंकि इस कालकी अन्यत्र प्राप्त स्त्री-मूर्त्तियोंमें जिन आभूषणोंकी उपलब्धि होती है, वे यहाँ भी थे, नारीकी मूर्त्ति, तांत्रिक होते हुए भी, मर्यादित थी। इस प्रतिमाको कुछ समयतक एकटक देखता रहा। मनमें कई प्रकारकी कल्पनाएँ उठती थीं। ऐसा लग रहा था मानो कलाकारने जड़-प्रस्तरपर कठोर छेनीसे हृदयकी सुकुमार भावनाको ही मूर्त्त नहीं किया, अपितु उस समयकी एक ऐसी नारीको रच दिया, जो तत्कालीन नारीका प्रतिनिधित्व करती है। आभूषण इस बातके साक्षी थे कि उन दिनों आर्थिक विकास कितना था। शस्त्रास्त्र भी अपने कालकी उपयोगिता प्रमाणित कर रहे थे। यह प्रस्तर-मूर्त्ति न जाने क्या-क्या सन्देश दे रही थी। कितने परिश्रमसे इसका निर्माण हुआ होगा, इसकी तो हम कल्पना तभी कर सकते है, जब हमारा जीवन सौन्दर्यके तत्त्वोंसे ओत-प्रोत हो। एक समय वह न जाने कितने भक्तों द्वारा समादृत होती होगी; परन्तु आज उसके चारों ओर शौचालय है।

ढेला बाबा

आगे चलकर देखता क्या हूँ कि बुद्धदेवकी एक बड़ी ही सुन्दर और सुकुमार भावोंकी प्रतिमा पड़ी हुई है। ओठोंपर स्मित परिलक्षित था। मूर्त्ति-निर्माण उच्च कलाकारके हाथों सम्पन्न हुआ प्रतीत होता था। मुखका भाग तो कुछ खण्डित था ही; परन्तु अन्य उपांग भी टूटे हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे। नासिका विशेषतया तराशी गई थी। पासमें छोटे-बड़े पत्थरोंका

ढेर लगा था। कुछ देरतक हम लोगोंने यहीं अपना आसन जमाया। इतने-में कुछ युवक आये और एक-एक ढेला मूर्त्तिपर पटककर हँसते हुए चलते बने। उनकी इस अभ्यर्थना और पूजाके नये ढंगको मैं समझ नहीं पा रहा था। सभी पढ़े-लिखे सूट-बूटधारी युवक थे, इसलिए स्वभावतः जिज्ञासा पैदा हुई और मैं उनसे पूछ बैठा कि देव-पूजाका यह विधान कैसा? उन्होंने निस्संकोच उत्तर दिया कि इस मूर्त्तिकी पूजाका यही शास्त्रीय विधान है। उनके इस उत्तरसे हमें बड़ा आश्चर्य हुआ; परन्तु थोड़ी देरमें हमें पता चल गया कि सचमुच उस मूर्त्तिकी वहाँ उसी प्रकार अभ्यर्थना होती है। आस-पासकी जनतामें यह प्रवाद है कि इनको पीटनेसे यह भयभीत हो परमात्मा के पास जाते हैं और अपने अस्तित्वको बनाये रखनेके लिए, उन्हें सताने-वालोंके पापोंको क्षमा करनेकी सिफ़ारिश करते हैं। भक्तिका रहस्य तो मेरी समझमें नहीं आया। हाँ, इतनी कल्पना जरूर हुई कि इस प्रवादका मूल श्रमण संस्कृतिके प्रति घोर घृणा और द्वेषकी निम्न मनोवृत्तिका परिचायक है। मैं मूर्त्तिके और निकट गया। उसकी निर्माण-कला देखकर आश्चर्यचकित रह गया। कलाकारने मूर्त्तिके निर्माणमें कमाल कर दिखाया है। इस प्रतिमाका ऐतिहासिक दृष्टिसे भी कम महत्त्व नहीं। कारण कि इसके ऊपर **सारिपुत्र** और **मौग्गलायन, अवलोकितेश्वर** तथा आर्य **मैत्रेय**-की मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं।

तेलुआ-भैरों बाबा

रात्रिको नालन्दाके कथाकोविद ग्राम-वृद्धोंसे वहाँके अवशेषों और खण्ड-हरोंके सम्बन्धमें प्रचलित कथाएँ सुनीं। उनमें इन अवशेषोंके सम्बन्धमें कई किंवदन्तियाँ और भ्रमपूर्ण धारणाएँ फैली हुई हैं। एक प्रतिमा ध्वस्त खण्ड-हरोंके सुदूर उत्तरी भागमें वटवृक्षके नीचे भूस्पर्शकी मुद्रामें है। चारों ओर ईंटोंका परकोटा बना है। दूरसे लगता है, यह कोरा खण्डहर ही होगा। मेरा अनुमान है कि बहुत-से नवागन्तुक पर्यटक इस सौन्दर्य-सम्पन्न प्रतिमाके

दर्शनसे वंचित ही रह जाते होंगे। ज्यों ही भीतर झांकते हैं, एक विशालकाय प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय डॉ० हीरानन्द शास्त्रीकी मान्यता है कि "यह उस अवस्थाको द्योतक है, जिसमें सिद्धार्थको ज्ञान प्राप्त हुआ था। ज्ञान-प्राप्तिके पूर्व जब ये महात्मा पालथी मारकर बैठे थे, तब इन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि यहाँसे तबतक नहीं उठेंगे जबतक 'बोधि' या पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो। भूमिको स्पर्श करते हुए इन्होंने कहा था कि "हे भूमि! यदि मैं पापी नहीं हूँ तो मैं इस ज्ञानको प्राप्त करूँ। तू मेरे पुण्य और पापको देखनेवाली हो।" निःसन्देह यह प्रतिमा उपर्युक्त भावोंको समुचित रूपसे व्यक्त करती है। आत्म-कर्त्तव्यके प्रशस्त पथपर अग्रसर होनेको उत्प्रेरित करनेके दृढ़ संकल्पी भावोंसे मुखपर ज्योति चमक रही है। लगता है, मानो इस जड़ पत्थरमें साक्षात् बुद्धदेवकी आत्मा तो नहीं आ विराजी! इसके निर्माणमें कलाविद्ने मनोविज्ञानका सुन्दर परिचय दिया है। मुखपर दृष्टि केन्द्रित करते ही मनकी गति और चित्तवृत्तिमें अद्भुत परिवर्त्तन हो जाता है। कहना चाहिए कि आत्म-लक्षी दृष्टि स्थिर हो जाती है। यदि सौन्दर्यका सम्बन्ध हृदयसे है तो मानना होगा कि शायद ही कोई सहृदय ऐसा होगा जो इसके सम्मुख नतमस्तक न होगा। भगवान् बुद्धदेवके लोकोत्तर व्यक्तित्वका साकार रूप प्रस्तरपर निखर उठा है। अहिंसा और विश्व-बन्धुत्वकी उदात्त भावनाएँ यहाँ साकार हैं। न जाने प्रतिमा-सम्पन्न कलाकारने मानसकी किन उन्नत भावनाओंसे इसका निर्माण किया होगा। शारीरिक अंग-विन्यास और विकासमें शिल्पीने अपना अद्भुत चातुर्य दिखाया है और इस प्रकार वह निश्चय ही हमारी श्रद्धाका भाजन बना है। जड़ वस्तुमें भी ऐसे सात्त्विक भावोंको मूर्त्त कर दिया है, जिसपर सभी मुग्ध हो जाते हैं। हमने अपने नालन्दा-प्रवासके दिनोंमें इसका नियमित अवलोकन किया; परन्तु मन कभी ऊबा नहीं। यों तो प्रतिमा सात्त्विक भावोंका पुंज ही है; परन्तु ग्रामीणोंके लिए इसकी स्मृतिका एक दूसरा ही प्रकार है। वे इसे भैरों बाबाके रूपमें पूजते हैं। श्याम पाषाणपर

विशालकाय वुद्धदेवकी यह मूर्त्ति है। इसीसे इसे भैरवका प्रतीक मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रतिदिन वुद्धदेवको तैल-स्नान करना पड़ता है और वदलेमें दुवले-पतले वच्चोंको मोटा वनानेका काम करना पडता है। पण्डोंने भोली जनताको लूटनेका एक निकृष्ट पेशा ही वना लिया है। फलस्वरूप कच्चे घड़ेमें सातों धान, दूव, सुपारी, नारियल, चुन्दरी और सवा रुपया पण्डोंकी जेवमें जाता है और 'वहुजनहिताय, वहुजनसुखाय'के उद्‌घोषक वुद्धकी मूर्त्तिपर इसप्रकार निर्लज्जतापूर्वक भोली-भाली जनता ठगी जा रही है।

विद्यापीठके खण्डहरोंमें

फुटकर अवशेषोंको देखनेके वाद हमने निश्चय किया कि अव एक साथ प्राचीन विद्यापीठके अवशेषोंका निरीक्षण किया जाय, जो कभी माता सरस्वतीका पुनीत धाम था, जहाँपर विदेशके प्रकाण्ड पण्डित विद्यार्थी होकर आते थे और जिसके लिए नालन्दाकी इतनी ख्याति थी। नालन्दाकी प्राचीन व पवित्र कीर्त्तिका अनुभव उसके इन खण्डहरोंसे होता है। वर्षोंकी साधनाका इतिहास इन खण्डहरोंके कण-कणमें आज भी विखरा पड़ा है। वहाँकी एक-एक ईंट मानो वुद्धदेवका दिव्य सन्देश दे रही है। वीणापाणिके सुविख्यात तीर्थमें निवास करनेवाले और भारतीय-संस्कृति, कला और साहित्यकी विभिन्न शाखाओंके प्रकाण्ड पण्डित, भिक्षु-साधकोंके समुज्ज्वल व्यक्तित्वका परिचय, यहाँके खण्डहर मौन वाणीमें पुकार-पुकारकर दे रहे हैं। एक समय था, जव यहाँ सैकड़ों घंटोंके नाद होते थे; परन्तु अव तो दिनमें भी निस्तब्धता छायी रहती है। एक समय था, जव यहाँ विभिन्न विषयोंका अध्ययन करनेके लिए देश-विदेशसे छात्र आते थे; परन्तु अव तो अध्ययनस्थान ही अनुशीलनका विषय वना हुआ है।

उत्तरकी ओरसे हमने खण्डहर-यात्रा प्रारम्भ की; क्योंकि वही मार्ग हमें अनुकूल पड़ता था। खण्डहरोंको यहाँपर दो भागोंमें विभाजित करना

सुविधाजनक जान पड़ता है। एक भाग विहारोंका और दूसरा स्तूपों और चैत्योंका है।

आगेवाली पंक्तिमें लगातार कई खण्डहर दीख पड़ते हैं। वे सभी विहारोंके अवशेष हैं। लाल ईंटें हैं। जो विहार अभी दिखलायी पड़ते हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि अब भी पूर्ण रूपसे उनका खनन नहीं हुआ। कुछ भाग ही सरकार पृथ्वीके गर्भसे निकाल पायी है। बौद्धोंमें शुरूसे ही प्रथा रही है कि एक विहार गिरनेपर उनके अवशेषोंको ढँकनेके लिए उसी मलवेपर दूसरा विहार बना देते थे। इसे बौद्ध साहित्यमें परिछादन कहते हैं।

सभी विहारोंकी निर्माण-शैली एक ही है। चारों ओर कोष्ठ और खुला बरामदा है। कहीं चौकोर आँगन भी है। बरामदेके विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना मुश्किल है। या तो वह दूर-दूर बने स्तम्भोंपर आवृत रहा होगा या छत खुली रही होगी। विहारोंकी भित्ति बिलकुल सादी है। केवल आगेका कुछ भाग ही सुसंस्कृत है। छोटे-छोटे कमरे प्रत्येक विहारमें बने हैं। उनमें वायु-प्रवेशके लिए खिड़कियाँ नहीं दीखतीं। हाँ, सामान या मूर्त्ति रखनेके लिए आले अवश्य बने हैं। कुछ बरामदे ऐसे भी दिखाई दिये, जिनकी पीठिकामें मूर्त्तियाँ अंकित थीं। कमरेकी दीवारों-के कटाव इस ढंगके बने हैं कि चारपाईके रूपमें भी उनका उपयोग हो सकता है। कुछ विहारोंकी छतें अब भी इतनी दृढ़ हैं कि उनकी प्राचीनताका अनु-मान करना कठिन हो जाता है। कुओंकी भी यहाँ बड़ी सुन्दर व्यवस्था है। कुछ अठपहले हैं तो कुछ छहपहले। यहाँके कुओंका जल बड़ा मीठा और शीतल है। कूप और विहारोंमें जिन ईंटोंका व्यवहार हुआ है, वे गुप्तकालके पूर्वकी तो नहीं हैं। इतिहास साक्षी है कि शुंगकालसे चौथी शतीतकका एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता जो नालन्दाकी स्थितिपर प्रकाश डाल सके। पाँचवीं सदीमें (४०५-४११ ई०) चीनी यात्री फाहियान भारत आया था। उसके समयमें नालन्दा उच्च कोटिके नगरोंमें नहीं गिना जाता रहा होगा,

वरना वह इसका उल्लेख किये विना न रहता। उसने तो केवल 'नाल' का उल्लेखकर सन्तोष कर लिया है।

इन विहारोंके बाद हमलोग चैत्योंकी पंक्तिकी ओर मुड़े। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, प्रत्येक विहारके पश्चात् भागमें एक-एक स्तूप या चैत्य बने हुए हैं। स्तूपोंकी पंक्ति दक्षिणकी ओरसे प्रारम्भ होती है और उत्तरकी ओर चली जाती है।

स्तूप

जैन-संस्कृतिमें जो स्थान मन्दिरोंका है, बौद्ध-संस्कृतिमें वही स्तूपोंका है। अन्तर केवल इतना है कि जैन-मन्दिरोंमें प्रशम-रसके प्रतीक तीर्थंकरकी प्रतिमा विराजमान होती है जबकि स्तूपोंमें गौतम बुद्ध या उनके त्यागी भिक्षुओंके शरीरका अंश या धातु—हड्डी—रहती है। इन्हीं अवशेषोंपर स्तूपों या चैत्योंका निर्माण होता है। ऐसे स्तूपोंकी संख्या काफी है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखनेमें आता है कि बड़े स्तूपोंके निकट छोटे-मोटे स्तूप भी वनते थे। इनकी रचना अर्द्ध गोलाकार होती थी। उनके ऊपरी भागमें एक या अधिक छत्र भी रहा करते थे। ऐसे स्तूप विशेषतः पुण्य-तीर्थोंमें वनवाये जाते थे। नालन्दा न केवल बौद्ध-संस्कृतिका केन्द्र था, अपितु स्वयं बुद्धदेवने यहाँके आम्रवनमें कई चातुर्मास विताये थे। कहा तो यह भी जाता है कि बुद्धके निर्वाणके बाद ही यहाँपर उनकी स्मृति-स्वरूप एक स्तूप बना था। आनन्दने बुद्धदेवके निर्वाणका यही स्थान उपयुक्त समझा था। पाटलिपुत्रसे भी नालन्दाका वैभव उन दिनों बढ़कर था।

भारत सरकारकी ओरसे खुदाईका कार्य सर्वप्रथम इसी स्तूपसे हुआ था। इसकी ओर पर्यटकका ध्यान शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है, कारण यह सबसे ऊँचा है। टेढ़ी-मेंढ़ी सीढ़ियाँ पार कर हम ऊपर चढ़े। पहुँचनेपर हमें जिस आनन्दकी अनुभूति हुई, वह तो अनुभवकी ही वस्तु है। कोसों तक ग्राम, खेत, नदियाँ और वृक्षोंकी पंक्तियाँ दिखती थीं। सर्पाकार सड़कें

कोसों तक मार्गको चीरती हुई आगे निकल गई थीं। राजगृहके पाँचों पहाड़ तो मानो हमारे निकट ही हों, ऐसा लगता था। वहाँका प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुहावना था। ऊपरवाली छतके चूनेकी पालिश इतनी चिकनी थी कि देखकर आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता था। कहा जाता है कि यह स्तूप इतना ऊँचा इसलिए बनवाया गया था कि भिक्षुगण ख-मण्डलका समुचित अध्ययन कर सकें।

नीचे उतरकर स्तूपका निम्न भाग और कई उपस्तूपोंकी दीवारोंपर चूनेकी पालिशकी सुन्दर कलापूर्ण प्रतिमाएँ देखीं, जो उन दिनोंकी लोक-संस्कृति और मूर्तिकलाका प्रतिनिधित्व करती थीं। ऐसे ही ढंगकी प्रतिमाएँ हमने राजगृहके निर्माल्य कूपमें भी देखी थीं। पाल युगमें मगधका शिल्प बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इन्हीं शिल्पियोंके पूर्वजोंकी उपर्युक्त कला-कृतियाँ रही होंगी। स्तूपके पास पूर्व विहारोंके अवशेष पडे हुए थे। अतः इस स्तूपकी पूरी खुदाई सम्भव नहीं हो सकी है; क्योंकि इससे पूरा स्तूप ढह जानेकी सम्भावना है। अर्थात् यह स्तूप परिच्छादनका स्पष्ट प्रतीक है। निम्न स्तरोंसे बहुत-सी मूल्यवान् वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। सम्भव है, अग्निदाहके समय शीघ्र पलायन करते समय भिक्षु उन्हें साथ न ले जा सके होंगे। धातु-प्रतिमाओंके अतिरिक्त अष्टधातुका एक सिंहासन भी मिला है। कुछ अन्य अवशेष भी ऐसे मिले हैं जो किसी नृप-प्रतिमाके सूचक हैं। सम्पूर्ण स्तूपका सरसरी तौरसे अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि नालन्दाके उन्नत युगमें जो स्तूप निर्मित हुए थे, उनमें यह प्रमुख रहा होगा; क्योंकि इसकी विशाल आकृति, सुन्दर रचना-कौशल, अधिक-से-अधिक इसी स्तूपमें पाया जाता है। बहुत-से छोटे-छोटे कमरे, जिनपर सुन्दर अलंकरण बने हैं। यह स्तूप क्या है, मानो छोटा-सा दुर्ग ही है।

उत्तरकी ओर दो कोष्ठ ईंटोंके बने हैं। प्रतीत होता है कि सम्भवतः गुफाएँ ही हों। इनमें व्यवहृत पाषाण नालन्दाके निकट गया और बराबर पहाड़ियोंके हैं। पश्चिम कोष्ठका द्वार बन्द है; पर पूर्वका खुला है। इनके

ऊपरका भाग भारतीय कलाका सुन्दरतम उदाहरण है। ईंटोंने इनका सौन्दर्य काफ़ी बढ़ा दिया है। पार्थिव पुष्पोंमें सौन्दर्य पाये जानेकी उक्ति इसपर सोलहों आने चरितार्थ होती है। यह स्तूप न केवल तथ्योंका ही आधार है, अपितु सत्यका भी प्रकाशक है। इन दोनोंमें कमानदार छतें हैं, जो मुसलिम शिल्प-कलाके पहलेकी हैं। स्तूपसे पानी निकलनेकी सुन्दर नालियाँ बनी हैं। पूर्वी भागमें कुछ ऐसे अवशेष दिखलाई पड़े, जो बुद्धदेवकी भूमिस्पर्श मुद्राके अवशेष-से लगे। दक्षिणी कोना मूर्तियोंसे भरा पड़ा है। उत्तर और दक्षिणकी दीवारोंके आलोंमें तारा और भगवतीकी चित्ताकर्षक मूर्त्तियाँ थीं; पर अभी वे ईंटोंसे आच्छादित हैं। मगधके दीपकोंका, शिल्पकलामें यहाँसे प्राप्त अवशेषोंके अतिरिक्त इतना सुन्दर उदाहरण सम्भवतः अन्यत्र न मिल सके। भीतरी भागका विभाजन विलक्षणताओंसे भरा पड़ा है। कहनेका तात्पर्य कि वहाँकी एक-एक ईंटमें सौन्दर्यके तत्त्व इतने व्याप्त हैं कि वहाँसे हटनेकी इच्छा नहीं होती। सम्पूर्ण स्तूप नष्ट-भ्रष्ट होते हुए भी मागधी शिल्प-स्थापत्य कलाका आज भी सफल प्रतिनिधित्व कर रहा है।

भीतरी भागको देखकर हम लोग चाहते तो यह भी थे कि विशाल स्तूपका बाह्य भाग भी घूमकर देखें; परन्तु वह सम्भव न हो सका। कारण, छोटे-मोटे इतने पौधे थे कि उनको रौंदकर अपनी इच्छाकी पूर्त्ति करना हमारे जैसे जैन-मुनिके लिए सम्भव न था। फिर भी यथासम्भव घूमकर देखनेकी चेष्टा की। स्तूपका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है, पर नीचेकी दीवारें आज भी नई-सी लगती हैं। ईंटोंकी जुड़ाइ सुन्दर और कलापूर्ण है। जगती-का भाग तो और भी सुन्दर है। ईंटोंका यथास्थान जैसा उपयोग हुआ है, उसे देखकर तो यही प्रतीत होता है, मानो सम्पूर्ण स्तूपका मानचित्र पहले ही तैयार हुआ होगा और तदनुकूल ही ईंटोंका भी निर्माण हुआ होगा; क्योंकि बहुत-सी गोल या अर्द्ध गोल ईंटें ऐसी हैं, जो स्वाभाविक ढली-सी प्रतीत होती हैं।

उपर्युक्त विहारके दक्षिण-पश्चिम कोनेसे सटा एक दूसरा विहार भी है। यहाँसे बहुसंख्यक मूर्त्तियाँ निकली हैं। इसका आँगन भी बड़ा भव्य है। यहाँ चूल्हे भी पाये गये हैं। इसमें एक कुआँ भी है। उनसे अनुमान होता है कि निस्संदेह यहाँ औषधालय रहा होगा। यहाँसे हम उत्तरकी ओर चलते गये और एक दूसरेसे सटे हुए अनेक चैत्यावशेषोंकी कहानी सुनते गये। यों भी सभी स्तूप सुन्दर बने होंगे; पर बिलकुल अच्छी हालतमें कुछ ही बचे हैं। इनके बीच पुरातत्त्व विभागका एक छोटा-सा मकान बना है। जहाँसे दर्शकोंको टिकट लेना पड़ता है। इसके सामने एक विशाल स्तूप है। हम लोग इसकी विस्तृत छतपर चढ़ गये। ऊपर जानेके लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। पर अब तो वे भी इतनी जर्जर हैं कि यदि चढ़ते समय थोड़ी भी भूल हो जाय तो जानकी खैरियत नहीं। ऊपर पहुँचते ही एक छोटा-सा कमरा दिखलाई पड़ा। इसकी दीवारमें जो गारा दिखलाई पड़ता है और वेदी बनी हुई है, उनसे पता चलता है कि इसमें पूज्य प्रतिमा रही होगी। छत चारों ओरसे इतनी फैली है कि १००० मनुष्य सरलतासे बैठ सकते हैं। पालिश चिकनी और कुछ ढलुआँ भी है। पानी जानेके लिए नालियाँ बनी हैं। छतका भीतरी कटाव और दीवार इतनी चौड़ी है कि एक मनुष्य आसानीसे दौड़ सकता है। मध्य भागमें ईंटोंका ढेर-सा लगा है। सम्भव है, यह भी बड़ा-सा चैत्य रहा हो; क्योंकि भूमिसे एक मंजिल ऊँचा है। अग्रभागमें दोनों ओर बहुत-से छोटे-बड़े स्तूप बने हैं। पिछला भाग कुछ अधिक गहरा है। ईंटोंसे बने शिल्प भास्कर्यको देख कर मन मुग्ध हो जाता है। ईंटोंकी निर्माण-शैली प्रेक्षणीय है। यहाँकी जगतीमें ईंटोंका एक अनुपम स्वस्तिक बना हुआ है। ऐसा अन्यत्र नहीं दिखलाई पड़ा। लगता है, जैसे खड़े तन्दुलोंका ही बना है। एक-एक लाइनमें दो-दो तन्दुल-कणोंका उपयोग किया गया है। यहाँकी खुदाई भी अपूर्ण ही जान पड़ती है। कारण कि उत्तरकी ओर दो फुट चौड़ी एक गली है, जिसका थोड़ा-सा भाग ही दीखता है। सम्भव है, यह मार्ग दूसरे मार्गमें जानेका रहा

हो। जल-प्रवाहके लिए तो अलग ही नालियाँ बनी हुई हैं। इस विशाल चैत्यके निर्माणका लक्ष्य शायद यही रहा होगा कि या तो यहाँ विशेष अव-सरोंपर बड़ी सभाएँ होती रही हों या दैनिक सामूहिक प्रार्थना। स्तूपोंके चारों ओर बौद्ध संस्कृतिसे सम्बन्धित प्रतिमाएँ हैं। प्रथम विहारके बाद यही विहार हमें आकर्षक लगा।

ऊपर लिख चुके हैं कि स्तूपोंमें भगवान् बुद्धदेव या उनके शिष्योंकी अस्थियाँ रखी जाती थीं; पर यहाँ एक ऐसा भी स्तूप है, जिसकी छानबीन-के बाद मालूम हुआ कि उनमें न तो धातु है और न भस्म ही। सम्भव है, बुद्धदेवने जिस स्थानपर तीन माह तक धर्मोपदेश दिया था, वही यह स्थान हो और उसकी पवित्रता या स्मृतिको सुरक्षित रखनेके लिए यह स्तूप बनाया गया हो। यह स्तूप छः बार आच्छादित हो चुका है। इसपरसे नालन्दाके कमलाकर सरोवर और झीलें बड़ी सुहावनी दीखती हैं। स्तूपका चौक भी छोटे-छोटे स्तूपोंसे भरा है। इसी स्तूपके अग्निकोणमें महायानके प्रसिद्ध आचार्य नागा-र्जुनकी खंडित, पर भव्य प्रतिमा है। और भी मूर्त्तियाँ वहाँ रखी गई हैं।

इस प्रकार यत्र-तत्र भ्रमण कर सभी विहारोंके ओर इस भू-भागमें बने स्तूपोंकी यात्रा की, जो प्रायः ऊँचे टीलोंपर स्थित हैं। मार्ग कहीं अच्छा है, कहीं ऊबड़-खाबड़। अन्तिम स्तूपका मार्ग तो बड़ा ही विचित्र है। भीतरी भाग शून्य है। रिक्त स्थानकी आकृति सूचित करती है कि वहाँ विशाल मूर्त्ति रही होगी। इस स्तूपका बाहरी भाग, विशेषतः जगतीका हिस्सा, उत्तम शिल्प-कलाका परिचायक है।

पत्थर घट्टी मन्दिर

विहारोंके भग्नावशेषोंमें एक मन्दिर पाया जाता है, जिसे लोग 'पत्थर घट्टी मन्दिर' नामसे पुकारते हैं। इतिहास-तत्त्व-गवेपकोंका मन्तव्य है कि यह मन्दिर बालादित्य (मगध)के बनवाये हुए प्रासादकी सामग्री है। इसका उल्लेख यहींके यशोवर्मदेववाले लेखमें भी मिलता है।

मन्दिरका प्रवेश-द्वार पूर्वकी ओर है। इसमें २११ छोटी-बड़ी प्रस्तर-पट्टियाँ हैं। इनका निर्माण कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। हंसोंकी पंक्तियाँ एवं अन्य पक्षियोंका खुदाव अत्याकर्षक है। सम्पूर्ण रचना शिल्प-शास्त्रानुकूल है। पट्टियोंपर और भी नाना प्रकारके चित्र खचित हैं। यहाँपर हमने ऐसे विलक्षण शिल्प देखे, जिनकी यहाँ अर्थात् आत्मलक्षी भिक्षुओंके मठोंमें क्या उपयोगिता रही होगी? शृंगाररसके ८४ आसनोंमें कुछ आसन यहाँपर खुदे हुए हैं। इस प्रकारकी शिल्पाकृतियाँ उन दिनोंकी बौद्ध-तान्त्रिक परम्पराका स्मरण दिलाती हैं, जिनका बौद्धोंके पतनमें प्रमुख हाथ था। यहाँपर किन्नर-किन्नरियोंके चित्रोंकी भी कमी नहीं। कुछ ऐसे भी शिल्प दिखाई पड़े जो एक प्रकारसे साहित्यगत तथ्योंका साकार रूप खड़ा करते थे। बचपनमें पंचतन्त्रमें एक कछुएकी कथा पढ़ी थी। वह भी वहाँ खुदी थी। बौद्धोंकी कच्छप जातकमें भी यह कथा है। इन विभिन्न आलेखनोंसे शिल्प-शास्त्र विषयक एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि उन दिनों गृहका कोई भी भाग बिना आलेखनके रखनेका रिवाज़ न था। भारतीय शिल्प-शास्त्रोंमें निरलंकृत गृह अपशकुनजनक माना गया है। मुसलमानोंके आगमनके पूर्व ही भारतीय शिल्पकी शाखाएँ कितनी उन्नत हो चुकी थीं। इसके परिचयके लिए प्रस्तुत स्तूप ही पर्याप्त है।

नालन्दाके खण्डहर भारतके प्रमुख कला-तीर्थ हैं, जिनके साथ संसारकी भावनाएँ जुड़ी हैं। जिस अवस्थामें खण्डित अवशेष यहाँ बिखरे पड़े हैं, वे उसके उन्नत अतीतको समझनेके लिए पर्याप्त हैं। जैन और बौद्ध-साहित्यमें नालन्दाका उल्लेख बड़े गौरवके साथ किया गया है। ह्यूआन्-चुआङ् और तारानाथ आदि बहुश्रुतोंने मुक्त कण्ठसे नालन्दाकी गौरव-गाथा गाई है। यहाँ शिल्प और संस्कारका अश्रुतपूर्व समन्वय है। संस्कृति और आदर्शोंका साकार रूप नालन्दाके खण्डहरोंमें व्याप्त है। आज भी समुज्ज्वल श्रमणसंस्कृतिके रत्न भगवान् महावीर और बुद्धकी प्रतिध्वनि

यहाँ सुनाई पड़ती है। यह भूमि साधकोंकी चरण-रजसे पवित्र हो चुकी है। विश्वने यहींसे ज्ञानका प्रकाश पाया था।

विहारोंका निर्माण और ध्वंस

इतने लम्बे विवेचनके बाद प्रश्न उपस्थित होता है कि इन विहारोंका निर्माण और ध्वंस-काल क्या है? यह कहानी लम्बी है, पर यहाँ तो प्रासंगिक उल्लेखसे ही सन्तोष करना पड़ेगा।

भगवान् बुद्धके आत्मव्रती बौद्ध भिक्षुओंने नालन्दा महाविहारकी स्थापना की थी, यह बात सर्वविदित है। विहार-स्थापनाका एकमात्र कारण उनके सिद्धान्तोंका विश्वमें प्रचार करना रहा होगा। वह भी न केवल सैद्धान्तिक रूपसे ही, अपितु बौद्धिक रूपसे भी; क्योंकि बौद्ध-सिद्धान्तोंसे सम्बन्धित ग्रन्थोंका अध्ययन-अध्यापन तो होता ही था, परन्तु भारतीय साहित्य की आयुर्वेद, तर्क, न्याय, अलंकार आदि अनेक शाखाओंका गम्भीर अध्ययन-अध्यापन भी सहिष्णुतासे होता था। यहाँ प्रश्न यह है कि इस महावीरकी स्थापना कब हुई? स्थापना-सूचक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। प्राप्त उल्लेख भी परस्पर-विरोधी भाव रखते हैं। तिब्बतीय विद्वान् पण्डित तारानाथने लिखा है कि यह अशोकद्वारा स्थापित किया गया था। ह्यूआन्-चुआङ्-का अभिमत है कि बुद्धदेवके निर्वाणके कुछ दिन बाद ही नालन्दामें प्रथम संघाराम स्थापित हो गया था। परन्तु वहाँ अभी तक एक भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया जाता जो उपर्युक्त पंक्तियोंको सार्थक करता हो। फाहियान (४५८) ने भी अपने यात्रा-विवरणमें नालन्दाके किसी भी विहारकी चर्चा नहीं की। यदि उन दिनों नालन्दा महाविहारके कारण विख्यात होता या तीर्थके रूपमें उसकी प्रसिद्धि होती तो वह वहाँ अवश्य गया होता और उसका उल्लेख भी अवश्य ही करता। ह्यूआन्-चूआङ्के समय नालन्दा विश्व-विद्यालयके रूपमें पर्याप्त कीर्त्ति अर्जित कर चुका था। ६३५ ई० में वह जब वहाँ पहुँचा, उस समय शीलभद्र विश्वविद्यालयके अध्यक्ष थे। वे समस्त

सूत्र और शास्त्रोंके पारगामी विद्वान् थे। इतः पूर्व इनके गुरु धर्मपाल इस आसनपर अधिष्ठित थे। शीलभद्र ब्राह्मण, संगीत प्रेमी और बाल्यकालसे विद्याके प्रेमी थे। योगाचारविषयक इनकी टीकाएँ, भारतीय साहित्यकी मूल्यवान् निधि हैं। चीनी पर्यटक ह्यूआन-चुआङ्ने १९ मासतक इनके चरणोंमें बैठकर योगदर्शनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंका सूक्ष्म-ज्ञान सम्पादन किया। इनने शीलभद्रको 'धंग-फा-त्सांग'—सत्यका और धर्मका अवतार कहा है। नालन्दाके सुप्रसिद्ध आचार्योंका नामोल्लेख पर्यटकने किया है जो इस प्रकार है—चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, धर्मपाल और शीलभद्र। ये सब आचार्य प्रत्युत्पन्नमति थे। इन्हींके ज्ञान और चारित्रके बलपर विश्वविद्यालय दैनन्दिन उन्नति कर रहा था। चीन और मंगोलियातकके विद्यार्थी यहाँ अध्ययनार्थ यहाँ आते थे[1]। पाठ्य विषयोंमें अठारह सम्प्रदायके ग्रंथोंके अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, तान्त्रिक विद्या, योगविद्या, चिकित्सा और सांख्य-दर्शनके ग्रंथ मुख्य थे। आज भी वहाँपर प्राचीन परंपराकी मट्टियाँ बनी हुई हैं। अतः उपर्युक्त पंक्तियोंसे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि फाहियानके बाद और ह्यूआन्-चुआङ्के पूर्व नालन्दा विहारकी स्थापना हुई होगी। यह समय ५ वींसे ७ वीं ईस्वी शतोंके मध्य पड़ता है।

कनिंघम और स्पूनरने भी यही समय स्थिर किया है। उपर्युक्त समयमें नालन्दाका एक बार दाह भी हुआ था। बालादित्यके एक लेखसे इसका पता चलता है। यह दाह हूणोंके समयमें हुआ होगा। उन दिनों मगधके शासक बालादित्य थे। अतः नालन्दाके पुनरुत्थानमें उन्हींका प्रमुख हाथ था। कारण कि मिहिरकुल (ई० ५१५) का समय भी यही है। अनुमानतः बालादित्य का राज्यकाल सन् ४६७-४७४ ई० रहा बतलाया जाता है। इसके तीन पूर्वजोंने संघाराम बनवाये थे। अतः सिद्ध होता है कि महाविहारकी स्थापना पाँचवीं शतीके उत्तरार्द्धमें हुई होगी। जबतक यहाँका

---

१. रिकर्ड्स् ऑफ़ दि बुद्धिस्ट रिलिजन-तक कसु, पृ० २६।

खनन-कार्य पूर्ण न हो जाय तबतक निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गुप्तोंका विद्या तथा कला-प्रेम प्रसिद्ध ही है। वे सहिष्णु भी थे। इसी भावनासे उत्प्रेरित होकर महाविहारकी स्थापना की थी। नालन्दाके विकासमें गुप्तोंका बड़ा योग रहा है। शशांकने भी नालन्दापर आक्रमण किया था, जिसकी मरम्मत हर्षवर्द्धनने करवाई थी। इसने महाविहारोंकी व्यवस्थाके लिए कई गाँव दिये थे। एक पीतलका विहार भी बनवाया था। नालन्दाकी ख्याति इतनी व्यापक हो चुकी थी कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा इसकी सहायता कर गौरवान्वित होते थे। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा भी हुआ करती थी।

इसके पश्चात् ८ वीं शतीमें महाविहारका संरक्षण पाल वंशके हाथमें आया। पाल राजाओंने भी कई विहार निर्मित करवाये थे। महाराज गोविन्दपालके समयमें (ई० स० ११६१में) अष्ट-साहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता-की प्रतिलिपि तैयार हुई। नालन्दामें साहित्यिक अध्ययनके साथ नूतन निर्माण भी पर्याप्त रूपमें हुआ। पाल-कालमें लेखन-कलाका भी यह प्रधान केन्द्र-सा बन गया था। प्रज्ञा-पारमिताकी अति शुद्ध और सौन्दर्य-सम्पन्न प्रतियाँ जितनी भी मिलती हैं, उनकी बहु-संख्यक प्रतियोंका प्रतिलेखन नालन्दाके भिक्षुओंने ही किया था। नालन्दाके विकासकी कहानी यहीं समाप्त होती है।

सदाके लिए नाश न होता। आखिर बख्तियार खल्जीने ई० स० ११९९में कुछ ही सैनिकोंसे ही तो बिहारपर आक्रमण किया था। उसने अल्प समयमें ही भयंकर रक्तपात कर नालन्दाके विहारोंका निर्दयतापूर्वक ध्वंस तो किया ही, साथ-ही-साथ नालन्दाकी विद्या-परम्पराको सुरक्षित रखनेवाले विशाल पुस्तकालयको भी नष्ट कर डाला। पुस्तकालयमें कितने ग्रन्थ थे, इसका अनुमान तो इसीसे लगाया जा सकता है कि कई महीने जलकर भी सारी पुस्तकें नष्ट न हो सकी थीं।

पीछे चलकर पाल राजाओंने नालन्दाके संरक्षणमें पहलेका-सा उत्साह प्रदर्शित करना छोड़ दिया था और अपने ही संरक्षणमें वे विक्रमशिला विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धिमें पूरी तरह जुट गये थे। इस प्रकार नालन्दाका महत्त्व दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था। तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथका तो कथन है कि विक्रमशिलाकी देख-रेखमें नालन्दा विश्व-विद्यालय चलता था। यद्यपि नालन्दाकी भाँति विक्रमशिलाकी शिक्षा-पद्धति विस्तृत न थी, तथापि यदि मुसलमानोंका आक्रमण न हुआ होता तो नालन्दाकी शिक्षा-पद्धति, अंशतः अवश्य ही विक्रमशिलामें सुरक्षित रहती।

निस्सन्देह नालन्दाका शिक्षा-विषयक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बड़ा-चढ़ा होनेके कारण ही नालन्दामें विकसित साहित्यिक शाखाओंके कुछ प्रौढ़ ग्रन्थ आज भी चीन, नेपाल, तिब्बत और कम्बोडियामें पाये जाते हैं। ह्यूआन् चुआङ् भारतसे बहुसंख्यक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि ले गया था। उनमें अधिकांश भागका सम्बन्ध नालन्दासे ही था। पश्चात् भी तिब्बत आदि देशोंके बौद्ध राजा धर्म-प्रचारार्थ भिक्षुओंको यहाँसे आमन्त्रित करते थे। उन भिक्षुओं तथा पर्य्यटकों द्वारा जो ग्रन्थ या विद्या-परम्परा विदेशोंमें गई, उनमेंसे अधिकांश आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। भारतीय विद्वानोंके प्रयाससे मूल रूपमें अब आ रही हैं। इस दिशामें महापण्डित राहुल सांकृत्यायनका प्रयास प्रशंसनीय है। महामहोपाध्याय पण्डित विधुशेखर शास्त्री अति वृद्धावस्थामें भी तिब्बतीय ग्रन्थोंका संस्कृत रूपान्तर करते रहते हैं।

तीसरे दिन हमने अवशिष्ट ऐतिहासिक भूखण्डोंके दर्शनका निश्चय किया। प्रातःकाल ही हम वड़गाँवकी ओर चल पड़े, कारण कि जहाँपर हम ठहरे थे, वहाँके भृत्यने हमें सूचना दी थी कि गाँवके कुछ किसानोंके पास मिट्टीकी मुहरें, मूर्त्तियाँ आदि हैं। वरसातमें मुहरें, ताम्रपत्र, मूर्त्तियाँ आदि बहुत-सी सामग्री मिट्टी वह जानेसे ऊपर आ जाती है, जिसे वे लोग उठा ले जाते हैं। इसे वे बड़ी हिफ़ाज़तसे छिपा रखते हैं और ऊँचे दामोंपर पारखी यात्रियोंके हाथों वेचते हैं। अधिकतर मुद्राएँ और मुहरें घण्टाकार शिखराकृतिवाली उपलब्ध होती हैं। नालन्दा महाविहार एवं कुछ एकपर राजगृह महाविहार ये शब्द अङ्कित रहते हैं। इस प्रकारकी हज़ारों मुद्राएँ आज भी धनके वलपर वहाँसे प्राप्त की जा सकती हैं, मूर्त्तियोंमें अधिकतर धातुकी उपलब्ध होती हैं।

यहाँपर दिगम्बर धर्मशालाके पास विशाल अमराई है। यह वही आम्रवन है, जहाँ बुद्धदेव ठहरे थे। आज भी मेलोंके दिनोंमें आनेवाले यात्री इसीमें ठहरते हैं।

सूर्य-सरोवर

नालन्दाके सम्बन्धमें जितने भी प्राचीन उल्लेख मिले हैं, उनमें प्रायः वहाँके जलाशयोंकी चर्चा है। नालन्दाका नाम ही इसीके साथ जुटा हुआ है। वर्त्तमानमें वड़गाँवके पास एक विशाल सरोवर है। इसका जल गहरे हरे रंगका है। कहा जाता है कि किसी समय यह सरोवर बड़ा विस्तृत था। सरोवरमें हज़ारों यात्री कमर तक पानीमें खड़े होकर मन्त्रोच्चारके साथ सूर्यको अर्घ्य दे रहे थे। सरोवरके प्रधान घाटपर छोटा-सा चबूतरा बना है। इसपर बहुत-सी टूटी-फूटी मूर्त्तियोंके ढेर बिखरे पड़े हैं। इनमें विष्णु, गणेश, शिव, पार्वती और अधिकतर अवशेष सूर्यकी प्रतिमाके हैं; क्योंकि यहाँ इनकी आवश्यकता भी है। इन अवशेषोंमें दो वस्तुएँ हमें ऐसी दिखलाई पड़ीं, जिनके सम्बन्धमें पढ़ा तो काफ़ी था परन्तु साक्षात्कार नो

तनी ही देखा। मेरा तात्पर्य सहस्रलिंग शिव-मूर्तिसे है। ११। फुट ऊँचा और ९ इंचसे क्रमशः ६ इंच चौड़ा था, मानो किसी मन्दिरका गोपुर ही हो, परन्तु यह था सहस्रलिंगका प्रतीक। चारों ओर १००० शिवलिंग खुदे थे। एक ओर मध्यमें शिवजी पार्वतीको गोदमें लिये गलेमें हाथ डाले विराजमान थे। सहस्रलिंग सरोवरका निर्माण तो गुजरातके चालुक्योंने करवाया था, परन्तु एक ही प्रस्तरमें खुदे हुए लिंग हमारी दृष्टिमें नहीं आये थे। ऐसे दो अवशेष दिखलाई पड़े। इसी चबूतरेपर भूमिस्पर्श मुद्रामें विशाल बुद्ध प्रतिमा भी अवस्थित है। अभय मुद्राकी प्रतिमाके साथ एक स्तूप भी है।

सरोवरके निकट ही पीपलके वृक्षके अधोभागमें मानवाकार एक प्रतिमा पड़ी है। वैसे यह किसी देवकी मानी जाती है, पर वस्तुतः यह किसी राजाकी ही प्रतिमा है। आकृति राजाकी-सी है। जिस प्रस्तरपर मूर्ति खुदी है, उसी शिलापर, एक दर्जनसे अधिक पंक्तियोंका विस्तृत लेख खुदा है।

सरोवरके पास छोटी-सी कुटिया बनी है। इसमें एक देवीकी मूर्ति रखी है। मस्तक-विहीन है। बरामदेमें बहुसंख्यक प्रतिमाएँ एवं स्तम्भोंके टुकड़े अस्त-व्यस्त दशामें पड़े हैं। आगे चलकर छोटेसे घाटपर हम ठहर गये। यहाँपर भी बहुतसे स्तूप, सूर्य-मूर्तियाँ एवं बुद्धदेवकी विभिन्न मुद्रा-सूचक मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ तो आधी धूलमें गड़ी हैं। कुछ स्तम्भोंपर ६४ शिवलिंग अंकित हैं। इस प्रकार १९ अवशेष पड़े हैं। सम्पूर्ण सरोवरके चारों ओर कई अवशेष बिखरे पड़े हैं। यहाँपर कुछ पत्थर ऐसे भी दिखे, जिनपर कपड़ा धोया जाता था, परन्तु वे सुन्दर कलावशेष थे।

यह सूर्य-सरोवर भी अपनी कहानी लिये है। प्रति रविवार और पूर्णिमाको यहाँ स्नानार्थियोंका बड़ा मेला लगता है। आश्विन और चैत्र शुक्ल ६ को यहाँपर लाखों व्यक्ति स्नान करते हैं। जनताका विश्वास है कि इसमें स्नान करनेसे कुष्ठके रोगी चंगे हो जाते हैं। कहा नहीं जा सकता कि इसमें कितना सत्यांश है।

सूर्य-मन्दिरके मार्गमें एक मन्दिरमें ५ फ़ुटसे कुछ अधिक लम्बी भगवान् कृष्णकी प्रतिमा अवस्थित है। उसका तूर्णालंकार कलाकारके सफल कृतित्वका परिचायक है।

सूर्य-मन्दिर

मगध प्रान्तमे सूर्य-पूजाका प्रचार बहुत प्राचीन कालसे हुआ प्रतीत होता है। विहारके अन्य भागोंमें भी अवान्तर रूपसे सूर्य-पूजाकी परम्परा प्रचलित है। इसके प्राचीन इतिहासपर प्रकाश डालनेवाले साधनोंके अभावमे निश्चित कहना कठिन है; पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि भगवान् महावीरके समयमे सूर्य-पूजाका जनतामें पर्याप्त विकास हो चुका था। महाश्रमणके जन्मके वारहवें दिन सूर्य-दर्शनका विधान कथाकारों द्वारा वर्णित है। सूर्यकी ताम्र-प्रतिमा निर्माणकी चर्चा भी है। उस कालकी मूर्त्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। गुप्त और पालकालीन बूटवाली सूर्य-मूर्त्तियाँ सैकड़ोंकी संख्यामे मिलती है। इनपर शक-प्रभाव स्पष्ट है। आज भी मगधमें, विशेषतः नालन्दामें, सूर्य-उपासना विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। यह सूर्य-मन्दिर एक प्रकारसे वहुत वड़ा तीर्थस्थान-सा वन गया है। चैत्र मासमें तो यहाँपर इतना वड़ा मेला लगता है, कि ठहरनेको वृक्षोंके नीचे भी स्थान नहीं मिलता।

हम लोग सूर्य-सरोवरकी प्रदक्षिणा करके सूर्य-मन्दिर आये। दिनको ११ वजे हमने मन्दिरके श्वेतद्वारमें प्रवेश किया। दाहिनी दीवारकी ओर हमारी दृष्टि ठहरी, जहाँ कई प्राचीन अवशेष विखरे पड़े थे। उनमें गणेश, विष्णु, तारा और वुद्धदेवकी मूर्त्तियोंके साथ स्तम्भोंके टुकड़े भी थे।

मुख्य मन्दिरको जाते ही दाहिनी ओर विशाल वुद्ध-मूर्त्ति दिखलाई पड़ी। मस्तकपर मुकुट और गलेमें आभूषण थे। भामण्डल बौद्ध कलाकी मौलिकताका प्रतीक था। ऊपरके भागमें पीपलकी पत्तियाँ सूक्ष्मतासे उत्कीर्णित की गई थीं तथा दोनों ओर अभय मुद्रामें वुद्धदेव विराजमान

थे। निम्नभागमें बुद्धदेवका निर्वाण बताया गया था। मूर्तिको किसीने जान-बूझकर खराब कर दिया था।

दाहिनी ओर विशाल चतुर्भुजी प्रतिमा अवस्थित है। दाहिने एक हाथमें माला, एक हाथ आशीर्वाद मुद्रामें एवं बायें हाथमें पुस्तक और कमण्डलु धारण किये हुए हैं। यज्ञोपवीत, कटि भागमें, कर्ण और गले आभूषणोंसे अलंकृत है। हाथमें बाजूबन्द भी है। निम्न-भागमें मयूरारूढ कार्तिकेय और मूषकपर गणेशजी है। ये दोनों पार्वती-पुत्र हैं। दायें-बायें चन्द्र-सूर्य हैं। अतिरिक्त परिकरका भाग जैन-मूर्तिके अनुसार है। मस्तकपर शिवलिंग है। वर्णनसे ज्ञात होता है कि उक्त मूर्ति पार्वतीकी है।

प्रधान मन्दिरके दायें कमरेमें १३ प्राचीन मूर्त्तियाँ हैं। इनमें नाग-नागिन और तान्त्रिक हैं। बुद्धदेवकी कई मुद्राओंवाली मूर्त्ति भी है। इस संग्रहमें भगवान् बुद्धदेवकी प्रवचन मुद्रावाली एक प्रतिमा है। इसका खनन इस प्रकार हुआ है, मानो कोई स्वतन्त्र मन्दिर ही हो। ऊपर शिखर दोनों स्तम्भोंपर आवृत है। स्तम्भ अष्टकोण है। निम्न-भागमें कलशाकृति, बादमें घटाएँ, ऊपर बोर्डर्, पुनः चतुष्कोण होकर गोल बनाये गये हैं। यहाँपर एक ऐसी खण्डित प्रतिमा है, जिसमें बुद्धदेवका निर्वाण प्रदर्शित किया गया है। सभी पुरुषके मुखपर औदासिन्य भावोंकी छाया है। मालूम पड़ता है, भिक्षु रो रहे हैं।

मुख्य मन्दिरका तोरण भी कई अवशेषोंसे बना है। सप्ताश्व सूर्यकी प्रतिमाएँ भीतरी भागमें बड़ी संख्यामें हैं; जो सभी पाल-युगकी शिल्प-स्मृति बनाये हुए हैं। मन्दिर तो साधारण है।

रुक्मिणी-स्थान

नालन्दासे २ मीलके फासलेपर रुक्मिणी-स्थान भी जनताके लिए कभी तीर्थस्थान बन जाता है। लोगोंका विश्वास है कि यहाँ रुक्मिणीका निवास रहा होगा। इस भ्रमके प्रचारका कारण कुण्डलपुर ग्राम प्रतीत होता

है। कुछ लोग नालन्दाको कुण्डलपुर नामसे ही पुकारते हैं। यह एक भ्रम ही है, कारण कि रुक्मिणीवाले कुण्डलपुर भी हम लोग हो आये हैं। वह विदर्भ देशान्तर्गत आरवीसे ५ मीलपर वर्धा नदीके तटपर अवस्थित है। वहाँ रुक्मिणीका मन्दिर भी है। नालन्दामें जो शिल्प रुक्मिणीके नामपर चढ़ गया है, वह वस्तुतः भगवान् बुद्धदेवका सम्पूर्ण जीवन साकार किये हुए है। एक ही शिलापर जन्मसे महानिर्वाण तककी जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ कलात्मक ढंगसे अंकित हैं।

नालन्दा जैन-दृष्टिसे

जैन-साहित्यमें मगधका उल्लेख बड़े गौरवसे हुआ है। मगधमें ही श्रमण-संस्कृति पल्लवित हुई। श्रमण-संस्कृतिके सार्वभौम प्रभावके कारण ही काशी देशवालोंको कहना पड़ा था कि मगधमें जो मरेगा, वह गधा होगा। सांस्कृतिक साम्राज्यवादका यह एक उदाहरण है। नालन्दा, राजगृह और पाटलिपुत्र श्रमणोंके केन्द्र थे। भगवान् महावीर[1] और बुद्धदेवके जीवनका अधिक भाग यहींपर व्यतीत हुआ था।

नालन्दामें जिस प्रकार बुद्धदेवने चातुर्मास बिताये थे, उसी प्रकार भगवान् महावीरने भी १४ वर्षावास किये थे। उन दिनों नालन्दा स्वतन्त्र नगर न होकर राजगृहका ही उपनगर था। सूत्र-कृतांगमें नालन्दाका विशद वर्णन है। महावीरके प्रधान गणधर इन्द्रभूति यहींके—गुब्बर गाँवके निवासी थे आजका वड़गाँव ही पुराना गुब्बर गाँव है। ये वैदिक परम्पराके

---

१. नालन्दालङ्कृते यत्र वर्षारात्रांश्चतुर्दश
अवतस्थे प्रभुर्वीरस्तत्कथं नास्तु पावनम् ॥२५॥
यस्यां नैकानि तीर्थानि नालंदा नायनश्रियाम्
भव्यानां जनितानन्दा नालंदा नः पुनातु सा ॥२६॥
विविधतीर्थकल्प, पृ० २२।

प्रकाण्ड पण्डित और कुशल अध्यापक भी थे। इनका परिवार इतना विशाल था कि तीनों भाइयोंके पास १५०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। यही बादमें भगवान् महावीरके समवसरणमें जाकर दीक्षित हुए थे। इन्होंने द्वादशाङ्गीकी रचना कर भगवान् महावीरकी कल्याणकारिणी सैद्धान्तिक विचार-धाराको दर्शनका पुट देकर साहित्यिक रूप दिया। इन्द्रभूति गौतम स्वामीकी विद्वत्तासे परिचायक ग्रन्थ या उनके मौलिक विचार सुरक्षित नहीं हैं। जैन-आगमोंसे सन्तोष करना पड़ता है। आज भी नालन्दामें इन्द्रभूतिके गोत्रके सैकड़ों घर विद्यमान हैं, परन्तु जैन-समाजने सांस्कृतिक महापुरुषकी स्मृति रक्षार्थ कुछ भी नहीं किया।

श्रमण भगवान् महावीरसे लगाकर १३वीं तक नालन्दाकी जैन-दृष्टिसे क्या स्थिति रही? इस कालमें जैन-संस्कृति वहाँपर किस रूपमें थी; यह जाननेके ऐतिहासिक साधन हमारे पास नहीं रहे, यह बड़े ही खेदकी बात है।

हाँ, वहाँपर और मगधमें जो जैनमूर्त्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनपरसे अर्थात् उनकी निर्माण शैलीपरसे कल्पना अवश्य कर सकते हैं कि गुप्तकाल व तदुत्तरवर्ती युगमें वहाँपर या उसके निकट जैनोंका वास था। ग्रन्थस्थ प्रमाण न मिलनेका एक कारण यह भी जान पड़ता है कि यहाँके मूल जैन तो आज धर्मसे विमुख हो गये हैं, वे केवल अपने कुछ गोत्रोंके नाम ही सुरक्षित रख सके हैं। आचारमूलक जैन-संस्कृति आज उनके जीवनसे कोसों दूर है। मेरा तात्पर्य विहारके सराकोंसे है, जो श्रावकका भ्रष्ट रूप है। भाषा समयके साथ बदल सकती है, पर संस्कारोंमें शीघ्र परिवर्तन होना कठिन है। मुझे सराकोंके प्रदेशमें अधिक तो नहीं, पर थोड़ा-सा भ्रमण करनेका अवसर मिला है, उनके पूर्वजों द्वारा विनिर्मित जैनमन्दिर व मूर्त्तियाँ भी देखी हैं, उनपरसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि अन्धकारयुगीन जैन-इतिहासकी बहुमूल्य सामग्री, सराकोंके धर्मपथसे हटते ही, उनके साथ नष्ट हो गई। इस परम्पराकी कड़ियाँ अब भी मिल सकती हैं। पर इसलिए सराक जाति द्वारा निर्मित स्थापत्योंका, तात्कालिक लेखोंका और उन लोगोंकी पारस्परिक

उत्तराधिकारके रूपमें जो मौखिक या लिखित साहित्य प्राप्त हुआ है, उनका गम्भीर अध्ययन अनिवार्य है। जैनोंने, उन्हें धर्मपरिवर्तनके लिए तो उत्प्रेरित किया, पर उनके (और विस्तृत दृष्टिकोणसे देखा जाय तो जैन संस्कृतिके) पुरातन कलावशेषोंके क्रमिक इतिहास-शोधनपर तनिक भी ध्यान न दिया, जो जैन-सांस्कृतिक इतिहासका एक बहुमूल्य अध्याय है। अस्तु:

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि अभी हमने मगधके जैन-इतिहासपर ध्यान ही नहीं दिया, जबतक हम यह कार्य न करेंगे, तबतक नालन्दा ही क्यों, हमारी मूल इतिहासकी कड़ियाँ ही अन्धकारमें रहेंगी।

१२ वीं शताब्दी तक नालन्दामें बौद्धोंका विशेष प्रभाव था, अतः जैन क्षीणप्राय हों या उनका अस्तित्व नगण्य-सा रह गया हो तो आश्चर्य नहीं। उन दिनों उद्दंडविहार—(आजका "बिहार शरीफ़") में महत्तियाणवंशीय जैन थे। श्रमण परम्पराके परम उपासक और मुनिगण अपनी सांस्कृतिक जन्मभूमिकी यात्रा करने अवश्य ही, दूर-दूरसे आते रहे होंगे। ऐसे मुनिवरोंमें सर्वप्रथम स्थान खरतरगच्छीय वाचनाचार्य राजशेखरका आता है, जो वि० सं० १३५२ में मगध-यात्रार्थ आये थे। यों तो इसके पूर्ववर्ती साहित्यमें मगधके उल्लेख प्रचुर आते हैं पर वे सब आगमाश्रित हैं।

मध्यवर्ती उत्तरकालमें पाद-यात्राकी विशेष सुविधाके कारण, पश्चिम-भारतसे बहुसंख्यक जैन-मुनि मगध-यात्रार्थ आते थे। वे अपने यात्रा-वर्णनको ऐतिहासिक दृष्टिसे लिपिबद्ध भी करते थे। ऐसे उल्लेख गुजराती साहित्यमें, तीर्थमालाके रूपमें उपलब्ध होते हैं।

श्री राजशेखरके बाद वि० सं० १५६५ में मुनि हंससोम नालन्दा यात्रार्थ आये, तब वहाँपर १६ जिन-मन्दिर थे[1]।

---

१. पच्छिम पोलई समोसरण वीरह देषीजई
नालन्दई पाड़इं चउद चउमास सुणीजइं

विजयसागर[1] दो मन्दिरोंकी सूचना देते हैं। जयविजय[2] १७ मन्दिरोंकी स्थितिका उल्लेख करते हैं। आज वहाँ केवल एक मन्दिर पाया जाता है, जिसकी बनावट भी बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होती। सौभाग्यविजयजी[3] यहाँपर एक प्रासादकी चर्चा करते हुए गाँवमें एक जैनस्तूपका भी सूचन करते हैं। यह स्तूप वर्त्तमानमें उपलब्ध नहीं। प्राचीन जिन-मन्दिरोंके अवशेष भी न तो मिलते हैं और न ऐसा स्थान ही दिखलाई पड़ता है, जिसके साथ जैन-मन्दिरकी कहानी जुड़ी हो। सौभाग्यविजयजी प्रतिमा-विहीन प्रासादका उल्लेख करते हैं।

वर्त्तमानमें एक मन्दिर है। उसमें जो जैन-प्रतिमाएँ हैं, उनका भारतीय जैन-मूर्त्ति-विधानकी दृष्टिसे बहुत बड़ा महत्त्व है। कारण कि भारतीय शिल्प-कला एवं विशेषतः मूर्त्ति-निर्माण-कलामें मगधके कलाकार बहुत आगे रहे हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण भारतमें मागधीय कलाकारोंकी अपनी स्वतन्त्र शैली थी। आज भी मगधकी मूर्त्तियाँ दूरसे पहचानी जा सकती हैं। श्रमण-संस्कृतिका केन्द्र मगधमें होनेके कारण कलाकारोंने अपने सांस्कृतिक उत्प्रेरक तत्त्वोंको प्रस्तरपर रेखाबद्ध किया। यद्यपि मगधमें जैन-मूर्त्तियोंकी संख्या बौद्ध-धर्मापेक्षया बहुत कम है, पर जितनी भी उपलब्ध हैं, वे अन्य प्रान्तोंमें प्राप्त जैन-प्रतिमाओंकी तुलनामें कलाकी दृष्टिसे अपना स्वतन्त्र

हवडां लोक प्रसिद्ध ने वडगाम कहीजइं
सोलप्रासाद तिहाँ अछइ जिनबिम्ब नमीजइं
कल्याणक थूम पासइं अच्छइं ए मुनिवर यात्राखाणी,
ते युगतिइं स्युं जोईइं निरमालडी ए कीधी पापनी हाणि

प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ० १७।

१. प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ६।

२. प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ३०–३१।

३. प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ६१।

स्थान रखती हैं। जैन और बौद्ध मूर्त्तियोंका निर्माण कलाकारों द्वारा हुआ करता था। अतः मगधकी मूर्त्तियोंमें पारस्परिक प्रभाव परिकरके निर्माणमें वहुत पड़ा है। मूल प्रतिमापर तो कलाकारोंका कृतित्व उतना नहीं झलकता, जितना परिकरके निर्माणमें। उदाहरणार्थ मगधकी जितनी भी बुद्ध-मूर्तियाँ पायी जाती हैं, उनमें अशोक, वृक्षकी पत्तियाँ, देव-दुन्दभि, गगन-विचरण करते हुए पुष्प मालाधारी किन्नर-किन्नरियाँ पाये जाते हैं। बौद्ध मूर्त्ति-विज्ञानकी दृष्टिसे ये उपकरण नहीं होने चाहिए। वहाँ तो अशोक वृक्षके स्थानपर पीपलकी पत्तियाँ चाहिए, जो बोधि वृक्षका स्मरण दिला सकें। अतिरिक्त दो उपकरण जैन मूर्त्ति-कलाकी बौद्ध मूर्ति-कलाको देन है। जैनोंमें ये अष्टप्रातिहार्यके अन्तर्गत माने गये हैं, जब कि बौद्धोंमें अष्टप्रातिहार्य जैसी कोई कल्पना विकसित हुई हो, इसका मुझे पता नहीं। अष्टप्रातिहार्यमें प्रभावलिका प्रयोग बौद्धोंने वहुत किया है और वह भी कलाके साथ, गुप्तकालीन बौद्ध-मूर्त्तियोंमें प्रभावलीपर विविध आकृतिकी रेखाएँ मिलती हैं। मगधकी जैन-मूर्त्तियोंके पृष्ठ भागमें दो स्तम्भोंपर आधृत अर्द्ध गोलाकार कमान, तदुपरि दीपक-जैसा चिह्न पाया जाता है और मूर्त्तियाँ कमलासनपर खोदी जाती हैं। कहीं-कहीं निम्न भागमें कमलकी नालपर ही मूर्त्ति आधृत हो, ऐसे भाव एवं कुछ मूर्त्तियोंके पृष्ठ भागमें साँचीका द्वार भी पाया जाता है। ये सब बौद्ध-मूर्त्ति-कलामें विकसित अलंकरण हैं, जिनका व्यवहार जैन-कलाकारों द्वारा भी अपनी मूर्त्तियोंमें हुआ है। नालन्दाकी शिखराकृति भी, जो वहाँकी मृण्मुद्राओंमें पायी जाती है, बौद्धोंकी ही देन है। कुछ मूर्त्तियोंमें आरती, दीपक, नैवेद्य, शंख भी पाये जाते हैं। इस प्रकार एक ही देशमें एक ही शैलीके कलाकारों द्वारा दोनों धर्मोकी मूर्त्तियाँ बननेके कारण पारस्परिक आदान-प्रदान कलात्मक दृष्टिसे हुआ है।

नालन्दाकी जैन-मूर्त्तियाँ

प्रायः यह कहा जाता है कि बौद्ध मूर्त्तिकलामें जितने आगे हैं, उतने ही

जैन पीछे हैं। परन्तु नालन्दाकी जैन-मूर्त्तियाँ उनको इस धारणाको विपरीत सिद्ध करती हैं। इन मूर्त्तियोंको गुप्तकालीन बौद्ध मूर्त्तियोंकी तुलनामें आसानीसे रखा जा सकता है। मूर्त्तियोंके शब्द-चित्रसे ही सन्तोष करना पड़ेगा। प्रयत्न करनेपर भी वहाँके कला-प्रिय (?) एकतन्त्रीय व्यवस्थापककी आज्ञा फोटोके लिए प्राप्त न हो सकी।

(१) *मन्दिरमें प्रवेश करते दाहिनी ओर एक आलेमें सप्तफणी डेढ़* फुटसे कमकी ही पार्श्वनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। उभय-पार्श्वमें चमर-धारी-पार्श्वद खड़े हैं। निम्न भागमें चतुर्भुजी देवी, सम्भवतः अधिष्ठातृ होगी। अष्टप्रातिहार्य भी हैं।

(२) सामने अति श्याम पाषाणपर एक प्रतिमा है, जिसका शारीरिक गठन शिल्प-कलाकी दृष्टिसे अति उच्चकोटिका है। कलाकारने सम्पूर्ण शारीरिक अवयवोंके निर्माणमें शैथिल्य नहीं आने दिया है। प्रतिमा पद्मासनस्थ होते हुए भी लम्बशरीरी प्रतीत होती है। मुखपर प्रशान्त भाव झलक रहे हैं। दोनों ओर इन्द्र कमलपत्रपर खड़े हैं। कमल-नाल अलगसे बनायी गयी है। पार्श्वदोंकी मुख-कान्ति बता रही है कि वे कितने सेवा-शुश्रूषा और भक्तिसे ओत-प्रोत हैं, मानो उनकी चित्त-वृत्तिका केन्द्र यह प्रकाश-पुंज ही हो। प्रकाश वही है, जिसकी परिचर्यामें वे अपना जीवन दे रहे हैं। इन्द्रोंके मस्तकका मुकुट अन्तिम गुप्त और प्रारम्भिक पाल-कालीन मुकुटकी स्मृति दिलाता है। गोल कर्ण-भूषण भी पाल-कालीनसे लगते हैं। कलाकारने प्रतिमाके निम्न भागको उभय ओर तीन उपभागोंमें बाँट दिया है। प्रथम मध्यमें एक बालक, दूसरेमें भक्त करबद्ध भगवान्‌के चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि दे रहा है; तीसरेमें ग्रास और मध्य भागमें मृगलाञ्छन स्पष्ट है, जो शान्तिनाथकी प्रतिमाका सूचक है। दूसरी ओर प्रस्तर खिर गया है। ऊर्ध्व भागमें प्रतिमाका भामण्डल निरलंकृत ही है, जिसपर मागधीय कला-का प्रभाव है। मस्तकपर छत्र है, जो अशोक वृक्षकी लताओंपर आवृत है। मस्तकके दोनों ओर इन्द्रको पुष्पमाला लिये उत्सुकतापूर्वक गगन-मार्गसे

आते हुए बताया गया है। जहाँपर इन्द्र खुदे हुए हैं, उस भागका कटाव उभरा हुआ है।

अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि इस कमनीय कला-कृतिका निर्माणकाल क्या होगा? न तो इसपर कोई निर्माण-सूचक लेख है और न बौद्ध-धर्मका 'ये धम्मा हेतुपभवा' मुद्रा लेख ही है, जिससे इसके निर्माणका कुछ अन्दाज लगाया जा सके; क्योंकि बौद्ध-धर्मके व्यापक प्रचारका प्रभाव जैन और वैदिक शिल्पपर भी पड़ा था। बौद्ध-कालकी सभी मूर्त्तियोंपर प्रायः उपर्युक्त लेख खुदवाया जाता था। अस्तु, इस प्रतिमामें लाञ्छन है। फिर भी इन्हें दसवीं शतीके पूर्वकी कृति तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इतः पूर्वकालीन प्रतिमाओंमें कुछ एकको छोड़कर शेष लांछनविहीन हैं। जो भामण्डल है, वह बिल्कुल सादा है। यदि इसे अन्तिम गुप्तकालीन प्रतिमाओंमें मानें तो भी एक अड़चन आती है। वह यह कि उन दिनों प्रभावलिके निर्माणपर विशेष ध्यान दिया जाता था। बल्कि प्रभावली ही निर्माण-शतीकी सूचक होती है। अग्निकी ज्वालाएँ भामण्डलके चारों ओर बनायी जाती थीं। मध्यमें प्रधान दीपक रहता था, जैसे कोई मशाल हो। गुप्त-कालीन या बादके जो अवशेष मिलते हैं, शायद ही कोई ऐसे हों, जिनमें प्रभावलि स्पष्ट न हो। इस मूर्त्तिको हमने दसवीं और ११वीं शती ईस्वीके मध्यकी कलाकृति माना है। काल-निर्माणमें आभूषण और पार्श्वदकी वेशभूषा सहायक सिद्ध हुई है। श्याम पाषाणपर पालिश बहुत परिश्रमसे की गयी है।

(३) इस मन्दिरमें मूलनायक ऋषभदेव हैं। मुखाकृति शारीरिक गठनकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और उत्प्रेरक है। स्कन्ध प्रदेशपर केशावलि स्पष्ट है। वृषभका चिह्न तथा उसके पास ही भक्तगण, अंजलिबद्ध खड़े हैं। जहाँपर पुष्प-माला धारण किये इन्द्र खड़े हैं, वहाँ दोनों ओर हाथी इस प्रकार खोदे गये हैं, मानो मूर्त्तिका अभिषेक कर रहे हों। इसका निर्माण-काल १३ वीं शतीके बाद और १२ वींके पूर्वका नहीं हो सकता।

(४) यह प्रतिमा सामनेकी पाँचवीं है। २।। फुटकी है। सप्तफणी पार्श्वनाथकी है। निम्न-भागमें धर्मचक्र और हाथी है। यह प्रतिमा राजगृहके तृतीय पहाड़पर पायी जानेवाली पार्श्वनाथकी प्रतिमासे बहुत अंशोंमें मिलती है। प्रेक्षकको कल्पना हो आती है कि दोनों एक ही कलाकारकी कृति तो नहीं हैं? या राजगृहवाली प्रतिमाके आधारपर इसका निर्माण हुआ होगा। कारण कि शारीरिक गठनमें पर्याप्त अन्तर है।

(५) यह प्रतिमा आकार-प्रकारमें छोटी है और कलाकी दृष्टिसे भी सामान्य। धर्मचक्र सुन्दर है। पार्श्वभागमें दाहिने चार और बायें पाँच और प्रतिमाएँ हैं जो नवग्रहकी हैं। निम्नस्थानमें एक लेख खुदा है, पर वह काफ़ी बादका है।

मागधीय कलाकारोंने जैन-मूर्त्ति-निर्माणमें जैन-संस्कृतिकी छोटी-से-छोटी बातोंपर भी बहुत ध्यान दिया था। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। इन्द्रोंके हाथमें जो चामर दिये हैं, वे चँवरी गायके पुच्छके न होकर गोटेके बने हुए हैं, जैसा कि लम्बी रेखाओंसे ज्ञात होता है। आज भी दिगम्बर जैन-सम्प्रदायमें इसी प्रकारके चँवर व्यवहृत होते हैं। जैन-मन्दिरमें दादा श्री जिनदत्तसूरिजी महाराजके चरण भी विद्यमान हैं! विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जो किसी जेलका स्मरण कराती है। व्यवस्थाके नामपर बुद्धदेवका शून्यवाद छाया हुआ है। नालन्दामें एक दिगम्बर जैन-मन्दिर और धर्मशाला भी है। प्रयत्न करनेपर भी हम दिगम्बर जैन-मन्दिरका दर्शन न कर सके। अपराध यही था कि हम श्वेताम्बर मुनि थे।

म्यूज़ियम—नालन्दासे प्राप्त कला-कृतियों व वस्तुओंका संग्रह म्यूज़ियममें सुरक्षित है। कुछ जैन-मूर्त्तियाँ भी हैं। नालन्दामें विकसित सभ्यता और संस्कृतिपर, इन कृतियोंसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। कतिपय ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। यात्रियोंके लिए भवन भी है।

विचित्र अनुभव !

नालन्दामें तीन दिन रहकर उसके सम्बन्धमें जितना हम लोग जान सके, उसे उपर्युक्त पंक्तियोंमें लिपिबद्ध करनेका प्रयास किया गया है। यहाँपर हमें पुरातत्त्वकी सामग्रीके सम्बन्धमें ऐसे विचित्र अनुभव हुए, जिनसे हमें बड़ा दुःख और क्षोभ हुआ। बात यह है कि जिनकी नालन्दाके पास जमीनें हैं, वे कुछ लोगोंको कतिपय वर्षोंके लिए पट्टा लिख देते हैं। ये पट्टे-दार उक्त अवधिमें खुदाई कर सारी सामग्री उड़ा ले जाते हैं। उनके द्वारा अवैज्ञानिक ढङ्गसे खुदाई करनेसे एक तो बहुमूल्य पुरातत्त्वकी सामग्री नष्ट हो जाती है, दूसरे जो शेप रहती है, उसको भी अधिकांश रुपयोंके लोभमें वे नष्ट कर देते हैं। अतः इस प्रकार देशका बड़ा अहित होता है। ऐसे एक व्यापारीको तो मैं व्यक्तिगत रूपसे जानता हूँ, जिनके यहाँसे छकड़ों भर सामग्री मिल सकती है। ऐसी बहुत-सी सामग्री विदेशोंमें चली गई है। आश्चर्य तो इस बातसे भी होता है कि यहाँके अधिकारी इसपर कुछ ध्यान नहीं देते। आस-पासके गाँवोंमें खानातलाशी लेनेपर शायद ही कोई ऐसा मकान हो, जिसमें कुछ पुरातत्त्वकी सामग्री छिपी न मिले। ऐसी हालतमें पुरातत्त्वके विद्यार्थियोंको बड़ी कठिनाई होती है; क्योंकि सामग्री व्यक्तिगत संग्रहोंमें बँट जाती है, जिसतक सबकी पहुँच नहीं हो सकती।

अतः केन्द्रीय सरकारके पुरातत्त्व विभागसे हमारा साग्रह अनुरोध है कि वह इस सम्बन्धमें आवश्यक कार्रवाई करके ऐसी कलाकृतियोंका उद्धार करे।

५ अप्रैल १९४९ ई०

विन्ध्याचल-यात्रा

यह स्थान मिर्जापुरके निकट गंगा-तीरपर अवस्थित है। विन्ध्याचल कस्बेमें अष्टभुजाका एक मन्दिर व समीपकी पहाड़ीपर विन्ध्यवासिनीका मन्दिर बना हुआ है। तान्त्रिक व पौराणिक साहित्यमें जो उल्लेख आये हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि यह स्थान शक्तिके सुप्रसिद्ध ५२ पीठोंमेंसे एक है। कथासरित्सागरसे फलित होता है कि किसी समय यह तीर्थयात्राका बहुत बड़ा स्थान था। इसे तान्त्रिक पीठ कबसे माना जाने लगा? इसका पूर्व रूप क्या था? ये दो प्रश्न जिज्ञासुके मनमें उठे बिना न रहेंगे। इनका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

तान्त्रिकोंका और शक्ति-पूजामें विश्वास करनेवालोंका यह तीर्थ ऐतिहासिक दृष्टिसे भी बहुत महत्त्व रखता है। स्व० डाक्टर काशीप्रसादजी जायसवालका मन्तव्य है कि 'अन्धकार-युगीन भारत'की कंतितका अस्तित्व यहींपर था। वे लिखते हैं "बघेलखण्डवाली सड़कसे जो यात्री गंगाकी ओर चलते हैं, वे कंतित[1]के उस पुराने क़िलेके पास आकर पहुँचते हैं जो मिर्ज़ापुर और विन्ध्याचल कस्बोंके बीचमें हैं। जान पड़ता है कि यह कंतित वही है, जिसे विष्णुकी "कान्तिपुरी" कहा गया है। इस क़िलेके पत्थरके खंभेके एक टुकड़ेपर मैंने एक बार आधुनिक देवनागरीमें 'कान्ति' लिखा हुआ देखा था। यह गंगाके किनारे एक बहुत बड़ा और प्रायः एक मील लम्बा मिट्टीका क़िला है, जिसमें एक बड़ी सीढ़ीनुमा दीवार है और जिसमें कई जगह गुप्तकालकी बनी पत्थरकी मूर्त्तियाँ या उनके टुकड़े आदि पाये जाते हैं। यह क़िला आजकल कंतितके राजाओंकी जमीदारीमें है। जो

---

१. अ० स० इ० २१, पृष्ठ १०८की पादटिप्पणी।

कृतियाँ हैं। आज भी विन्ध्याचलका तान्त्रिक महत्त्व उतना ही है, जितना कि कुछ शताब्दियों पूर्व था।

दिसम्बर १९५०में हमें परमपूज्य उपाध्याय मुनिवर श्री सुखसागरजी व मुनि श्री मंगलसागरजी महाराजके साथ कुछ दिन मिर्जापुरमें रहकर वर्णित तीर्थस्थान व निकटवर्ती ग्रामों, पहाड़ियों एवं खण्डहरोंमें पाये जानेवाले शिल्पावशेषोंका अन्वेषणात्मक दृष्टिसे निरीक्षण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यहाँपर जो खण्डित अवशेष पाये जाते हैं, उनमेंसे अधिकतर शैव सम्प्रदायसे सम्बद्ध हैं, पर कलाकी दृष्टिसे बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ते। बहुत कम लोग जानते हैं कि तान्त्रिक शक्ति—पीठके पूर्वका विन्ध्याचल पुनीत जैन-तीर्थके रूपमें विख्यात था। अतः जैन-संस्कृतिकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व हैं। वहाँपर जैन-पुरातत्त्वके अवशेष इतस्ततः पाये जाते हैं। साथ ही तत्समीपवर्ती छह मील इर्द-गिर्द भू-भागपर भी जैनाश्रित शिल्पकृतियाँ छाई हुई हैं। उन सभीसे और भी स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल और गहड़वालों तक निश्चित रूपसे यहाँ जैन-यात्रियोंका आवागमन जारी था।

ता० १२-१२-४९ को मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराज और बाबू घेवरचन्दजी जैन और बिहारीलाल (आजमगढ़) के साथ मैंने मिर्ज़ापुरसे विन्ध्याचलकी ओर प्रस्थान किया। मिर्ज़ापुरसे यह स्थान ४ मीलके फ़ासलेपर है। पक्का मार्ग बना हुआ है। तीर्थकी सीमामें पैर रखते ही पण्डे लोग आ घेरते हैं। हमारे साथ सरकारी व्यवस्था होनेसे हम लोग तो इन लोगोंसे बचे रहे। मार्गदर्शकके रूपमें एक मुख्य पण्डा बिना किसी स्वार्थके हमारे साथ हो लिया और उसने लाखों वर्षोंका इतिहास कहना आरम्भ किया। हम लोगोंने भी श्रद्धा न होते हुए भी कर्णद्वारको खुला ही रखा। यद्यपि पहिले विन्ध्यवासिनीका मन्दिर पड़ता है, परन्तु हम लोग सीधे पहाड़की ओर चले गये। मार्गमें हनुमान्‌जीका एक मन्दिर पड़ता है। इसके आगे बहुत-सी कला-कृतियोंके भग्नावशेष

पड़े थे, मुख्यतः वे जैन प्रतिमाएँ ही थीं। जब हम लोगोंने इसपर ग़ौर करना शुरू किया तो पण्डाने कहा, "आप लोग इन नंगे देवोंकी मूर्त्तिमें ही उलझ गये इन्हें तो हम लोगोंने तोड़ताड़के पुराने मन्दिरोंसे अलग कर दिया है।" उस समय हमने भी उसकी बात मान ली और मनमें सोचा कि पण्डा हमको जैन नहीं समझ रहा है। कारण कि पण्डोंको यदि पता लग जाता कि हम भी जैन हैं तो सम्भवतः वहाँकी प्रेक्षणीय वस्तुओंके दर्शन भी न कर पाते। लोग जानते हैं कि जैनोंका किसी समय आधिपत्य था। पण्डाने बादमें हमें बहुत-सी बातें बताई, जिनमें एक यह भी थी कि जैनी लोग तो बड़े हत्यारे होते हैं, गौ-हत्यातक करते हैं। यदि गौ न मिले तो आटेकी बनाकर समाप्त करते हैं। हम लोग मन ही मन उसके इस अन्वेषणपर हँस रहे थे, पर उस समय हँसी होंठोंपर कैसे ला सकते थे। विचार करनेकी बात है कि सांस्कृतिक विद्वेषकी विषाक्त भावनाएँ किस प्रकार इन लोगोंके मनमें बैठा दी गई हैं। उसका एक उदाहरण है। अस्तु!

जैन गुफा—मध्याह्नमें हम लोग मुख्य मन्दिरमें गये, कुछ सीढ़ियोंको पार कर जाना पड़ता है। यहाँसे प्राकृतिक सौन्दर्यका आनन्द भी लिया जा सकता है। सौभाग्यसे उस दिन आकाशमें काले बादल मँडरा रहे थे, अतः सूर्यका प्रभाव नहींवत् था। देवीका मन्दिर बाहरसे गुफाके समान प्रतीत होता है। दो द्वार जानेके हैं। भीतर काफी अन्धकार है। तैलके दीपक अन्धकारको दूर करनेमें असमर्थ थे। हम यहाँपर श्रद्धाके कारण दर्शनार्थ तो गये नहीं थे, हमें तो सुनी-सुनाई बातोंका साक्षात्कार करना था। अतः साथवाले बाबू घेवरचन्दने प्रकाशदण्डका उपयोग किया, तब कहीं दीवारमें उत्कीर्णित अष्टप्रातिहार्ययुक्त वीतराग परमात्माकी प्रतिमा पद्मासनस्थ दृष्टिगोचर हुई। प्रतिमा बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण है। प्रतिदिनके तैलस्नानसे चमक भी काफ़ी थी। यह अच्छा हुआ कि सिन्दूरसे विलेपित नहीं की गई थी। मुख्य देवीकी प्रतिमाको देखनेसे ज्ञात हुआ कि वस्तुतः यह कोई मौलिक रूपसे देवीकी मूर्त्ति नहीं है, पर किसी प्राचीन मूर्त्तिमें कुछ परिवर्त्तन करके

देवीका रूप दिया गया है। यद्यपि वस्त्राच्छादित होनेसे स्पष्ट कहना कठिन है कि भीतरका स्वरूप कैसा रहा होगा। पुजारी किवाड़ वन्द करके प्रक्षालन करता है, अतः उसे देखना भी सम्भव नहीं। हम लोगोंने नीचेका वस्त्र हटाकर देखनेकी कोशिश की, परन्तु असफल रहे। हमें ऐसा लगा कि जिनमूर्त्ति जो दायें भागमें है, विस्तृत परिकरका उपांग है। ऊपर-नीचेके अलंकरण प्रायः नष्ट हो चुके हैं, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि किसी समय यह जैन-गुफा-मन्दिर रहे होंगे।

सीताकुण्डकी ओर

अष्टभुजाके मन्दिरसे हम लोग सीढ़ियाँ उतरकर सीताकुण्डकी ओर चले। सीढ़ियोंके पास ही छोटा-सा गड्ढा है, जो शायद कूप रहा होगा। इसके किनारे जैन-शैलीके चरणपादुका अवस्थित है, जो उपेक्षित-से पड़े है। इतना ही अच्छा है किसी ऋषिके नामसे बँधे नहीं हैं। १०० क़दम चलनेपर एक मन्दिर दिखलाई पड़ता है, जो मार्गसे पर्याप्त नीचे है। सामने हनुमान्‌जीकी मूर्त्ति है। इसीके निकट छोटे-छोटे अवशेषोंके टुकड़े बिखरे पड़े है। शायद किसी मन्दिरके स्तम्भके रहे होंगे। मन्दिरके आगे एक अच्छा-सा चौक है। मन्दिरके आजू-बाजू दो कमरे हैं। लगता है पूर्वकालमें शिवलिंग रहे होंगे। मध्यभागके कमरेमे एक खण्डित प्रतिमा है, तथापि अवशिष्ट अंश निर्णय करनेमें सहायता देता है। मूर्त्तिका वाहन विलकुल अस्पष्ट है। प्रतिमा चतुर्भुजी है। दाँयें ऊपरवाले हाथमे कमल-पुष्प है। कमलको थामनेमें अँगुलिकाओंका मुड़ाव स्वाभाविक है। निम्न हस्त खण्डित है। बाँयें ऊपरवाले हाथमें पुस्तिका चिह्नित है, निम्न हाथमें जो चिह्न है उसे नरमुण्ड मान लिया गया था। परन्तु वस्तुतः वह कमल-पुष्पका गुच्छा है। मस्तकपर नागफनें हैं, मध्यभागका कटाव आकर्षक है। देव-देवियाँ जैन-परिकरोंके समान हैं। केश-विन्यास प्रतिस्पर्द्धाकी वस्तु है। कर्णमें केयूर, मुखपर सौम्य भावोंका अङ्कन, ओठोंपर स्मित हास्य, कण्ठ हँसुली, मालासे

विभूपित है। कटिप्रदेश तो वहुत ही स्वाभाविक है। नागावलीकी सिकुड़न सौन्दर्यमें और भी अभिवृद्धि करती है। साथवाले पण्डेसे ज्ञात हुआ कि यह पद्मा देवी है। यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियोंमें वर्णित लक्षण पद्मा-पद्मावतीपर लागू नहीं होते। परन्तु वह पार्श्वनाथजीकी अधिष्ठातृ होनेके कारण उसका इस स्थानसे सम्वन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस गुफा समान मन्दिरके पार्श्वमें भी एक छोटी-सी गुफा है, जिसमें एक व्यक्ति भी कठिनतासे लेट सकता है। सीताकुण्ड इसीके ऊपर है। स्वाभाविक पानीका स्रोत है, नाम दे रखा है सीताकुण्ड।

कालीखोह——यहींसे वहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपरकी ओर जाना पड़ता है, वह मार्ग 'कालीकुण्ड'की ओर जाता है। मार्गमें आवास और छोटे-मोटे मन्दिर पड़ते हैं। गेरुआ तालाव भी इस वीच पड़ता है। आम जनताका ख्याल है कि इसके इर्द-गिर्द कुछ फ़ासलेपर महात्माओंकी कुटियाँ हैं, जिनमें वे गुप्त रूपसे तप करते हैं। इधरसे कुछ दूर जानेपर मार्गमें व्यवस्थित जमाये हुए पत्थरोंका ढेर दिखा। कोई भी यात्री यहाँसे गुज़रता है तो वह पापाणका गृह बनाकर चल देता है। कहा जाता है कि यहाँपर जो गृह निर्माण करता है, उसे अगले जन्ममें यहींपर——माताके चरणोंमें रहनेकी सुविधा हो जाती है।

सीताकुण्डसे हमें काफ़ी ऊँचे चढ़ना पड़ा था। अव यहाँ उतरना पड़ा। हम लोग रूखे पहाड़ प्रदेशको छोड़कर हरे-भरे वृक्ष और लताओंसे आवेष्टित प्रदेशमें पहुँच गये। इस स्थानको लोग कालीखोह कहते हैं। सचमुचमें वह 'खोह' ही है। वड़ी गहरी भूमि है। नीचे भैरोंका स्थान है जहाँपर एक छिद्र है। भूतोंको लोग इसी छिद्रमे छोड़ जाते हैं। यहींपर एक पत्थरका गड्ढा है जिसपर कालीखोह लिखा है। भैरोंजीके निकटसे एक पगदण्डी जाती है——कालीखोहकी ओर। आधा फर्लाङ्ग चलना पड़ता है। मार्ग वड़ा सँकरा है। सघन वृक्ष भी पर्याप्त हैं। प्रकृतिका सौन्दर्य एक-एक लता-पर विखरा पड़ा है। यहाँपर भी पापाण-शिलासे एक-एक वूँद जल गिरता

है। कृत्रिम कुण्ड भी है। यही स्थान भगवान् पार्श्वनाथजीके नामसे सम्बन्धित होना चाहिए। कलिकुण्ड तीर्थकी स्थापना और वनहस्ती द्वारा उपसर्गकी जो घटना आती है, वह इसी पर्वतपर घटित होनी चाहिए। नाममें भले ही बाह्य विभिन्नता लगती हो, पर अर्थपर ध्यान देनेसे मूल बात-स्थानमें अन्तर नहीं पड़ता है। "काली खोह" अभी कहते हैं। सम्भव है कालान्तरसे कलिका कालीखोह हो गया हो, कुण्डस्वरूप झरना तो आज भी है ही। और 'खोह' पहाड़ियोंके गहरे स्थानोंको कहते हैं। आज भी चारों ओर ४-५ फर्लांग भयंकर झाड़ी है। यहाँपर यद्यपि प्राचीन स्थान नहीं दिखलाई पड़ता। केवल कालिकाका मन्दिर मात्र है। इसीसे 'कलिकुण्ड'का 'कालीकुण्ड' या 'कालीखोह' नाम बन गया है। वस्तुतः जैनधर्मके तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ भगवान्का स्मृति स्वरूप यह स्थान होना चाहिए। इसके आजू-बाजू और भी गम्भीरताके साथ अन्वेषण किया जाना चाहिए।

शामको भैरोकुण्ड देखनेको गये, जहाँ पानीका झरना है और कतिपय बंगाली तान्त्रिक वहाँ रहते थे। दूसरे दिन पहाड़से चलकर अष्टभुजाका मन्दिर देखा। मन्दिरमें प्रवेश करते ही सड़े-गले मांसकी दुर्गन्धिसे मन उद्विग्न हो जाता है, नाक फटने लगती है। आश्चर्य होता है उन उपासकोंपर, जो मानवताका बलिदान देकर पाशविक वृत्तिसे उत्प्रेरित होकर देवीकी पूजा करते हैं। मन्दिरके सामनेवाले मन्दिरोंमें एक हजार वर्षकी खण्डित मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं। देवीके मुख्यमन्दिरमें बड़ा ही अन्धकार छाया हुआ था। एक पण्डा अखण्ड ज्योतिके नामपर एक दीपक लिये खड़ा था। इससे केवल देवीके मुखमात्रका हल्का आभास होता था। हम लोगोंने दीपकोंके सहारे मूर्त्तिके अंगोपांग व लक्षण देखनेका प्रयास किया, सो सब पण्डे बिगड़ पड़े और कहने लगे कि देवीके इस मुख्य मन्दिरमें अखण्ड-ज्योतिको छोड़-कर दूसरा दीपक कभी-भी नहीं जलाया जा सकता। पण्डोंको विदित हो चुका था कि हम लोग जैन-मुनि हैं, पर अखीरमें वहाँके पुलिस इन्स्पेक्टर श्री राणाजंगबहादुरके हस्तक्षेप करनेपर केवल ५ मिनटके लिए घृतके एक

दीपकसे निरीक्षण करने दिया, पर देवीका शरीर वस्त्रावृत होनेसे जो हमें जानना था न जान सके। केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि देवीके मस्तक-पर पद्मासनस्थ ध्वस्त आकृति है। इससे इनका जैनत्व सिद्ध है।

उपर्युक्त मन्दिरके पाससे एक मार्ग गंगाघाटकी ओर जाता है। मार्गमें कहीं-कहीं पुरातन अवशेषोंके साथ जैन-मूर्त्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। घाटके निकट ही, बाँई ओर एक व्यायामशालाके सामने तीन विशाल जिन-मूर्त्तियाँ औंधी रखी हुई थीं। जब शिलाको हटवाकर देखा तो खड्गासन युक्त तीन जिन-प्रतिमाएँ ज्ञात हुईं। यद्यपि निर्माण-कालसूचक कोई लेख तो खुदा न था, पर मूर्त्तियोंकी भव्य आकर्षक मुखमुद्रा, घुँघराले बाल, कानों-तक खिंची हुई भौंहें व कमललोचन, तीक्ष्ण नासिका आदि लक्षणोंसे इसे गुप्त कालमें, रखनेमें हमें संकोच नहीं होता। मूर्त्तियोंकी प्रभावली हमारी उपर्युक्त कल्पनाको और भी पुष्ट करती है। प्रभावलीमें विविध जातिके बेलबूटोंका अंकन, विशेषतः गुप्तकालीन मूर्त्तियोंमें ही देखा जाता है। घाट-पर पीपल वृक्षके निम्नभागमें बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष पड़े हैं। कुछ-एकको तो वृक्ष-मूलने दृढ़ताके साथ ऐसा जकड़ रखा है कि, बिना वृक्षमूलको समाप्त किये उनकी उपलब्धि असम्भव है। यहाँपर हमें अपने जीवनमें प्रथम बार ही जैन-मूर्त्तिके विशाल परिकरमें बाहुबली स्वामीकी मूर्त्तिका अंकन देखनेको मिला और बादमें विन्ध्यप्रदेश व उसके निकटवर्ती महा-कोसलसे प्राप्त जिन-मूर्त्तियोंमें।

स्वर्गस्थ काशीप्रसादजी जायसवालने जिस मिट्टीके दुर्गका उल्लेख किया है और उसमें प्राचीन मूर्त्तियाँ होना बतलाया है, इस उल्लेखके आधार-पर हम लोग वहाँ गये, पर हमें विशेष सफलता न मिली। क़िलेके निम्न-भागमें बहुत बड़ा पत्थरोंका ढेर दिखा। पर वह ऐसे खतरनाक स्थानपर था कि बिना नौकाका सहारा लिये, वहाँ पहुँचना असम्भव था।

डाक्टर फुहररके वृत्तान्तसे विदित हुआ कि विन्ध्याचलसे लगभग ३ मील दूर शिवपुर ग्राम है। वहाँके रामेश्वरनाथ-मन्दिरमें खण्डित मूर्त्तियाँ

हैं। उनमें एक श्री त्रिपालादेवी और भगवान् महावीरकी भी मूर्त्ति है। एक स्त्रीके शरीराकार पूर्ण मूर्त्ति एक सिंहासनपर पुत्रको गोदमें लिये बैठी है—५ फुट २ इंच ऊँची व ३ फुट ८ इंचतक चौड़ी है, व ६ फुट ८ इंच मोटी है। दाहिनी भुजा खण्डित है। बाईं भुजामें पुत्र है। सिंहासनके नीचे सिंह और उसके हरएक ओर सात मुसाहिब हैं—२ उड़ते हुए पांच खड़े हुए हैं—पीछे बड़ा वृक्ष है। यहाँके लोग इसे शंकटा देवी कहते[1] हैं"।

उपर्युक्त वर्णित शंकटादेवी जैनोंकी अम्बिका ही होना चाहिए। डाक्टर साहबने जो वर्णन किया है वह पूर्णतया अम्बिकापर ही चरितार्थ होता है। सिंह, अम्बिकाका वाहन है। गोदमें बैठे बालक उसके पुत्र हैं। पीछेकी ओरका वृक्ष आमका ही होना चाहिए। क्योंकि इस प्रकारकी मूर्त्तियोंका प्रचलन युक्त प्रान्तमें, कुषाण-कालमें भी था। जैसा कि मथुरा और कोशाम्बीकी खुदाईसे प्राप्त मूर्त्तियोंसे सिद्ध है। यह परम्परा विन्ध्यप्रदेश होते हुए महाकोसलतक फैली और तेरहवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व मिलता है।

विन्ध्याचलके निकटवर्ती ग्राम एवं पहाड़ियोंमें भ्रमण करते हुए कई जिन-मूर्त्तियाँ, अन्य अवशेषोंके साथ दृष्टिगोचर हुईं; पर साधनोंके अभावमें हम उनके नोट न ले सके।

इतने विवेचनके बाद यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि किसी समय विन्ध्याचल जैन-संस्कृतिका प्रधान स्थान अवश्य ही रहा होगा। इसके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डाल सके, ऐसे ग्रन्थस्थ उल्लेख व शिलोत्कीर्ण लिपियाँ आज हमारे सम्मुख नहीं हैं, पर जो कुछ ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त

---

१. संयुक्तप्रान्तके प्राचीन जैन-स्मारक पृ० ५६–६० ।'

सिवनी (मध्यप्रदेश) से १० मील "पुसेरा"में नाककटी एक जैन-मूर्ति है, जिसे लोग "नकटीदेवी" मानते हैं। अन्यत्र भी पुरातन अवशेष ग़लत ढंगसे पूजे जाते हैं।

होते हैं और वहाँ जैन-संस्कृतिसे सम्बद्ध जो कला-कृतियाँ पायी जाती हैं, उनसे हमारा मार्ग आंशिक रूपमें स्पष्ट हो जाता है।

जैन-साहित्यमें भगवान् पार्श्वनाथकी जीवन-घटनाके साथ 'कलि-कुण्ड तीर्थ'की स्थापनाका उल्लेख जुड़ा हुआ है। आचार्य श्री जिनप्रभ-सूरिजी इस तीर्थकी घटनाका स्थान अङ्ग जनपदान्तर्गत चम्पाके निकट कादम्बरी अटवी मानते हैं। वहाँ 'कली' नामक पर्वत और उसके अधो-भागमें 'कुण्ड' नामक सरोवर था। वहीं यूथाधिपति महिधर हाथी हुआ, आदि आदि[1]।

डॉ० हीरालालजी जैनका मन्तव्य है कि कलिकुण्ड तीर्थ दक्षिणमें होना चाहिए। इसके समर्थनमें वे हरिषेणाचार्यकृत कथाकोष व कर-कण्डुचरित्रके उल्लेख उपस्थित करते हैं।

परन्तु हमारा अनुमान है कि विन्ध्याचलपर जो स्थान कालीखोहके नामसे विख्यात है, वह कलिकुण्डका ही अपभ्रंश रूप होना चाहिए; क्योंकि वहाँपर निर्मित कालीका मन्दिर बहुत प्राचीन नहीं है। पर वह आज भी ऐसा एकान्त स्थान है कि (जबकि उन दिनों तो यह स्थान सापेक्षतः और भी गुप्त समझा जाता रहा होगा।) तान्त्रिकोंको सहज ही आकृष्ट कर सकता है। हुआ भी ऐसा ही जान पड़ता है। 'कलि कुण्ड'से 'कालिकुण्ड' हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। गुफास्थित पद्मावतीकी मूर्त्ति भी इस बातका समर्थन करती है कि भगवान् पार्श्वनाथका सम्बन्ध किसी न किसी रूपमें, विन्ध्याचलसे रहा है।

---

१. अंगजणवए करकण्डुनिवपालिज्जमाणाए चंपानयरीए नाइदूरे कायं-बरीनामअडवी हुत्था। तत्थांकलीनामपव्वओ। तस्स अहो भूमीए कुंडं नाम सरवरं। तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी हुत्था।

विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २६।

२. जैन-सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष ६, किरण १, पृष्ठ ६२–६३।

अष्टभुजा गुफ़ाके पृष्ठ भागमें जिस चरणका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियोंमें हुआ है वह जैन शैलीके ही हैं और वह नवीन भी नहीं जान पड़ते। बहुत सम्भव है कि वह विन्ध्याचलके ही किसी मन्दिरमें रहे होंगे और परिवर्तनकी धुनिमें उस स्थानपर साम्प्रदायिक चिह्न स्थापित कर इसे उपेक्षित रूपसे कूपके ऊपर रख दिया हो तो आश्चर्य नहीं।

अष्टभुजामें जो जिन-मूर्त्ति खुदी हुई है, उसे देखनेसे मुझे तो ऐसा लगा कि वह मूर्त्ति स्वतन्त्र जिन-प्रतिमा न होकर बहुत बड़े परिकरका एक अंशमात्र है। संभव है बाँई ओर भी परिकरका भाग अवश्य ही रहा होगा। वर्णित मूर्त्तिको पण्डे लोगोंने 'मार्कण्डेय' ऋषिकी मूर्त्ति घोषित कर रखी है। उन बेचारोंको क्या पता कि किसी सांस्कृतिक कला-कृतिका किसी व्यक्ति-विशेषके साथ इस प्रकार सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। जैन-मूर्त्ति-विधानको छोड़कर 'पद्मासन'का अस्तित्व अन्यत्र कहीं भी न मिलेगा। यदि मिले तो भी जैन-प्रभाव समझना चाहिए। गुफ़ाका निर्माण कब हुआ होगा? यह एक समस्या है। हमारा अनुमान है कि गुफ़ा प्राचीन है। जैन गुफ़ाओंका निर्माणकाल मौर्य्यकालसे लगाकर राष्ट्रकूट कालतक गिना जाता है। इस बीचमें यानी गुप्तोंके पूर्व इसका निर्माण हुआ होगा; क्योंकि जैनोंके निर्युक्ति विषयक साहित्य तथा तात्कालिक कथात्मक ग्रन्थोंमें विन्ध्याचलका जैन-दृष्टिसे विशद् वर्णन, इस बातका परिचायक है कि तबतक वहाँ जैन प्रभाव था; परन्तु तान्त्रिकोंने वहाँ कब प्रभाव जमाया? निश्चित नहीं कहा जा सकता। भारतीय तान्त्रिक परम्पराके क्रमिक इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे ज्ञात होता है कि गुप्तकालमें तान्त्रिक-परम्परा विकसित हो चुकी थी। तदुत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्यके नाटक व कथात्मक ग्रन्थोंमें कापालिकोंका वर्णन आता है। सम्भव है तान्त्रिकोंके बढ़ते हुए प्रभावके कारण जैनी अपने इस स्थानको खो चुके हों। परन्तु विन्ध्यप्रदेशके इतिहासको देखनेसे तो ऐसा लगता है कि आठवीं शतीमें वहाँ तन्त्र परम्पराकी वाम-साधना होती थी। यह प्रवाह उत्तर ही से

दक्षिणकी ओर बहा होगा। इसमें विन्ध्याचलका भी अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु जैन इतिहासके साधनोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि चौदहवीं शताब्दीतक तो वह जैन-तीर्थके रूपमें अवश्य ही प्रसिद्ध था। आचार्य श्री जिनप्रभसूरिजीके 'विविधतीर्थ कल्प'में विन्ध्याचल विषयक जो उल्लेख आये हैं वे इस प्रकार हैं—

"विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्रीश्रेयांसः"[1] "विन्ध्यान्द्रौ श्रीगुप्तः।"[2]

उपर्युक्त उल्लेखसे सिद्ध है कि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीमें वहाँ श्रेयांसनाथका मन्दिर या बिम्ब रहा होगा। इसी कालका जैन स्तुति-स्तोत्र विषयक साहित्यमें विन्ध्याचलका नाम लेकर वहाँके जिन-बिम्बोंको नमस्कार किया गया है; पर उत्तरवर्ती साहित्यमें न तो विन्ध्याचलका उल्लेख है एवं न सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दीकी तीर्थमालाओंमें ही विन्ध्याचलका उल्लेख है। मुझे तो उनमें उल्लेख न होनेका यही कारण दिखता है कि जैन-मुनियों-का आवागमन अधिकतर आगराकी ओरसे ही होता रहा। महाकोसल और विन्ध्य प्रदेशमें विचरते हुए यदि मगधके लिए जैन-मुनि प्रयाण करते, तो मिरज़ापुर बीचमें पड़ता और विन्ध्याचलका प्रासंगिक उल्लेख हो जाता। आजके सुविधाप्राप्त युगमें भी उपर्युक्त मार्ग बड़ा कठिन है; तब उस युगकी बात ही क्या कही जाय।

चौदहवीं शताब्दीके बाद ही जैनोंके अधिकारसे विन्ध्याचल निकल गया जान पड़ता है; क्योंकि सूचित समय बादके ऐतिहासिक प्रमाण नहींवत् मिलते हैं। उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैंने जिन अनुमानोंका उल्लेख किया है, आशा है विज्ञ-जन इसपर अधिक प्रकाश डाल, एक विलुप्त तीर्थको प्रकाशमें लावेंगे।

यहाँपर बिखरे हुए अवशेषोंको, कोई भी, कभी भी ले जा सकता था। संभव है इस डकैतीके शिकार जैन-अवशेष भी हुए हों। कुछ वर्ष पूर्व मौलाना

---

१. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८५।

२. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८६।

आज़ाद, स्वास्थ्य-लाभार्थ विन्ध्याचल रहे थे, उन्होंने सांस्कृतिक तस्करोंकी दृष्टिसे बचानेके लिए कुछ अवशेषोंको मिट्टीमें दबा दिया था। उन दिनोंके आज़ाद साहबका कला-प्रेम सराहनीय है; पर जब वे भारतीय शासनमें शिक्षा-विभागके सिंहासनपर बैठे, तब तो यह प्रेम और भी पल्लवित-पुष्पित होना चाहिए था, पर बड़े ही परितापके साथ लिखना पड़ रहा है कि आज मौलाना साहबके विभागके अन्तर्गत पुरातत्त्व विभागकी ओरसे प्राचीन कलात्मक सांस्कृतिक कृतियोंकी घोर उपेक्षा हो रही है।

मिर्ज़ापुरमें उभय सम्प्रदायोंके मन्दिर व उपाश्रय बहुत ही सुन्दर हैं। हम लोग "बूढ़ामहादेव" मोहल्लेके उपाश्रयमें ठहरे थे, यद्यपि यह स्थान कोई बहुत उपयुक्त तो नहीं है पर मैं इसे नहीं भूल सकता। प्रत्येक जैन मंदिर व उपाश्रयमें पुरातन हस्तलिखित प्रतियोंका संग्रह प्रायः पाया जाता है। मिर्ज़ापुरमें किसी समय बहुत अच्छा संग्रह था। पर गृहस्थोंकी इस ओर रुचि न रहनेके कारण, बहुसंख्यक ग्रन्थ नष्ट हो गये। मुझे यहाँ कुछ १७ शतीकी राजस्थानी वार्तोंकी प्रतियाँ प्राप्त हुईं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। कुछ चित्र भी प्राप्त हुए, जो वर्षों तक सर्दीमें रहकर भी अपनी रेखा व रंगोंको सुरक्षित रख सके थे। मुझे ज्ञात हुआ कि शुरूसे मिर्ज़ापुर खरतरगच्छीय यतियोंका केन्द्र रहा है। उनके द्वारा निर्मित अत्यन्त विशाल "दादावाड़ी" आज भी उस युगका सुस्मरण करा रही है।

३०-७-५२

कला-तीर्थ मैहर

मैहर शब्दके भीतर किस सीमा तक इस नामकी सार्थकता निहित है इस विवादको खड़ा करनेकी ज़िम्मेवारी मैं लूँ अथवा न लूँ ? मुझे इस शब्दकी व्युत्पत्तिके अंतरालमें इस भूखंडके सांस्कृतिक इतिहासका तथ्य संयुक्त दिख पड़ा, इसलिए यह बात उठा रहा हूँ। आनेवाले वर्णनसे यह पता चलेगा कि मैहर शब्दमें माई और हर इन दो देवी और देवताकी समन्विति स्पष्टतः परिलक्षित है। माई भगवान्‌की शक्ति है। जिसने हर अर्थात् भगवान् शंकरका वरण किया। मैहर नगरका शिवालय और 'शारदा माई'की मढ़िया क्या इन्हीं शैवों और शाक्तोंके समन्वयका प्रतीक है ? क्या तांत्रिकों और शक्ति पूजकोंका इस स्थलपर समागम हुआ और मैहरको उस समागमकी चिरजीवी बनानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ ? मैहर तथा माई और हरके बीच शब्द साम्य इतना समीप है कि उससे उसके सांस्कृतिक अतीतके विषयमें ऐसा सुझाव सामने रखना मेरी समझमें कोरी अटकल नहीं। जो हो, इस स्थलपर मैं इस सांस्कृतिक समागमकी सम्भावनाकी ओर संकेत मात्र कर सकता हूँ। संभव है अन्य योग्य अन्वेषकगण अन्य सांस्कृतिक उपादानोंके आधारपर मेरे सुझावका खंडन अथवा समर्थन उपयुक्त सामग्रीके सहयोगसे कर सकेंगे। भगवान् शंकरका मन्दिर और शारदा माईकी मढ़िया दोनोंकी एक ही स्थानमें स्थिति और समन्विति केवल काकतालीय न्याय नहीं हो सकता। इसमें किसी चिर-कालीन सांस्कृतिक परम्पराओंके अणु विद्यमान होंगे।

विन्ध्य-प्रदेशमें शारदा-मैयाके कारण मैहर एक प्रकारसे लौकिक तीर्थ-सा बन गया है। वसन्त पंचमी एवं नवरात्र आदि त्योहारोंमें यहाँ बड़ा मेला लगता है। नवरात्रमें बहुत दूरके तान्त्रिक यहाँ आकर अपनी साधना करते हैं। उन लोगोंकी मान्यता है कि बहुत प्राचीनकालसे ही यह स्थान तान्त्रिक

साधनोंका प्रधान केन्द्र रहा है। बताया तो यह भी जाता है कि जगद्गुरु शंकराचार्यने इसे प्रतिष्ठित किया था। शारदाका काश्मीर गमन यहींसे हुआ था। उनका यह स्थान जाग्रत पीठ है। कहनेका तात्पर्य कि जनताकी दृष्टिमें यह स्थान बड़ा चमत्कारिक एवं मनोकामनाकी पूर्ति करनेवाला है। वहांके सम्बन्धमें एक बात ऐसी प्रसिद्ध है, जिसपर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता। वह यह कि ठीक दशहरेके दिन आल्हा स्वयं मन्दिरमें प्रतिष्ठित शारदा मैयाकी पूजा करने आता है। प्रातःकाल नवीन अक्षत एवं चन्दनके छींटे दृष्टिगोचर होते हैं। आल्हाको यहींपर शारदाने वरदान दिया था, जिसके बलपर वह विजयी हुआ। इस पवित्र लोकतीर्थके साथ कई किंवदन्तियाँ सदियोंसे जुड़ी हुई हैं। नहीं कहा जा सकता इनमें तथ्यांश कितना है। इतना अवश्य देखा जाता है कि बहुत दूर-दूरसे विपत्तिग्रस्त ग्रामीण मनौती मानकर वहाँ शरण पाते हैं।

माई शारदाकी टेकड़ी

यों तो मैहर पहाड़ोंसे परिवेष्टित है, पर इन सबमें शारदा माताकी टेकड़ी लाखों मनुष्योंका आकर्षण बनी हुई है। यही टेकड़ी ग्रामीण जनताकी आन्तरिक धार्मिक-भावनाका प्रधान केन्द्र है। ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब कि यहाँ दर्जनों यात्री न आते हों और एक-दो बच्चोंके केश चूल न उतरते हों। शारदा है तो विद्याकी अधिष्ठात्री देवी, पर अशिक्षित जनता उससे अपने सब काम करवा लेती है। अभी पन्द्रह वर्ष पूर्व तक वहाँ पशुबलिकी भीषण हिंसा भी हुआ करती थी—पर सतनावासी बाल्शी भाईके प्रयत्नोंसे बन्द हो गयी है।

शारदा माताका पुण्यस्थान मैहरसे चार मील दूर है। घण्टाघरसे पश्चिमकी ओर पक्का मार्ग बना हुआ है जो पर्यटकको ढाई मील दूर पहाड़ीके समीप ले जाता है, जहांसे चढ़ाई शुरू होती है। ऊपर जानेके दो मार्ग दिखलायी पड़ते हैं। एक पूर्वकी ओरसे है, परन्तु वह पुराना और

ऊबड़-खाबड़ होनेसे खतरनाक भी है। चढ़ाई इतनी सीधी पड़ती है कि पैर फिसलते ही हड्डियोंका बचना सम्भव नहीं। अतः अब उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रही। यात्रीगण और पर्यटक नव-निर्मित मार्गसे चढ़ते हैं, जहाँ सीढ़ियोंका अपेक्षाकृत अच्छा प्रबन्ध है। तलहटीमें दाहिनी ओर एक दुमंज़िली वापिका है। छोटा-सा विश्राम-स्थान भी दिखलाई पड़ता है। स्नानादिसे निवृत्त होकर ऊपर चढ़नेमें सुविधा रहती है कारण कि ऊपर जलका अभाव है। ज्यों ही सीढ़ियोंपर चढ़ने लगेंगे त्यों ही पर्यटकोंकी दृष्टि सिन्दूरसे लगे हुए कुछ प्राचीन अवशेषोंपर पड़ेगी। भक्तोंके लिए इनकी अर्चना अनिवार्य है। उनका विश्वास है कि इन्हें सन्तुष्ट किये बिना सुखपूर्वक माताके दरबारमें पहुँचना सम्भव नहीं। भारतमें बेचारे देवता लोग जनसेवार्थ हरसमय प्रस्तुत रहते हैं। यहींसे एक मील श्रमसाध्य चढ़ाई है। सीढ़ियाँ डेढ़ फ़ुटसे कम ऊँची न होंगी और चौड़ाई भी पौन फ़ुट होगी। ४ फर्लांग तक तो अपेक्षाकृत मार्ग सुगम है पर बादकी चढ़ाई इतनी विकट और सीधी है कि बिना किसी सहारे चढ़ा नहीं जा सकता। अतः तीनों ओर लोहेके सींकचे लगा रखे हैं। यह चार फर्लांगका मार्ग एक प्रकारके शारीरिक बलकी कसौटीका स्थान है। पाँचसौसे अधिक सीढ़ियों-को चढ़नेके बाद माता शारदाके दरबारका सिंहद्वार दिखता है, जिसपर तिरंगा झण्डा फहरा रहा है। एक प्रकारसे आगंतुकोंका मौन स्वागत कर रहा है।

भीतर प्रवेश करनेपर एक फर्लांगका भूभाग समतल दिखायी पड़ेगा। शेष भाग ढालू है। छोटे-से चबूतरेपर शारदा मैयाकी कुटिया—मन्दिर है। मन्दिरको मैंने सकारण ही कुटिया कहा है। मन्दिरका गर्भ-गृह इतना संकुचित है कि स्थूलकाय व्यक्ति सुखपूर्वक न बैठ ही सकता है और न खड़ा ही हो सकता है। यही हाल सभामंडपका है। ३॥ फ़ुटसे शायद ही अधिक लम्बा-चौड़ा हो। दो स्तम्भोंके आधारपर मन्दिर खड़ा है। पाषाण-की चौखटमें लोहद्वार गड़े हुएहैं। भीतर श्याम पाषाणपर माता शारदाकी

सौन्दर्य सम्पन्न प्रतिमा उत्कीरित है। विभिन्न वस्त्रोंसे अलंकृत होनेके कारण मूर्तिके वास्तविक अंगोंपर प्रकाश कैसे डाला जा सकता है। वस्त्रहीन प्रतिमाको देखनेकी अभिलाषा कलाकारोंको अवश्य रहती है, परन्तु एक ही प्रत्युत्तर वहाँ मिला करता है, माँको नग्नावस्थामें देखनेकी धृष्टता कैसे की जा सकती है ? फिर तर्क काम नहीं आता। मुझे चुपकेसे प्रतिमाके भिन्न अंगोंको देखनेका कुछ क्षणमात्रका अवसर मिल गया। २४-१-५० का दिन था। प्रकृति भी प्रतिकूल थी—आकाशमें बादल छाये हुए थे, रिमझिम वारिश हो रही थी। टार्चकी सहायतासे वीणा एवं हंस स्पष्ट दिखलाई पड़ गये। अतः इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि मूर्ति वीणावादिनीकी ही है।

मूर्तिमें विवर्तित पाषाण खजुराहोका प्रतीत होता है। शारदाके मुखपर अद्भुत तेजकी चमक है। वीणापर उँगलियाँ ऐसी साधकर रखी गई हैं कि उनकी कल्पना और रचना एक पहुँचा हुआ कलाकार ही कर सकता है। शरीरके अन्य सभी अंग-प्रत्यंग कोमलताकी मार्मिक अभिव्यक्ति हैं।

मन्दिरके दायें ओर भी एक छोटा-सा गर्भगृह है। इसमें नृसिंहावतारकी प्रतिमा है। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे साधारणतः अच्छी है। बायीं ओर भी प्राचीन प्रतिमाओंके कुछ अवशेष बिखरे पड़े हैं। हम लोग केवल एकको ही पहचान सके। वह दशावतारी प्रतिमाके परिकरका वामभाग है। बौद्ध, कच्छ, मच्छ और नृसिंह अवतार सुन्दरतासे उत्कीरित किये गये हैं। इस खण्डित प्रस्तरको देखकर हमारे मुँहसे यही निकला—काश यह प्रतिमा सम्पूर्ण होती ?

चबूतरेके पश्चात् भागमें भी कुछ टुकड़े पड़े हैं। यहींसे एक छोटी-सी पगडण्डी जाती है। मैं उसीकी ओर डरते-डरते आगे बढ़ा। दस फ़ीट दूर मुझे वाममार्गियोंकी स्मृति दिलानेवाली कुछ मूर्तियाँ मिल गईं। यहाँसे प्रकृतिका वैभव अपने पूरे सौन्दर्यमें निखरा हुआ दिखता है। हम लोग और

नीचे उतरना चाहते थे, पर एक तो मार्ग वहाँ था ही नहीं, दूसरे जो था भी वह बारिशसे चिकना और खतरनाक बन गया था। यहाँ एक छोटी-सी गुफा है, जिसमें दस व्यक्ति सुखपूर्वक शयन कर सकते हैं।

दैवी चमत्कारोंमें श्रद्धा न रखकर भी माता शारदाकी प्रतिमाके सम्मुख मैंने सरस्वती स्तोत्रका पाठ किया। उसने मेरे हृदयमें एक ऐसी प्रेरणा उत्पन्न की, जिसे अपनी अनेकों तीर्थ-यात्राओंके बीच अन्यत्र केवल दो स्थलोंमें ही मैंने पाया है। तात्पर्य यह कि मैहरकी माताका स्थान निस्सन्देह पावन क्षेत्र है।

शारदा माताकी टेकड़ीपर ३ फ़ुट लम्बी-चौड़ी एक शिलापर बारहवीं सदीकी लिपिमें एक लेख खुदा हुआ है। लिपि सुन्दर सुपाठ्य और आकर्षक है। खुदाई इतनी गहरी है कि इतने वर्षोंतक प्रकृतिकी कठोरताओंका सामना करते हुए अपने मौलिक स्वरूपमें अक्षुण्ण बनी है। इस शिलाकी कणिकाएँ यदि न होतीं तो लेख कबका नष्ट हो गया होता। अन्धकार था, अतः प्रतिलिपि लिखना सम्भव न था। उस लिपिका अक्स ले लिया है, जिसपर यथासमय पुनः विचार करूँगा।

इस टेकड़ीके निकट शिल्पकलाके और भी अवशेष उपलब्ध हुए। टेकड़ी और इन अवशेषोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि इस स्थलपर भी वाममार्गियोंका प्राधान्य अवश्य ही रहा होगा। बात यह है कि वाममार्गी अपनी साधनाओंके हेतु, एकान्त पसन्द करते हैं, जहाँ निर्विघ्न होकर वे साधनाएँ सम्पन्न कर सकें। शक्तिके विभिन्न रूप भी उनके इस कार्यमें सहायक होते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि शारदाके क्षेत्रमें वाममार्गियोंकी सत्ता कैसे, क्यों और कब आई? इसका उत्तर हमें शायद साहित्य और इतिहासमें खोजना होगा। जो हो, इतिहास और साहित्य चाहे जो सिद्ध करें, किन्तु जिस असीम लोक-श्रद्धा और भक्तिसे माता शारदा मैहरमें हैं, वह उनकी सार्वभौमिकताका एक ज्वलन्त प्रमाण है। जनताने उन्हें लोकमाताके रूपमें अपना कंठहार माना है और इसी रूपमें उन्हें सम्मानित

करती आ रही है। लोक-संस्कृतिकी इस परम्पराकी अवहेलना कर सकना मेरे वशकी बात नहीं। ऐसे स्थान और ऐसी माता शारदाको मेरा शतशः प्रणाम।

शिव-मन्दिर

किस प्रकार विवेकहीन अन्धभक्तिके अन्तरालमें महान् कलाकृतियाँ भी नष्ट होती जाती हैं, इसका स्पष्ट दृष्टान्त मैहरका शिवमन्दिर है। आम रास्तेसे बगलमें दूर लगभग चार फ़र्लांगपर लतागुल्मोंसे परिवेष्टित इस देवगृहकी शिल्प और स्थापत्यकी सुन्दर आकृतियोंको चूनेसे पोत-पोतकर कैसा बरबाद कर डाला गया है, यह मैंने खुद ही देखा। स्थानीय ग्रामीण भक्तोंने वही सेवा की है, जो नादान दोस्त किया करता है। इत्तफ़ाक़ ऐसा हुआ कि उस वक़्त मेरे कैमरेमें फ़िल्म न होनेसे मैं उसके चित्र न ले सका।

सभा-मण्डप

मन्दिर ज़मीनसे पाँच फ़ुट ऊपरके चबूतरेपर बना हुआ है। चबूतरेकी कुछ इतनी ज़्यादा हिफ़ाज़त की गई है कि वह प्राचीनताको लगभग खो बैठा है और इस तरह मन्दिर चबूतरेसे अधिक प्राचीन बन गया है जो कि बिलकुल अस्वाभाविक है और प्रेक्षकोंको शङ्कामें डालता है। सभा-मण्डप दस फ़ीट ही लम्बा-चौड़ा होगा। उसकी छत चार सुदृढ़ स्तम्भोंपर आधारित है। आगेके दो स्तम्भ नीचेसे गोलार्कको लेते हुए मध्यमें अष्टकोण होते हुए ऊपर कई कोणोंके हो गये हैं। सबके ऊपरका भाग डेढ़ फ़ुट लम्बा है और गुलाई लिये है। उसके भी ऊपर बन्दरमाल जैसी खुदाई है। चारों ओर चार किन्नरदम्पति विविध वाद्य लिये विचरण करते खुदे हैं।

ऐसी आकृतियाँ गुप्त एवं तदुत्तरवर्ती स्तम्भोंमें पायी जाती हैं। पर उनमें चार किन्नर ही दिखाई पड़ते हैं, जब यहाँ दम्पति वाद्योंमें बाँसुरी

और वीणा प्रधान हैं। स्तम्भोंपर जो रेखाएँ ख़ुदी हैं, वे किसी लताका स्मरण कराती हैं। भीतरके स्तम्भोंमें चतुष्कोण और साधारण लताएँ ख़ुदी हुई हैं। पर कुछ विशेषता भी है। स्तम्भोंके निम्न भागमें सुन्दरी परिचारिकाओंका यौवन सुन्दरतासे उभरा हुआ है। उनके हाथोंमें कमल और चँवर हैं। केश-विन्यास ऊपरकी ओर जाकर थोड़ा मुड़ गया है। आभूषणोंके चुनावमें बड़ा विवेक परिलक्षित है। अन्यत्र तो आभूषणोंके बाहुल्यके मारे व्यक्तिका शरीर गौण बना दिया जाता है, परन्तु इन परिचारिकाओंके आभूषण स्वल्प हैं—इतने ही मात्र जिनसे सौभाग्यके शृङ्गारमें न्यूनता न रह जावे। अलंकरण अत्यन्त स्वाभाविक और स्वल्प परिमाणमें सजाये गये हैं। स्तम्भोंपर ७ × १॥ फ़ुटकी दो शिलाएँ आड़ी पड़ी हुई हैं। इन दोनों शिलाओंके ऊपर ही छतके अन्य प्रस्तर जमे हुए हैं। मध्यभागमें जो कमलाकृति ख़ुदी हुई है, वह भरहूत और भुमराके अवशेषोंमें पायी जानेवाली कमलाकृतियोंके समान है।

गर्भगृहका तोरण

तोरण-द्वारपर की हुई खुदाईके आधारपर मन्दिरके सम्प्रदाय-विशेष अथवा देवता विशेषके जीवनकी घटनाओंका अङ्कन किया जाता है। इनमें केवल धार्मिक तथ्य ही नहीं रहते। तत्कालीन लौकिक व्यवहारों, रीतियों, प्रथाओं, रहन-सहन, आभूषण इत्यादि भौतिक जीवनके अनेक अङ्गोंका भी चित्रण होता है। सामान्यतः प्रत्येक तोरण-द्वारमें पार्श्वद् अथवा परिचारिकाएँ अनिवार्यतः हुआ करती थीं। इनके अतिरिक्त उपर्युक्त चीज़ोंका अङ्कन भी होता था।

मुस्लिम आक्रमणोंने इस अत्यन्त कठिनता और चतुराईसे की गई कलाको छिन्न-भिन्न कर दिया। यत्र-तत्र जो अखण्डित तोरणद्वार मिलते हैं, उनमें विन्ध्यप्रदेश एवं पश्चिम भारतमें प्राप्त तोरणद्वारोंका एक अपना महत्त्व है। इस मन्दिरका तोरण मध्यकालीन विकसित शिल्पकलाके

तत्त्वोंसे ओतप्रोत हैं। स्थिर दृष्टिसे देखनेपर शायद ही उसमें कोई कमी दिख पड़े। बुन्देलखण्डके कुशल कलाकार तोरण-निर्माणकी कुशलतामें अप्रतिम रहे हैं। आज भी विन्ध्यप्रदेश एवं मध्यप्रदेशमें कुछ ऐसे तोरण बच गये हैं जो तत्कालीन भारतीय जन-जीवनका सफल प्रतिनिधित्व करते हैं।

गर्भगृहके तोरणके निम्न भागमें स्त्री-पुरुषोंके नृत्यकी झांकी अभूतपूर्व है। एक ओर गलेमें पड़े हुए मृदङ्गका वाद्य-साज और दूसरी ओर उन्हें बजानेमें अँगुलियोंकी चञ्चलता तथा चरणोंकी गति एक अजीब समाँ बाँधते हैं। नर्तक-नर्तकियोंकी मस्त मण्डलीमें कुछ बालगोपाल भी हैं, जिनकी बड़ोंका अनुकरण करनेकी चेष्टाएँ बड़ी मोहक हैं—कुछ महिलाएँ गोदमें शिशुओंको सँभाले हुए हैं। सब मिलाकर नृत्यकी मस्तीका प्रभाव हृदयपर पड़े बिना नहीं रहता। बीचमें किसी देवताकी आकृति खुदी हैं, परन्तु वह चूनेकी दो सूत मोटी तहोंसे ऐसी विकृत हो गई है कि उसे पहचानना कठिन है।

तोरणके ऊपरी भागमें पार्श्वद् और परिचारिकाएँ विविध पुष्पोंके गुच्छे लिये हुए आकर्षक ढङ्गसे खड़े हुए हैं। आँखोंका यौवनोन्माद मुखकी स्मिति-रेखाएँ, अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका स्वाभाविक गठन और उपरिवर्णित केशविन्यास इत्यादिका सौन्दर्य देखते ही बनता है। यहाँ भी आभूषणोंका चयन बड़े परिमार्जित स्वरूपमें अल्प मात्रामें किया गया है। केशविन्यासमें कहीं-कहीं बीच-बीचमें जटाजूटकी गोलाकृति दिखाई पड़ती है। इससे ऊपरके भागमें स्तम्भ कुछ उठा हुआ-सा है, जिसके दोनों ओर चार-चार इस तरह आठ मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं जो कामसूत्रसे सम्बन्धित हैं। इनकी अत्यन्त श्रृङ्गारमयी चेष्टाएँ नितान्त अश्लील ही कही जावेंगी। सपरिवार देखना भी अभद्रता होगी। सभी मूर्त्तियोंका निर्माण इस प्रकार हुआ है कि प्रत्येकके वास्ते एक आला बना दिया हो। इन भोगासनवाली प्रतिमाओंके पासमें, चार-चार मध्यावस्थाके पुरुषोंकी मूर्त्तियाँ भी खुदी हुई हैं, जिनमें

मुझे कोई वैशिष्ट्य नहीं नज़र आया। बिलकुल ऊपरके भागमें पूरी पंक्ति खड़ी मूर्त्तियोंसे भरी है। केवल तीन प्रतिमा बैठी हुई हैं। दायीं-बायीं प्रतिमाएँ क्रमशः कार्तिकेय और गणेशकी हैं। मध्यकी प्रतिमा पहिचानी नहीं जाती।

शिखर

भारतीय वास्तुकलामें शिखरका स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। बुन्देलखण्डके कलाकारोंने शिखरके शास्त्रीय एवं प्रान्तीय भेदोंके बीचका मार्ग निकालकर एतद्विषयक कलाकी एक नई परम्परा स्पष्ट की। यही कारण है कि यहाँ नागर-शैलीके शिखरोंके भी सम्मिश्रण पाये जाते हैं।

शिखरकी पीठिका जो अभी दिखलाई पड़ती है अपेक्षाकृत छोटी है। असम्भव नहीं बहुत भाग भूगर्भमें हो। शिखरके तीन भाग तीनों ओर हैं। एक-एक भाग सात-सात उपविभागोंमें बँटा हुआ है जो क्रमशः छोटे-बड़े हैं। बँटे हुए भाग ३से लेकर १॥ फ़ुट तक चौड़े हैं। तन्मध्यमें जो रिक्त स्थान (कोने) हैं, उन्हें कलश समझा जावे। ऊपरके भागमें उल्लिखित ७ भागोंमें तीनों ओरके मध्य भागमें एक-एक आलय-आला है। इसके सिवा छह भाग और भी उठे हुए हैं। उनपर मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। मैं दिशावार एक-एक भागका शब्दचित्र यथासाध्य उपस्थित करूँगा।

शिखरके दक्षिण दिशावाले भागके मध्य आलेमें पूर्वाभिमुख वराह भगवान्‌की बड़ी सुन्दर सपरिकर मूर्त्ति है। इसके नीचे गणेशकी नृत्य मुद्रामें एक मूर्त्ति है। पूर्वकी ओरवाले एक और गवाक्षमें स्त्रीकी खड़ी मूर्त्ति अवस्थित है। अतिरिक्त छह भागोंपर स्त्री-पुरुषोंकी कई प्रकारकी भावसूचक प्रतिमाएँ खुदी हैं, एवं काम-सूत्रके दस आसन उत्कीर्ण हैं। मध्यवर्ती जो कोने पड़ते हैं उनमें यों तो छोटी-बड़ी कई विभिन्न भावसूचक शिल्पाकृतियाँ हैं। हाथीकी एक मूर्त्ति विशेष उल्लेखनीय है: इस हाथीपर एक बालक बैठा है। हाथीकी शुण्डके पासकी नग्न और कहीं एक सवस्त्र

नारी बैठी हुई है : उठी हुई सूँडपर एक 'ग्रास' पशुकी आकृति है। यही क्रम तीनों ओरकी दीवालोंपर पाया जाता है। मौलिक भावोंमें काफ़ी समानता है, किन्तु सूँडपर कहीं तो अश्वोंकी आकृतियाँ हैं, कहीं स्त्री-पुरुषोंकी जो कहीं ज्यादा और कहीं कम हो गई हैं।

पश्चिम भागके मुख्य आलेमें अर्थात् 'शिखर'के ठीक पश्चात् भागमें सरस्वतीकी अष्टभुजा खड़ी प्रतिमा है। इसमें दो हाथ खण्डित हैं। नीचेवाले बायें हाथमें कमण्डलु और ऊपरवाले बायें हाथमें पुस्तक स्पष्ट दीखती है। दाहिने एक हाथमें माला दृष्टिगोचर होती है। शेष दो हाथ भी खण्डित हैं। यह प्रतिमा बड़ी कोमल और भावपूर्ण है। तूर्णालंकार नामक आभूषणने प्रतिमाके स्वाभाविक सौन्दर्यको द्विगुणित कर दिया है। प्रतिमाके दोनों ओर परिचारिकाएँ हैं। चरणोंके पास दो गन्धर्वोंकी हाथमें पुष्पमाला लिये प्रतिमाएँ खुदी हैं। इस गवाक्षके निम्न भागमें गरुड़पर आरूढ़ विष्णुकी मूर्ति है। दक्षिण दिशामें बुद्ध खड़े है। यहाँपर यह बताना प्रासंगिक होगा कि बुद्ध भगवान्‌की इस प्रतिमाका आलेखन दशावतारके एक अवतार मात्रकी दृष्टिसे ही किया गया है। विशिष्ट रूपसे बौद्धोंकी मनोवृत्तिके अनुकूल नहीं। अन्य दशावतारी प्रतिमाओंमें भी बुद्ध देवका आलेखन इसी दृष्टिसे हुआ है। शंकरगढ़के पासके गढ़वा क़िलेमें अत्यन्त सुन्दर और दशावतारोंकी भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ रक्त प्रस्तरपर अवस्थित हैं। उनमें भी बुद्ध देव इसी खड़ी मुद्रामे दिखलाई पड़ते हैं। दशावतारमें कहीं विष्णुकी ध्यानावस्थाकी मुद्राको देखकर बुद्ध देवकी कल्पना हो जाती है, परन्तु बुद्ध देवका खड़ा रूप ही अवतारोंमें सम्मिलित है। इस भागमें कामसूत्रके दस आसनोंके अतिरिक्त शेष मूर्त्तियाँ दक्षिणके ही समान हैं।

अब उत्तरकी ओर चलें। उत्तरीय आलेके मुख्य भागमें एक नारी प्रतिमा है। अन्य नारी-प्रतिमाएँ भी वहाँ हैं जो सहजमें हृदयको मोह लेती हैं। उनके यौवनके उन्मादकी भाव-भंगिमा इतनी हू-ब-हू और सजीव

हैं कि दो मूत चूनेकी लिपाईके बाद भी उनका प्रभाव हृदयपर अवश्य पड़ता है। कुछ भाव-भंगिमाओंकी झाँकी देखिए—सारा शरीर तो दक्षिणकी ओर अभिमुख हैं, किन्तु मुखपात्र उत्तरकी ओर। दाहिने पैरकी लचक इतनी गुलाई लिये हुए है कि वह नितम्ब भाग तक आ गई है। यद्यपि इस मुद्रामें उद्दण्डता तो स्पष्ट है पर चेहरेकी मुस्कान उसमें कोमलताकी सरसता भी भर रही है। इस शिल्प-कलामें निस्सन्देह तत्कालीन शौर्यपूर्ण काम-सम्बन्धी जीवनका प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। दूसरी नारी-प्रतिमामें भी अनोखी भाव-भंगिमा है। दोनों हाथ गर्दनके बिलकुल पीछे इस मुद्रामें हैं मानो प्रतिमा जँभाई ले रही है, जिसके फलस्वरूप मुख कुछ आगे आकर ऊँचा हो गया है। मुखके सलोनेपनमें आँखोंकी कन्दर्पवासना अपनी बहार दिखाती है। इन प्रतिमाओंमें कामसूत्रके दस आसन आलिखित हैं।

यहाँ पर मैंने 'शिखर'के केवल उन्हीं शिल्पावशेषोंकी चर्चा की है, जो स्पष्ट और सरलतासे पहचाने जा सकते हैं, परन्तु चार दर्जनसे अधिक छोटी-बड़ी कई ऐसी कलाकृतियाँ हैं जो काईसे ढक गई हैं। सम्भव है इनमें उन दिनोंका लोकजीवन प्रतिबिम्बित होता हो।

मन्दिरकी जगती और पीठका भाग मूर्तियोंसे आवेष्टित है। ऊपर 'शिखर' भी इतना सुन्दर बना हुआ है कि उसे देखकर कल्पना नहीं होती कि वह दो कलाकारोंकी रचना हो सकती है। अर्धगोलाकृतियाँ चारों ओर पाई जाती हैं। उनका भास्कर्य शिल्प-स्थापत्य-कलाका सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। शिखरमें लगे हुए पत्थर इतने जमे हुए हैं कि उनके बीच किसी गारे-मलमे इत्यादिका भी प्रयोग हुआ है, यह जान नहीं पड़ता। स्पष्ट है कि कलाकारोंने अपने ही श्रमके बलसे इतने विशाल पत्थरोंकी ऊबड़खाबड़ता घुवाकर उन्हें सौन्दर्य-रसमें भिगोया और वहाँ स्थापित भी किया, जहाँ वे हमें आज प्राप्त हैं।

इन कलाके नमूनोंमें धनके वैभवकी झाँकी कितनी है, यह हम भले

ही न बता सकें, किन्तु कलाकारकी आत्माके रसकी मधुरिमा कितनी आवेग और निश्छलताके साथ इन प्रतिमाओंको परिप्लावित कर रही है, इसकी अनुभूति और चिन्तन प्रत्येक सहृदयके मर्मको अपील करनेवाली वस्तु है। यहाँ आत्माके रसका वैभव है। धनके वैभव या ऐश्वर्यकी महिमा नहीं।

निर्माण-काल

अब प्रश्न यह है कि इस मन्दिरका शिलान्यास और निर्माण किसके हाथों तथा किस युग विशेपमें हुआ ? निर्माण-कालका संकेत करनेवाला कोई लेख उपलब्ध नहीं है, परन्तु 'शिवलिंग'की उपस्थितिके आधारपर लोग उसे शिव-मन्दिर ही मानते हैं। अब कलाकी आन्तरिक विशेपताओं-पर भी विचार करनेसे मन्दिरका काल कुछ समझमें आवेगा। इस मन्दिर-जैसी शैलीके दो मन्दिर विन्ध्यप्रदेशके देवतालाव (लऊर थानेसे १ मील दूर) एवं जसोके कुमार-मठके हैं। इन दोनों मन्दिरोंका निर्माण-काल बारहवीं और तेरहवीं सदीके बीचका है। इस तथ्यकी पुष्टिमें कुछ लेख भी प्राप्त हुए हैं—अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि यह मन्दिर भी इसी सदीकी रचना है। उसके शिखर और जगतीकी रचना इसी मतका पोपण करती है। उक्त मन्दिर मूलमें दो मन्दिरोंका अनुकरण है। परन्तु अन्य बारीकियोंमें थोड़ा फ़र्क़ भी लिये हुए हैं। देवतालावका मन्दिर कुमारमठके बाह्य भाग बिलकुल सादे हैं, परन्तु इस मन्दिरके बाह्य भागमें मूर्त्तियाँ और अलंकरणोंकी बहुतायत है। देवतालावके मन्दिरके तोरणको लोगोंने तोड़कर अपने स्थानसे हटा दिया है—इस तोरणमें भगवान्‌की नानाविध नृत्य मुद्राओंकी खुदाई थी—और उस तोरणकी जगहमें अब कृत्रिम टालियाँ जड़ दी हैं। अब मूलमूर्त्तिसे थोड़ा आगे बढ़कर यदि हम उसके अलंकरणों-पर विचार करने लगें तो उनमें तेरहवीं सदीकी कलाका विकास स्पष्टतः दीखता है। कहनेका सार यह है कि उक्त मन्दिरका निर्माण काल १२वीं १३वीं सदीका युग है।

मन्दिर किसका है ?

लोकश्रुति भले ही इसे शिव-मन्दिर घोषित करे, किन्तु अपनी मौलिक अवस्थामें भी यह शिव-मन्दिर ही हो, ऐसा मत संदिग्ध है। बात यह है कि यदि यह शिव-मन्दिर था तो उसके तोरण-द्वारपर भगवान् शंकरके नृत्यकी विभिन्न मुद्राओं एवं जीवनगत कतिपय विशेषताओंका चित्र उत्कीर्णित करना स्वाभाविक होता, किन्तु ऐसी कोई रचना यहाँ नहीं है। हाँ, भगवान् कार्तिकेय और गणेशजीकी प्रतिमाएँ दूसरी शंका उपस्थित करती हैं, जो तोरण द्वारके ऊपरी छोरपर अब भी विद्यमान हैं, परन्तु इसके आधार-पर मन्दिरको शिव-मन्दिर घोषित नहीं किया जा सकता। ये दोनों मूर्त्तियाँ वाम-मार्गी सम्प्रदायके मन्दिरोंमें अन्यत्र पाई जाती हैं, क्योंकि वे वाम-मार्गी भी शक्तिके उपासक होनेके नाते शैव-संस्कृतिकी एक शाखाके रूपमें प्रसिद्ध रहे हैं। गणेशजीकी नग्न प्रतिमाएँ अन्य नग्न नारियोंके साथ प्राप्त हुई हैं। यह सम्भव नहीं कि प्रस्तुत शिवमन्दिर भी वाम-मार्गियोंसे सम्बद्ध हो, एवं उनके साधकोंकी संख्याकी कमी अथवा परिस्थिति या समयके कारण दक्षिण-पन्थियोंके वशमें रहा हो। यद्यपि वात्स्यायनसूत्रके कतिपय भोगासन भारतकी सभी संस्कृतियोंसे सम्बन्धित मन्दिरोंके शिखरोंमें पाये जाते हैं, परन्तु यहाँ तो अतिरिक्त मूर्त्तियोंके साथ-साथ तोरणके मुख्य द्वारमें भी उन्हींका प्राधान्य है।

इस तरह सब मिलाकर ३८ अड़तीस प्रतिमाएँ हैं। अब देखना यह होगा कि मन्दिरकी शिल्पकला जिन दिनोंकी है, उन दिनों इस ओर वाम-मार्गका प्रचार था या नहीं। भारतीय साधनाका इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि चन्देल और कलचुरियोंके समय इस भू-भागमें वाम-पन्थियोंका न केवल प्रचार ही था, अपितु उनके प्रधान केन्द्र भी इस ओर थे। विन्ध्यप्रदेशसे जो शिल्पकलात्मक अवशेष उपलब्ध हुए हैं एवं खण्डरोंमें जो कहीं-कहीं पाये गये हैं, उनसे भी उपर्युक्त मतका ही समर्थन होता है।

पहाड़ों एवं जङ्गलोंका वाहुल्य होनेके कारण इसके लिए यहाँ यथेष्ट सुविधाएँ थीं। विन्ध्यप्रदेशके पुरातत्त्वसे यह भी प्रतिबिम्बित होता है कि गुप्तकालसे लगाकर १४वीं शताब्दीतक शैव-संस्कृतिका यहाँ काफ़ी अच्छा विकास हुआ। प्रसंगवशात् मुझे कहना चाहिए कि शैव संस्कृतिके या शिव-चरित्रके अधिकतर जीवन प्रसंग यहांके पुरातत्त्वमें ही मिलेंगे।

जिस शारदा मांकी पहाड़ीकी चर्चा की है, कहा जाता है कि वह भी एक समय साधकोंका अखाड़ा था। सारा पहाड़ पोला है, ऐसा भी सुननेमें आया है। कुछ वर्ष पूर्व वहाँ पशुवलि भी हुआ करती थी। एक कल्पना और भी ऐसी ही है जो इन्हें वाममार्गसे सम्बन्धित वतलाती है, वह यह कि मैहरसे चार मील ५ फर्लाङ्गपर पौण्डी नामक ग्राम है। यहांपर नग्न स्त्री-पुरुषोंकी वीसों मूर्त्तियाँ, मन्दिरोंके स्तम्भ आदि अवशेष मिलते हैं। उचहरा और मैहरके रास्तेमें भी ऐसे ही शिल्प दृष्टिगोचर हुए। इन सब कल्पनाओंके वाद इस निष्कर्षपर पहुँचना युक्तिपूर्ण होगा कि उपर्युक्त मन्दिर किसी समय वामपंथियोंका साधना-केन्द्र रहा होगा। सोलहवीं सदी तक विन्ध्यप्रदेशमें वाममार्गका प्रचार निश्चित रूपसे था और अब भी कहीं-कहीं है।

आवश्यकता इस वातकी है कि कलाके इस उत्कृष्ट मन्दिरके साथ जिस अवहेलनाका व्यवहार राजाओं और प्रजा दोनोंने ही किया, उसका अन्त होकर उसके यथेष्ट जीर्णोद्धार और व्यवस्थाकी सामग्री जुटाई जावे, ताकि वह हमारी ललित संस्कृतिपर अधिक प्रकाश डाल सके।

जैनदृष्टिमें पाटलिपुत्र

मगध प्रान्तके प्रामाणिक इतिहासका आजतक न लिखा जाना एक आश्चर्य है। विद्वानोंको अधिक-से-अधिक इतिहास-विषयक साधन-सामग्री इस प्रान्तसे प्राप्त होती है। प्राक्कालीन बहुसंख्यक ऐतिहासिक घटनाएँ वस्तुतः इसी प्रान्तमें घटीं, जिनका न केवल तात्कालिक साहित्यमें यथावत् वर्णन ही मिलता है, अपितु उनमेंसे अधिकांश प्रसंगोंपर प्रकाश डालनेवाले प्राचीन प्रस्तरावशेष भी समुपलब्ध हैं, जो उन सहृदय व्यक्तियों को उस समयके सांस्कृतिक जनजीवनकी वास्तविक कहानी, अतिगम्भीर रूपसे, पर मूकवाणीमें सुना रहे हैं, किसी भी प्रान्तकी अत्युन्नत दशाका यथार्थ परिचय यदि उसकी कला द्वारा ही प्राप्त किया जाता हो, तो मानना होगा कि मगध इसका अपवाद नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त प्रान्तीय सांस्कृतिक तत्त्वोंकी गम्भीर गवेषणासे यह स्पष्ट है कि कला मगधके जन-जीवनमें ओत-प्रोत थी। मगधके सूक्ष्म प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोंने अत्यन्त सीमित स्थानमें अपनी पैनी छैनी द्वारा सात्त्विक हृदयके उच्चतम मनोभाव पाषाण आदिपर बहाकर प्रमाणित कर दिया है कि यहाँका जानतिक जीवन कितना उन्नत और कलामय था।

श्रमण भगवान् महावीरके अनुयायी राजा एवं उपासकोंकी बहुत बड़ी संख्या मगधमें होनेके कारण उनका प्रधान कर्म-क्षेत्र मगध ही था, जिसमें वर्तमान भौगोलिक दृष्टिसे पटना और गया जिले लिये जा सकते हैं। विदेह, मगध और अङ्ग आदि विहार प्रान्तके प्राचीन भौगोलिक और सांस्कृतिक इतिहासपटको आलोकित करनेवाले जितने मौलिक साधन जैन-साहित्यमें उपलब्ध हैं, सम्भवतः अन्यत्र नहीं। इतनी विशाल तथ्यपूर्ण ऐतिहासिक साधन-सामग्रीके रहते हुए भी वर्त्तमान

पुरातत्त्ववेत्ताओंने जैन-साहित्य और इतिहासके बिखरे हुए साधनोंका समुचित उपयोग बिहारके इतिहास-लेखनमें नहीं किया, यह कम परितापका विषय नहीं ! बिना किसी अतिशयोक्तिके मुझे कहना चाहिए कि जबतक पक्षपात-शून्य दृष्टिसे जैनोंके ऐतिहासिक उल्लेखोंका तलस्पर्शी अध्ययन नहीं किया जायगा, तबतक बिहारका सांस्कृतिक इतिहास अपूर्ण या धुँधला ही बना रहेगा। प्रसंगवश एक बातको स्पष्टता वांछनीय है। जैनोंने मगध या सम्पूर्ण बिहार प्रान्तको लक्ष्य कर जो-जो प्रासंगिक उल्लेख किये हैं, वे केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु, तात्कालिक जन-साधारणके सामाजिक जीवनके प्रधान तत्त्व, आमोद-प्रमोदकी सामग्री, उत्सव, रीति-रिवाज, धार्मिक-मान्यता, दर्शन, वाणिज्य-विषयक आदान-प्रदान, राजनीतिके विभिन्न प्रकार एवं तत्कालीन प्रसिद्ध जैन-अजैन व्यक्तियोंके परिमार्जित इतिहास, आदिके निष्पक्ष वर्णनके लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जैनोंने अपने साहित्यमें विरोधी वायुमण्डलको भी स्थान देकर उन्हें स्थायित्व प्रदान किया। पंक्तिगत उल्लेखों-की प्राचीनता, भाषाकी दृष्टिसे, मथुराके शिलालेखोंके आधारपर, जर्मन विद्वान् डा० हरमन जेकोबी एवं अन्य विदेशी विद्वानोंने स्वीकार की है। यों तो बिहारसे सम्बन्धित प्रचुर सूचन मिल जाते हैं; परन्तु यहाँ न तो उन सभीकी विवक्षा है, न प्रसंग ही। प्रस्तुत प्रबन्धमें पाटलिपुत्रका जैनदृष्टिसे, प्राचीन इतिहास एवं भिन्न-भिन्न समयमें घटित प्रेरणादायिनी घटनाओंका उल्लेख ही पर्याप्त होगा; क्योंकि जैनसाहित्यमें पाटलिपुत्रका स्थान अत्यन्त उच्च और कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। सर्व-प्रथम मगधसंघ, अर्थात्, जैनोंकी साहित्य-परिषद्का अधिवेशन नवम नन्दके समय पाटलिपुत्रमें ही हुआ था, जिसके नेता आचार्य्य स्थूलिभद्र थे। यह घटना ईस्वी सन् पूर्व ३६६ की है। पाटलिपुत्र जबसे बसा, तभीसे मौर्यवंशके नाश तक जैनसंस्कृतिका व्यापक केन्द्र बना रहा। शिशुनाग, नन्द और मौर्य जैनधर्मके अनुयायी, पोषक एवं परिवर्द्धक थे।

आचार्य्य श्रीजिनप्रभसूरि जैनसमाजके उन प्रतिभासम्पन्न आचार्य्योंमें थे, जिनको विशिष्ट दृष्टिकोणसे भ्रमण और विशृंखलित ऐतिहासिक तत्त्वोंके संकलनमें बड़ी गहरी अभिरुचि थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने विविध नगरोंपर स्वानुभव द्वारा संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओंमें छोटे-बड़े कई ऐतिहासिक प्रबन्धोंका निर्माण विक्रम संवत् १३८९ में किया, जो विविध तीर्थकल्प नामसे प्रसिद्ध हैं। ये प्रबन्ध भारतवर्षके प्राचीन प्राप्य भौगोलिक ग्रन्थोंमें शिरोमणि रहे हैं। मिथिला, चम्पा, वैभारगिरि, पावापुरी, कोटिशिला आदि विहारके नगरोंका ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इन शब्दोंमें पाटलिपुत्रकी उत्पत्ति यों बतायी है—

> "श्री नेमिनाथ भगवान्‌को नमस्कार करके अनेक पुरुषरत्नोंके जन्मसे पवित्र श्री पाटलिपुत्र नगरका कल्प-प्रबन्ध कहता हूँ।
>
> प्रथम जब महाराज श्रेणिक—बिम्बिसार स्वर्गवासी हुए, तब उनका पुत्र कुणिक—अजातशत्रु, पिताके शोकसे व्याकुल होकर चम्पापुरीमें रहा।
>
> कुणिकके परलोकगमनके बाद उसका पुत्र उदायी चम्पाका शासक नियुक्त हुआ। वह भी अपने पिताके सभा स्थान, क्रीड़ास्थान; शयन आदिको देखकर, पूर्वस्मृति जाग्रत हो जानेसे उद्विग्न रहता था। इसने प्रधान अमात्योंकी अनुमतिसे नूतन नगरके निर्माणार्थ प्रवीण नैमित्तिकोंको आदेश दिया। भ्रमण करते-करते वे गंगातटपर आये। गुलाबी पुष्पोंसे सुसज्जित छवियुक्त पाटलिवृक्ष (पुन्नागवृक्ष) को देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए। तरुकी टहनीपर चाप नामक पक्षी मुँह खोलकर बैठा था। कीड़े स्वयं उसमें आ पड़ते थे।

इस घटनाने नैमित्तिकोंके मस्तिष्कपर वह प्रभाव डाला, जिससे वे सोचने लगे कि यदि इस भूमिपर नव-नगर-निर्माण किया जाय तो निस्संदेह राजाको स्वयं लक्ष्मी प्राप्त होगी। राजाने इस शुभ संवादको सुना। वह बहुत प्रसन्न हुआ। वयोवृद्ध नैमित्तिकने कहा—महाराज, यह वृक्ष साधारण नहीं है, जैसा कि ज्ञानीने कहा है—

पाटलाद्रः पवित्रोऽयं महामुनिकरोटिभूः।
एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषतः॥

महामुनिकी खोपड़ीमेंसे उत्पन्न यह पाटलि (पुन्नाग) वृक्ष अत्यन्त पवित्र है। विशेषतः इसका जीव एकावतारी है।

राजाने आश्चर्यान्वित मुद्रासे पूछा कि वे महामुनि कौन थे? नैमित्तिकने सारा वृत्तान्त इस प्रकार कहा—

उत्तर मथुरानिवासी देवदत्त नामक वणिक्‌पुत्र दिग्यात्रार्थ दक्षिण मथुरामें आये। यहाँ जयसिंह नामक वणिक्‌पुत्रसे उनकी मित्रता स्थापित हुई। एक समय देवदत्त जयसिंह यहाँ भोजनके लिए गया। उनकी बहन अन्निका पंखा रही थी। उनके सौन्दर्यपर देवदत्तने आत्मसमर्पण करने-का निश्चय किया। वह अपनी इच्छाओंके लोभका संवरण न कर सका। अन्ततः अपने भृत्योंके द्वारा जयसिंहसे याचना की। जयसिंहने शर्तें रखीं कि मैं अपनी बहन उसीको दूँगा, जो मेरे घरसे अधिक दूर न हो, प्रतिदिन बहन और बहनोईको देख सकूँ, और जबतक एक संतान न हो, तबतक मेरे घरपर रहे। देवदत्तने प्रसन्नतापूर्वक शर्तोंको स्वीकार किया एवं अन्निकाका पाणि-ग्रहणकर सुखमय जीवन-यापन करने लगा। एक दिन देवदत्तके माता-पिताका पत्र आया, जिसे पढ़कर उसके नेत्र सजल हो उठे। वह स्नेहकी शृंखलासे आवद्ध था। वह अन्निका-

के अनुनयपूर्वक कारण पूछनेपर भी मौन रहा। पतिके कष्टने अन्निकाके हृदयको द्रवित कर पत्र पढ़नेको बाध्य किया। पत्रमें लिखा था—"हे पुत्र, हम तो अब वृद्ध हो चले हैं। यदि देखनेकी इच्छा हो, तो शीघ्र चले आओ।"

अन्निकाने पतिको आश्वस्त किया और भाईसे हठकर देवदत्तको जानेकी आज्ञा दिलवायी। अन्निका सगर्भा थी। मार्गमें पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। उन्होंने नवजात शिशुका नामकरण माता-पितापर छोड़नेका विचार किया। भृत्योंने अन्निकापुत्र नाम दिया। उत्तरमथुरा पहुँचनेपर उन्होंने माता-पिताको सबिनय नमस्कारकर शिशुको उनके चरणोंमें समर्पित किया। उन्होंने संधीरण नाम रखा। जनता पूर्व नामसे पुकारनेमें आनन्दका अनुभव करती थी। क्रमशः युवावस्था प्राप्त होनेपर भी नश्वर सांसारिक भोगोंमें उनकी लेशमात्र भी अभिरुचि न रह गई। अब उनकी अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिका सुमधुर स्रोत फूट पड़ा। उन्होंने अन्ततः गृह त्यागकर, जन-कल्याणार्थ, मुनिधर्मकी दीक्षा, जयसिंह आचार्य्यके पास जाकर अंगीकार की।

संघके साथ विचरण करते हुए वृद्धावस्थामें अन्निकाचार्य गंगातटपर पुष्पभद्र नगरमें आये, जहाँ पुष्पकेतु शासक थे। उनकी पत्नी पुष्पावती थी। चूल, पुष्पचूला—उनके पुत्र-पुत्री अभिन्न हृदय थे। पारस्परिक तीव्र अनुरागके कारण राजा चिन्तित था कि यदि इनमेंसे किसीको पृथक् करूँगा, तो दोनोंका जीवन बचना असंभव है। मैं भी इतना दृढ़हृदयी नहीं कि इनका विरह सह सकूँ। अतः क्यों न दोनोंका पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध ही स्थापित कर दिया जाय। उन्होंने वायुमण्डल तैयार करनेके हेतु अपने प्रधान अमात्य, मित्र और

नगरवासियोंके सम्मुख कपटसे पूछा—"सज्जनो, जो रत्न अन्तःपुरमें उत्पन्न हो, उसका अधिकारी कौन ?" सबने एक स्वरसे कहा, "हे देव, अन्तःपुरमें समुत्पन्न रत्नके विषयमें तो क्या, सारे देशमें जो रत्न उत्पन्न होते हैं उनपर भी आपका ही अधिकार है, जैसा भी चाहें, उपयोग कर सकते हैं।" राजाने अब उनके सामने स्वाभिप्राय रखा और रानीको इच्छा न होनेपर भी उनका पाणिग्रहण करवाया। रानीने अपना अपमान समझकर गृह संसार छोड़ दिया और दीक्षा ग्रहण की। वह मरकर देवके रूपमें उत्पन्न हुई। पुष्पकेतु जब स्वर्गका अतिथि हुआ, तब पुष्पचूल राजसिंहासनपर बैठा। देवत्वप्राप्त रानीके हृदयमें उन दोनोंके अकृत्यको देखकर करुणाका स्रोत उमड़ पड़ा। उसने पुष्पचूलाको, प्रतिबोधनार्थ, स्वप्नमें भयङ्कर नारकीय कष्ट-यातनाओंके भाव बताये। वह भयभीत हुई। उसने पतिसे कहा : शान्तिके कृत्य किये जानेपर भी स्वप्नका क्रम बन्द न हुआ। राजाने सब धर्मोंके नेताओंको बुलाकर नारकीय स्वरूपकी पृच्छा की। किसीने गर्भावासको या गुप्तावासको या दरिद्रताको, और कुछ एकने परतन्त्रताको ही नरक बताया। रानीको सन्तोष न हुआ। अन्निकाचार्य्यसे पूछनेपर स्वप्नवत् वर्णन सुनकर रानी प्रभावित हुई। बादमें देवलोकके स्वप्न आनेपर; अन्निकाचार्य्यने तादृश वर्णनकर रानीके मनको सन्तुष्ट किया। रानीने अन्निकाचार्य्यके पास दीक्षा लेनेकी आज्ञा पतिसे माँगी। राजाने कहा कि एक शर्तपर आज्ञा दे सकता हूँ कि भिक्षा प्रतिदिन मेरे महलसे ली जाय। 'तथास्तु' कहकर वह आचार्य्यकी शिष्या हुई। उसने क्रमशः पढ़कर वैदुष्य प्राप्त किया।

एक बार अन्निकाचार्य्यने अपने ज्ञान-बलसे जाना कि

भविष्यत्‌में दुष्काल होनेवाला है। अतः उन्होंने सारे समुदायको अन्यत्र भेज दिया। वे स्वयं वृद्धावस्थाके कारण वहीं रहे। भिक्षा पुष्पचूला महलसे ला दिया करती थी। वह बड़े मनोयोगपूर्वक गुरुकी सेवामें तल्लीन रहा करती थी। क्रमशः उसे केवलज्ञान प्राप्त होनेके कुछ दिन बाद जब आचार्य्यको मालूम हुआ, तब उन्होंने पूछा कि मुझे कब केवलज्ञान होगा? विदुषीने कहा—गङ्गापार करते समय। आचार्य्य गङ्गापार करनेके लिए नावपर बैठे। जहाँ-जहाँ वे बैठते, नाव डूबने लगती। तब वे मध्यभागमें बैठे। तब तो सम्पूर्ण नौका ही गंगाके गहन गर्भमें प्रवेश करने लगी। अतः लोगोंने उनको उठाकर पानीमें फेंका। पूर्व भवमें उनके द्वारा अपमानित स्त्री, व्यन्तरीके रूपमें, वहाँपर आयी और पानीमें गिरते हुए आचार्य्यको शूलीमें पिरो लिया। शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित होने लगी। परन्तु, आचार्य्य महोदयको अपनी शारीरिक पीड़ाका तनिक भी ध्यान न था। वे तो इसी चिन्तामें निमग्न थे कि कहीं मेरे उष्ण रक्तकी बूँदसे जलस्थित जीवोंकी विराधना न हो जाय! इस प्रकार अहिंसाकी स्पष्टतम भावनाओंके चरम विकास होनेपर उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवताओं द्वारा प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) याग (पूजा) होनेसे प्रयाग नामसे उस स्थानकी प्रसिद्धि हुई। वर्तमानमें; अर्थात् विक्रम संवत् १३७१ में, करवत रखवानेकी परम्परा प्रयागमें थी। वहाँ एक वटवृक्ष है, जो कई बार मुसलमानों द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उत्पन्न हो गया।

जलचर जीवोंके ताड़नसे टूटती हुई सूरिजीकी खोपड़ी पानीकी तरङ्गोंसे यत्र-तत्र फिरती हुई गंगाके किसी प्रदेशमें अटककर रह गयी। उसमें किसी समय पाटला-वृक्षका बीज

पड़ा। अनुक्रमसे खोपड़ीके दक्षिण भागको भेदकर वृक्ष निकला। इस वृक्षके प्रभावसे चाष पक्षीके निमित्तसे नगर बसा।

सियारका शब्द जहाँतक सुनायी दे, उतनी भूमि सूतसे वेष्टित की जाय। राजाज्ञा प्राप्त कर नैमित्तिकने चारों दिशाओंमें वहाँतक सूतके तन्तु फैला दिये, जहाँतक सियारकी आवाज़ न सुनायी दे। इस प्रकार चतुष्कोण नगरकी राजाने स्थापना की। इसी वृक्षके नामसे पाटलिपुत्र नगर बसाया गया[1]। पुष्प-बाहुल्यके कारण इसे कुसुमपुर भी कहते थे।

—'विविध तीर्थ कल्प' पृष्ठ ६७-६८

आचार्य महाराजने शिशुनागवंशीय उदयाश्व या उदायी द्वारा निर्मापित नगरसे सम्बन्धित कोई ऐसा उल्लेख नहीं किया, जिससे ज्ञात हो सके कि अमुक संवत्‌में वह बसा। अतः अन्याय ऐतिहासिक साधनोंके आधारोंसे प्रतीत हुआ कि वीर निर्वाण संवत् ६१में उपर्युक्त नगर बना। इतिहासज्ञोंने

---

१. अन्य ग्रन्थोंमें उदायी राजाकी माताका नाम पाटलिरानी होनेके कारण नगरका नाम पाटलिपुत्र रखा, ऐसा उल्लेख भी मिलता है। अतः स्पष्ट रूपसे पाटलिपुत्र शब्दका अर्थ उदायी राजा ही किया जा सकता है। यात्रियोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि 'कुसुमपुर' पाटलिपुत्रका एक अंग था।

पुराणोंमें उदायी राजा और पाटलिपुत्रके निर्माणके लिए निम्नोक्त उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं—

उदायी भविता तस्मात्, त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः॥
सर्वः पुरवरं रम्यं, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥

—वायुपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय ३७, पृष्ठ १७५
ब्रह्माण्डपुराण म० भा० ३ पो० तीन अध्याय ७४।

इसके विस्तारके सम्बन्धमें विभिन्न मत दिये हैं। उनमें साम्य केवल इतना ही है कि उसके ६४ दरवाज़े और दुर्गकी ५७० बुर्जें थीं। आकस्मिक आक्रमणोंको रोकनेके लिए ३० हाथ गहरी और ६० हाथ चौड़ी खाई थी। इस प्रकारकी खाइयाँ मध्यकालमें भी दुर्गोत्तरवर्ती भागमें बनवायी जाती थीं। कहीं-कहीं इनमें पानी भरा जाता था और कहीं-कहीं युद्धके दिनोंमें जलते हुए कोयले बिछा दिये जाते थे।

उदयाश्व महाराज श्रेणिकके पौत्र और कुणिकके पुत्र थे। इनका राज्याभिषेक चम्पामें ही हुआ था। पर पिताके परलोकगमनसे उनकी वस्तुओंको देखनेसे प्रतिदिन मन बड़ा उद्विग्न रहा करता था, जिसके निवारणार्थ पाटलिपुत्र बसाया गया। 'महावग्ग' में उल्लेख मिलता है कि वैशालीके वज्जियोंके आक्रमणको रोकनेके लिए अजातशत्रुने सुनिद्ध और वस्सकार नामक प्रधान मन्त्रियों द्वारा ईसवी पूर्व ४८०में पटना बसाया या एक क़िला बनवाया। ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि उपर्युक्त कथन भ्रामक है; क्योंकि कुणिककी राजधानी चम्पा[1] रही है, जिसके पूर्तिस्वरूप अनेक उल्लेख प्राप्त हो चुके हैं।

---

१. भागलपुरसे पश्चिम चार मीलपर अवस्थित है। किसी समय अंगदेशकी राजधानी थी। रामायण, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें चम्पाका वर्णन उपलब्ध होता है। जैनोंके औपपातिक सूत्रमें चम्पाके विकासका प्रत्यक्षदर्शी वर्णन मार्मिक ढंगसे किया गया है। श्यू-आन-चुआङ भी चम्पामें आया था। उसने शहरके चारों ओर दीवालके खण्डितावशेषोंका जो वर्णन किया है वह आज भी नाथनगर रेलवे स्टेशनके पास अवस्थित है। एक समय अंग मगधके ही आधिपत्यमें था। चम्पापुरी जैनोंका अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थान माना जाता है। वहाँ भगवान् महावीरने तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे। वहाँ उनके अनेक शिष्योंका विहार हुआ करता था। भगवान् महावीरके आर्यासंघकी प्रधान श्रमणिका

विष्णुपुराण (खंड ४, अध्याय ४) में उल्लेख आया है कि उदयाश्व अजातशत्रुका पौत्र था, परन्तु नहीं कहा जा सकता, इस कथनमें कहाँ तक सत्य है। कुछ लोग मानते हैं कि अजातशत्रुके बाद दर्शक उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु जैन, बौद्ध और सिंहली-साहित्यके निर्माताओंने दर्शकके नामका उल्लेख न कर स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि अजातशत्रुका पुत्र उदयाश्व था। हमारे सामने ऐसा कोई कारण नहीं कि हम उदायीको अजातशत्रुका पौत्र मानें। पं० जयचन्द्र विद्यालंकारने 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' में लिखा है कि 'जैन अनुश्रुति' तो उदायीको भी नन्दोंमें गिनती है। यह भ्रामक है। यहाँपर एक बात स्मरण रखनी आवश्यक है कि मगधनरेशोंने चम्पा और पाटलिपुत्रमें राजधानियाँ परिवर्तित कीं। उस समय राजगृहको भी, जो मूल राजधानी थी, किसी प्रकार नुकसान न पहुँचे, इस बातका उन्हें पूर्ण ध्यान था। अतः वहाँ शिशुनागवंशीय किसी माण्डलिकको राजाके रूपमें नियुक्त किया था, जिसे 'इतिहास-दर्शक' या 'वंशक' के रूपमें मानते हैं[1]।

उदयाश्व भगवान् महावीरका परम अनुयायी था। इसने पाटलिपुत्र बसाते समय औषधिशाला, जिनालय, आदि बनवाये थे, जिनके उल्लेख 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' और 'विविध तीर्थकल्प' में क्रमशः पाये जाते हैं।

चन्दनबाला यहींकी राजपुत्री थी। जैनोंके बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्यके पाँचों कल्याणक यहींपर हुए। आज भी एक जैन मन्दिर सुरक्षित है। दशकुमारचरितमें आया है कि चम्पामें किसी समय बदमाशोंकी बस्ती अधिक थी। चम्पक श्रेष्ठि कथासे भी यह ज्ञात होता है।

[1]अस्माकं महराज दर्शकस्य भगिनी पद्मावती

—स्वप्नवासवदत्ता, अंक १ पृष्ठ १४

अजातशत्रुर्भविता, सप्तत्रिंशत्समा नृपः।
चतुर्विंशत्समा राजा वंशकरस्तु भविष्यति॥

—मत्स्यपुराण, अध्याय २७२।

"तं किर वियणगसंठियं णयरं णयराभिएय उदाइणा चेइहरं काराविय, एसा पाटलिपुत्तस्स उप्पत्ति"—आवश्यक सूत्रवृत्ति

"तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारी। तत्र पुरे गजाश्वरथशाला-प्रासाद सौधप्राकार गोपुरचण्यशाला सत्राकार पोषधागाररम्ये चिरं राज्यं जैनधर्मं चापालयदुयायि नरेन्द्रः।

विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ ६८।

सन् १८१२ में पाटलिपुत्रके समीप दो मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई थीं, जो वर्त्तमानमें कलकत्ताके इण्डियनम्यूजियममें भरहुतगैलरीमें सुरक्षित है। इन दोनोंपर जो लेखोत्कीर्णित हैं, उनका डा० काशीप्रसाद जायसवालने इस प्रकार वाचन किया था

"भगो अचो छोनिधि से"
(पृथ्वीके स्वामी महराज अज)
२—सप्तखने वन्दि
सम्राट् वर्तिनन्दि

ऐतिहासिक विद्वान् इनमें पाठभेद मानते हैं। पर जायसवालजीका अनुमान है कि प्रथम प्रतिमा महाराज उदयाश्वकी ही होनी चाहिए; 'अज' उनका अपर नाम भी था, 'पट्टावली समुच्चय' में 'अजयः उदासी उदायी' स्पष्टोल्लेख है।

उदयाश्वका अन्त मुनिवेशधारी विनयरत्नकी छुरीसे ईस्वी सन् पूर्व ४६६ में हुआ। साथ-ही-साथ मगध साम्राज्यपर राज्य करनेवाले शिशुनागवंशका भी अन्त हुआ।

नन्दकालीन पाटलिपुत्र

मगधकी राजधानी पाटलिपुत्रको शिशुनाग-वंशीय श्री उदायीने अपने पुरुषार्थसे समृद्ध करनेकी पूरी चेष्टा की थी, जिसके कारण उनकी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हुई। परन्तु उदयाश्वके पुत्र न होनेसे पाटलिपुत्रपर नन्दोंका अधिकार हुआ। मगधके सिंहासनपर वे जैनकालगणनाके अनुसार

१५० वर्ष एवं अन्य गणनानुसार १०० वर्ष तक रहे। वह किस धर्मके अनुयायी थे, इसका प्रमाण कहीं कुछ नही मिलता। बौद्ध-साहित्य बिलकुल मौन है। ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मूल्यवान् सूचना नही देते। जैन-साहित्यमें जो उल्लेख है, उनसे कुछ धुँधला आभास मिलता है कि वे जैन थे। विंसेंट स्मिथका कहना है कि वे नन्दराजा ब्राह्मणधर्मके द्वेषी और जैनधर्मके प्रेमी थे। केम्ब्रिज हिस्ट्री भी इस बातका समर्थन करती है। इसमे कोई शक नही कि नन्दोंके समयमे जैनधर्म बहुत कुछ विकसित अवस्थामे था। इस वंशके प्रारम्भसे अन्तिम नन्दतकके सभी प्रधान अमात्य जैन थे। असम्भव नहीं है कि नन्द राजाओंने एक ही वंशके मन्त्रियोंको अपनी सेवाके योग्य समझकर चुना हो।

यशोभद्रसूरि

श्रीयशोभद्रसूरि पाटलिपुत्रमें ही जन्मे थे। वे जातिसे ब्राह्मण थे। आपका जन्मकाल-सूचक संवत् अद्यावधि प्राप्त नही। परन्तु उनकी दीक्षा ईस्वी सन् पूर्व ४४२ मे हुई थी। यहाँपर नन्दीवर्द्धनका राज्याधिकार था। उपर्युक्त आचार्य्य अपने समयके परम गीतार्थ और प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे।

अभी तक जैन-संघके नेता एक ही होते आये थे, पर अब आर्य्य यशोभद्रसूरिके पट्टपर सम्भूतिविजयसूरि और भद्रबाहु दोनों एक ही साथ आये। प्रथमाचार्य्यके विषयमे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे ईस्वी सन् पूर्व ३७० वर्षमें महाप्रस्थानको प्राप्त हुए।

आर्य भद्रबाहु और स्थविर स्थूलिभद्र

यद्यपि भद्रबाहु स्वामी पटनाके निवासी न थे, परन्तु जैन-समाजके नेता होनेके कारण विहारसे उनका घनिष्टतम सम्बन्ध था। उन्होने भारतीय साहित्य रूपी सरस्वती-मन्दिरमे ग्रन्थ रूपी पुष्प प्रचुर प्रमाणमें

चढ़ाये हैं। आचार्य्य स्थूलिभद्र कल्पकानुयायी नन्दके प्रधान मन्त्री सकड़ालके ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्मकाल स्पष्टतः ज्ञात नहीं। ईस्वी पूर्व ३८० में उन्होंने मुनि-दीक्षा अङ्गीकार की। इतः पूर्व आप पाटलिपुत्रकी सुप्रसिद्ध गणिका कोशाके यहाँ १२ वर्ष तक रहे थे। परन्तु, वररुचिभट्टके राजनीतिक प्रपंचजालसे पिताकी करुणाजनक मृत्युके संवादने उन्हें जनकल्याणके प्रशस्त मार्गकी ओर चलनेको वाध्य किया। उन्होंने पितृ-स्थानपर लघु वन्धु श्रियकको वैठाया।

पाटलिपुत्री-वाचना

पाटलिपुत्रके इतिहासमें यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अभूतपूर्व सुघटना है। भारतीय साहित्यके संरक्षण और विकासमें इसका स्थान सर्वोच्चि माना जाता है। आज मागधी या अर्ध मागधी भाषाका जो कुछ साहित्य उपलब्ध होता है, इसके लिए पाटलिपुत्रका जैनसंघ ही साधुवादका अधिकारी है। विशाल जैन-साहित्यसम्मेलनकी प्रथम सभा पाटलिपुत्रमें होनेके उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं।

नन्द-वंशके राजत्वकालमें मगधमें १२ वर्षोंका भयङ्कर दुष्काल पड़ा था, जिस कारण जैनमुनि अन्य देशोंमें प्रस्थान कर गये। फिर भी, कुछ मगधमें रह गये और दुष्कालजनित कष्ट-परम्पराको धैर्यपूर्वक झेलते हुए अपने अन्तिम साध्य—आध्यात्मिक विकासकी साधनामें तत्पर रहे। दुष्काल उन्हें अपने कठोर मार्गसे विचलित न कर सका। यह तो मानना ही होगा कि विचारोंपर दुष्कालका प्रभाव भले ही न पड़े, पर शरीरपर तो अवश्य ही पड़ता है। अध्ययन सुव्यवस्थित न हो सकनेके कारण वहुसंख्यक मुनि कण्ठीकृत शास्त्रोंको भूल गये। मगधमें रहनेवाले मुनियोंकी संख्या ५०० थी, जिनके नेता स्थ० स्थूलिभद्र थे। वे उन दिनों प्रकाण्ड विद्वानोंमें गिने जाते थे। आंशिक कण्ठस्थ श्रुतज्ञानको पुनः सूत्रारूढ़ करनेकी भावनासे उत्प्रेरित होकर पाटलिपुत्रके श्रीसंघने उनको खास

तौरसे रोक रखा था। बादमें चतुर्विध संघ और नन्दराजकी पूर्ण सहायतासे कण्ठस्थ साहित्यको ग्रन्थका रूप देनेका पुनीत कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसमें २ वर्षोंसे कुछ अधिक समय लगा। उन्होंने ११ अंगोंको तो सुव्यवस्थित रूपसे ग्रन्थारूढ़ किया, पर १२ वाँ दृष्टिवाद भद्रबाहुको छोड़कर कोई जानता न था। वे उन दिनों नेपालमें महाप्राणायाम-ध्यानकी साधनामें तल्लीन थे। पाटलिपुत्रके जैनसंघने मुनियोंको नेपाल भेजकर उनसे कहलाया कि स्थूलिभद्रकी अध्यक्षतामें बहुत कार्य हो चुका है; अवशिष्ट कार्यकी पूर्तिके लिए आपकी अपेक्षा है। अतः आप कृपया यहाँ चले आइए। भद्रबाहुने सकारण पाटलिपुत्र आनेमें असमर्थता प्रकट की। मुनियोंसे संघने उपर्युक्त संवाद सुना, तब पुनः अन्य मुनियोंको भेजकर कहलाया कि संघाज्ञाका उल्लंघन करनेवालोंको क्या दण्ड दिया जाय। आचार्यश्रीने कहा, "उसे संघसे बहिष्कृत कर दिया जाय" आचार्यश्रीने दीर्घ दृष्टिसे विचारकर कहा कि महाप्राणायाम-ध्यान चल रहा है। अतः मैं तो न आ सकूँगा। श्रीसंघ मेरे पास यदि किन्हीं सूक्ष्मप्रतिभासम्पन्न मुनियोंको भेजें तो उपर्युक्त कार्य यहींपर बैठा हुआ मैं पूर्ण कर सकता हूँ। संघको उपर्युक्त संवाद मिला। ५०० मुनियोको लेकर स्थूलिभद्र नेपालको चले। परन्तु, वहाँ बहुत समयमें अल्प अध्ययनके कारण बहुसंख्यक मुनि धैर्य न रख सके। अतः वे क्रमशः खिसकने लगे। केवल स्थूलिभद्र ही रह गये। वह आठ वर्षोंमें आठ ही पूर्वका पारायण कर सके। भद्रबाहुने कहा कि अब मेरी साधना पूर्ण होनेको है। अतः अधिक अध्ययन-कार्य चलेगा। स्थूलिभद्र इतने बड़े विद्वान् स्थविर होते हुए भी अपने आपपर अधिकार न रख सके। कहने लगे, "प्रभो, अब कितना अध्ययन अवशिष्ट है।" आचार्यश्रीने कहा, "अभी तो बिन्दु मात्र हुआ है, समुद्रतुल्य शेष है।" ईस्वी पूर्व ३५६ में भद्रबाहुका स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार स्थूलिभद्रने आपत्तिकालमें मगधमें रहकर जैन-साहित्यकी बहुत बड़ी सेवा की। इसी कारण मगध-संस्कृतिके इतिहासमें इनका

स्थान अनुपम है। जैनसाहित्यमें पाटलिपुत्र-परिषद् प्रसिद्ध है। आवश्यक-निर्युक्ति, हरिभद्रसूरि कृत उपदेश-पद[1] आदि ग्रन्थोंमें इस घटनाका वर्णन विस्तारके साथ दिया गया है।

स्थूलिभद्र ईस्वी पूर्व ३११में पाटलिपुत्रमें ही स्वर्गस्थ हुए। इनका स्मारक अरक्षित अवस्थामें आज भी गुलजारबाग (पटना) स्टेशनके सामने कमलह्रद (कमलदह)में वर्तमान है। ईस्वी सन्‌की ७वीं शताब्दीमें भी उपर्युक्त स्थानका अस्तित्व चीनी यात्री श्यूआन्‌चुआङ्के उल्लेखसे प्रामाणिक होता है। उन दिनों निर्वाण-स्थान सार्वत्रिक प्रसिद्धिको प्राप्त कर चुका था। चीनी यात्री लिखता है कि—

"पाखंडियोंके रहनेका स्थान—उपाश्रय वहाँ है।"

पाखंडी कहनेका तात्पर्य धार्मिक असहिष्णु मनोवृत्ति ही है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस उल्लेखका बहुत बड़ा मूल्य है। आचार्य स्थूलिभद्रके समयमें मगधमें जबर्दस्त राजनीतिक परिवर्तन हुआ, नन्द वंशका नाश और मौर्य्य साम्राज्यका उदय।

मौर्य्य-काल

संसारका नियम है कि जब राजनैतिक परिवर्तन होता है, तब जानतिक शान्ति स्वाभाविक रूपसे भंग हो जाती है। विकृत वायुमण्डलकी सृष्टिसे जन-जीवन विक्षुब्ध होकर प्रवाहोंमें बहने लगता है। आत्मिक विभूतियोंका

---

[1] जाओ अ तम्मिसमए दुक्कालो दोय दसय वरिसाणि।
सव्वो साहुसमूहो गओ जलहितीरेसु॥
तदुवरमे सोपुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्येति॥
जंजस्स असिपासे उम्मस्सज्झयण माइ संघेडिउं।
तं सव्वं एक्कारयं अंगाई तहेव ठवियाइं॥

संस्मरण, अन्य समस्याएँ सम्मुख रहनेके कारण, हो नहीं पाता। आध्यात्मिक साधनाके लिए भौतिक शान्ति अनिवार्य्य भले ही न हो, पर आवश्यक अवश्य है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। अतः सामयिक परिस्थितिके प्रभावसे बच नहीं सकता। आजकी बात तो नहीं कर रहा हूँ, परन्तु, प्राचीन कालकी बात है कि राजनीतिक परिवर्तनोंके सबसे कटु अनुभव उनको हुआ करते थे जो किसी भी प्रकारके वाहनका उपयोग न कर, पाद-भ्रमणको ही महत्त्व देते थे। जिस देशकी जनताने वर्षोतक सास्कृतिक जीवन बिताया हो, वह चाहे कैसी भी भीषण परिस्थिति आये, फिर भी आनुवंशिक संस्कारोंके कारण सद्विचारोंका त्याग नहीं कर सकती। मगधकी जनता तो भगवान् महावीर और बुद्ध-जैसे जन-कल्याणकारक ऋषियोंके उपदेशामृतोंका पान कर चुकी थी, अपितु उनके औपदेशिक स्वर्णिम सूत्रोंको आत्मसात् भी करनेके सौभाग्यसे मंडित थी। अतः परिस्थितिकी भीषणताने मगधके समाजके बाह्यावरणोंपर आंशिक प्रभाव डाला सही; पर हृदय एवं मस्तिष्कमें किसी भी प्रकारकी दुर्भावनाओंका उदय न होने दिया। अतः मगधका सांस्कृतिक वायुमंडल परिमार्जित ही रहा।

जिस प्रकार मगधके सिंहासनपर पूर्व दो राजवंश जैनधर्मानुयायी थे, मौर्य्य भी जैनधर्मको विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते थे। इनमे चन्द्रगुप्त, सम्प्रति आदि प्रमुख हैं। वर्तमान ऐतिह्यतत्त्वविदोंने अब मौर्य्यका जैनत्व स्वीकार कर लिया है। जैनसाहित्यमें महाराजा सम्प्रतिका वही स्थान है, जो बौद्धसाहित्यमें अशोकका। इसने जैनसंस्कृतिके प्रभावको केवल भारतमे ही वेग नहीं दिया, अपितु विदेशोंमें भी जैनधर्मके व्यापक प्रभावके लिए सब कुछ किया।

आर्यसुहस्तिसूरि

इनका परिचय उपलब्ध नहीं होता। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ३०५में दीक्षित हुए तथा ईस्वी पूर्व २८१में जैनसंघके नेता

बने। स्थूलिभद्रकी बहन यक्षाने पुत्रवत् इनका पालन किया था। एक समय आपने पाटलिपुत्र आनेपर वसुभूति नामके श्रीमन्तको नवतत्त्वादिका ज्ञाता बनाकर जैनधर्ममें दीक्षित किया। आपके कालमें एक घटना ऐसी घटी, जिसका बहुत कुछ महत्त्व है। मौर्य्यकुलदिनमणि सम्राट् सम्प्रतिको इन्हीं आचार्योंने पूर्व भवमें प्रबुद्ध किया था। उसने अनार्य देशोंमें जैन संस्कृतिके प्रचारार्थ अपने सैनिकोंको जैनमुनियोंका वेश पहनाकर, वहाँके लोगोंको समझवाया कि मुनियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। बादमें सच्चे जैनश्रमण भेजे, जैसा कि **आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्णि, परिशिष्ट पर्व** आदि ग्रंथोंसे फलित होता है। आज भी यूनानमें **समनिया** नामक एक ऐसी जाति पाई जाती है, जो मांस-मदिरा सेवन करना बहुत बुरा समझती है। रात्रिभोजन न करनेवाला इस जातिमें सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। यह 'समनिया' श्रमण शब्दका विकृत ही रूप हो, तो मानना होगा कि सम्प्रतिद्वारा प्रबोधित जैनोंके अवशेष हैं। गवेषणाकी अपेक्षा है।

वाचक उमास्वाति

आप स्वयं अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—श्रीउमास्वाति वाचकेश श्रीशिव श्रीप्रव्रज्याके प्रशिष्य थे। ११ अंगके धारक श्रीघोषनन्दि श्रमण (महातपस्वी क्षमण)के प्रव्रज्या शिष्य थे। महावाचक मुंडपादके वाचना प्रशिष्य थे। वाचकाचार्य्य मूलके वाचना शिष्य थे। न्यग्रोधिकाके रहनेवाले थे, कौभीषिणी गोत्रवाले थे। स्वाति (पिता) और वात्सी गोत्रवाली उमा (माता) के पुत्र थे। उच्चानागरी शाखाके वाचनाचार्य्य थे। आपने गुरुगमसे अर्हद्वाणीको ग्रहण करके कुसुमपुर (पटना) में मिथ्याशास्त्र वचनमें फँसे हुए जीवोंके हितके लिए तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र बनाया। आपका नाम था उमास्वातिजी[1]। श्रीजिनप्रभसूरिजीने

---

१. वाचक मुख्यस्य शिवश्रिय, प्रकाशयस प्रशिष्येण।
शिष्येण, घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥

अपने 'विविध तीर्थकल्प'[1] में भी उमास्वातिका उल्लेख गौरवके साथ किया है।

उमास्वातिके अस्तित्वपर प्रकाश डालनेवाले ऐतिहासिक साधनोंका अभाव है। केवल प्रशस्तिमें जो उच्चानागरी शब्द आया है उसीपर कुछ कल्पना की जा सकती है। यह शाखा विक्रमकी प्रथम शतीसे तीसरी शतीके मध्यकालका सूचन करती है। जबतक किसी पुष्ट प्रमाणकी उपलब्धि नहीं होती, तबतक यदि उमास्वातिका यही अस्तित्व समय मान लिया जाय तो आपत्ति ही क्या है। यही मगधके प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम जैन-साहित्यके निर्माणमें संस्कृत भाषाका उपयोग किया। इतः पूर्व प्राकृत या उसकी उपभाषाओंमें ही जैनसाहित्य ग्रथित होता था।

पादलिप्तसूरि और पाटलिपुत्रका मुरुण्ड

पादलिप्तसूरिजी यों तो अयोध्याके निवासी थे, परन्तु पाटलिपुत्रके इतिहासमें भी आपका इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि उसकी उपेक्षा नहीं

वाचनया च महावाचकक्षमण मुंडपाद शिष्यस्य।
शिष्येण क्ष वाचकाचार्य मूलनाम्न-प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिका प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वाति तनयेन वात्सी सुते नाघ्यम् ॥३॥
अर्हद् वचनं सम्यग गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुखार्तं च दुरागम विहित मति लोकम वगम्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन, सत्त्वानुकंपया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

—तत्त्वार्थसूत्रीय प्रशस्ति

१. उमास्वातिवाचकश्च कौभीषणिगोत्रः पंचशतसंस्कृतप्रकरण प्रसिद्धस्तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमं सभाष्यं व्यरचयत्। चतुरशीतिर्वादिशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणंसिषुः।

की जा सकती। वे जब पाटलिपुत्र पधारे, तब मुरुण्डका शासन था। सूरिजीकी प्रशंसा वह पूर्व सुन चुका था। ऐसी स्थितिमें प्रत्यक्ष मिलनेपर अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति होना स्वाभाविक है। राजाने स्वबुद्धि-बलसे जब पुनः सूरिजीका परीक्षण किया तो और भी स्नेह संवर्द्धित हुआ। कारण कि मुरुण्ड स्वयं गीता कथित वाङ्मयतप करते थे, उत्कृष्ट विद्वान् इनकी सभाके भूषण थे।

एक समय मुरुण्डके मस्तिष्कमें पीड़ा उत्पन्न हुई। सूरिजीने स्वयं तर्जनीको घुटनेपर फिराकर पीड़ा शान्त की (सम्भव है नसोंसे सम्बन्ध रखनेवाली यह घटना हो)। इस प्रसंगपर प्रकाश डालनेवाली एक गाथा निशीथभाष्यादि ग्रन्थोंमें इस प्रकार आई है—

जह जह पएसिणि जाणुयंमि पलित्तउ भमाडेई।
तह तह से सिर वियणा पणस्सई मुण्डरायस्स॥

राजा प्रकृतिस्थ होनेपर सूरिजीके निवासस्थानपर जाकर प्रतिदिन धार्मिक वार्तालाप करने लगा। राजाने आचार्य्यश्रीसे प्रश्न किया कि "महाराज, हमारे वेतनभोगी भृत्य भी चित्त लगाकर काम नहीं करते और आपके शिष्य बिना किसी प्रकारके वेतनके सारा कार्य दत्तचित्त होकर करते हैं एवं सदैव आपके आदेशकी प्रतीक्षा करते हैं।" आचार्य्यश्रीने कहा, "हे राजन्, हमारे शिष्य उभय लोक साधक भावनाके वशीभूत होकर हमारी आज्ञाका तत्परतासे पालन करते हैं।" राजाको विश्वास न हुआ। पर, बादमें "गंगा किस दिशामें बहती है" इसकी जाँचके लिए राजभृत्य और मुनि पृथक्-पृथक् भेजे गये। मालूम हुआ "गंगा पूर्वमुखी बहती है[1]।"

---

१. इस घटनाका सुविस्तृत उल्लेख प्रभावकचरित्रान्तर्गत पादलिप्त-सूरि चरित्र श्लोक ४४से ६०तक किया गया है। स्थानाभाववशात् मूल-उद्धरण देनेका लोभ संवरण करना पड़ रहा है।

इस घटनाका उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने विशेष आवश्यकभाष्यमें किया है—

> नियपुच्छिए(ण) भणियो गुरुणा गंव्वया कुओं महीं वहइ।
> संपाइयवं सीसो जह तह सव्वत्थ कायव्वं॥

तित्थोगाली पयन्ना और विविधतीर्थकल्पमें प्रातिपदाचार्यका उल्लेख आया है। वे कौन थे? विचाराधीन प्रश्न है। परन्तु, आंशिक नाम भेद एवं घटना समय साम्यको देखकर जी ललचाता है कि पादलिप्तसूरि या महेन्द्रको ही क्यों न पादिपत् या प्रातिपदाचार्य मान लें। प्रभावकचरित्र में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। प्राचीन प्राकृत-साहित्यमें भी इनका प्रासंगिक उल्लेख पाया जाता है।

अब यहाँपर दो प्रश्न प्रमुख रूपसे उपस्थित होते हैं। प्रथम, मुरुण्ड कौन था और द्वितीय, पादलिप्ताचार्यका समय क्या हो सकता है। मुनि कल्याण-विजयजीके मतानुसार मुरुण्ड कुषाण थे और पादलिप्तके समकालीन मुरुण्ड राजा कुषाणोंके राजस्थानीय थे। पुराणोंमें इनका नाम 'वनस्फणि' (अशुद्ध विश्वस्फाटिक, स्फणि स्फूर्ति) था। इस आधारपर तो पादलिप्तका समय विक्रमकी दूसरी शतीका अन्त भाग या तीसरीका आरम्भ काल मानना होगा। अच्छा तो यह होगा कि पादलिप्तके समयको ठीकसे जाननेके पूर्व हम मुरुण्डोंके इतिहासको समुचित रूपसे जान लें। यों तो भिन्न-भिन्न विद्वानोंने इसपर प्राप्त सामग्रीके आधारपर अपने-अपने अभिमत व्यक्त किये हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा० प्रबोधचन्द्र बागचीने इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेसमें प्राचीन इतिहास विभागके आसनसे जो भाषण दिया है, वह बड़ा ही गम्भीर एवं तथ्यपूर्ण है, जो मुरुण्डोंकी स्थितिपर सार्वभौमिक प्रकाश डालता है।[1] स्टीन कोनो मुरुण्डको शक मानते हैं; कारण कि शक भाषामें मुरुण्डका अर्थ होता है स्वामी। पर, बागची

---

१. दि प्रोसीडिंग्स आफ़ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस सिक्स्थ सेशन १९४३।

इससे भिन्न मत रखते हैं; गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तके इलाहाबादस्थ लेखमें मुरुण्डका पता चलता है। खोहके छठवीं शताब्दी ताम्रपत्रमें भी आता है। उच्चकल्प—उचहराके महाराज सर्वनाथकी माता मुरुण्डदेवी या मुरुण्ड स्वामिनी थीं (वही पृष्ठ ४०)।

फ्रांसके सुप्रसिद्ध अन्वेषक प्रोफेसर सिल्वेनलेवीने अपनी स्वतन्त्र खोजोंके अनुसार प्राचीन चीनी साहित्यमें भी मुरुण्ड शब्दका पता लगाया है। सन् २२२—७७के बीच दूत मण्डल फूनानके राजा द्वारा भारतवर्ष भेजा गया। क़रीब ७००० मीलकी महद्यात्रा समाप्त करके मण्डल इंगित स्थानको पहुँचा। तात्कालिक भारतीय सम्राट्ने फूनानके राजाको बहुत-सी भेंट-वस्तुएँ भेजीं, जिनमें यू-ची देशके चार अश्व भी सम्मिलित थे। फूनानवाले भारतीय दूत-मण्डलकी मुलाक़ात चीनी दूतसे फूनान दरबारमें हुई। भारतके सम्बन्धमें पूछे जानेपर दूतमण्डलने बतलाया कि भारतके सम्राट्की पदवी 'मिउ-लुन'[1] थी और इसकी राजधानी, जहाँ वह रहता था वो शहरपनाहोंसे घिरी थी एवं शहरका खातोंमें जल सरिताकी नहरोंसे आता था। पाठक सोच लें यह पाटलिपुत्रका ही सुस्मरण कराता है।—वही पृष्ठ ४०।

बहुत परिपक्व आधारोंके न रहते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाण और गुप्तकालके बीच मुरुण्ड राज्य करते थे। टॅलेमी[2] की भूगोल और चीनी साहित्यके आधारोंसे अवगत होता है कि ईसाकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमें मुरुण्ड पूर्वी भारतमें राज्य करते थे। (वही पृष्ठ ४०।)

प्रोफ़ेसर बागचीने अन्तिम निर्णय यही दिया है कि मुरुण्ड, तुखारोंके साथ प्रथम तो भृत्योंके रूपमें आये, बादमें उन्होंने स्वतन्त्र राज्य स्थापित

---

१. यह शब्द चीनी भाषामें मुरुण्डका रूपान्तर है।

२. इसका अस्तित्व समय ईस्वी सन् ८० है।

किया। यू-ची अक्षरोंसे ही उनका यू-ची देशसे सम्बन्ध प्रतीत होता है। मुरुण्ड, कुषाणोंकी तरह तुखारोंका एक कबीला था, जो कुषाणोंके पतन और गुप्तोंके अभ्युत्थानके इतिहासके बीच खाली हिस्सेकी पूर्ति करता है।

ग्रीक और रोमन लेखक जैसे स्त्राबो, लीनी और पेरिगेट एक फ्रिनोयी या फ्रूनि नामक कबीलेका नाम लेते हैं, जो तुखारोंके सन्निकट रहता था। फ्रिनीका संस्कृत रूपान्तर मुरुण्ड भलीभाँति हो सकता है। इसीको वायु आदि पुराणकारोंने मुरुण्ड न लिखकर पुरुण्ड या पुरण्ड लिखा है। (—वही पृष्ठ ४१)

मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणोंके आधार पर १४ तुखार राजाओंके बाद उनका राज्यकाल १०७ या १०५ वर्षों तक सीमित था। १३ मुरुण्ड या मुरुण्ड राजाओंने मत्स्यपुराणके अनुसार २०० वर्षतक और वायु तथा ब्रह्माण्डके अनुसार ३५० वर्षतक राज्य किया। लेकिन, पार्जिटरके अनुसार ३५० वर्ष २०० वर्षका अपवाद है; क्योंकि विष्णु और भागवत पुराणोंमें मुरुण्डोंका राज्यकाल ठीक-ठीक १९९ वर्ष दिया है[1]। अब पौराणिक काल-गणनाके अनुसार तुखारोंने १०७ या १०५ वर्ष राज्य किया। और अगर तुखार और कुषाण एक ही हैं तो कुषाणोंका राज्य १८३ या १८५ ईस्वी-तक आता है। अगर इस गणनामें हम मुरुण्ड राज्यकालके भी २०० वर्ष जोड़ दें तो मुरुण्डोंका अन्त क़रीब ३०५ ईस्वीमें पड़ता है। समुद्रगुप्त द्वारा विजय भी इसी कालके आसपास आकर पड़ता है[2]।

इतने लम्बे विवेचनके बाद एक प्रश्न और भी जटिल हो जाता है कि मुरुण्ड राज्यकालावधिके किस भागमें पादलिप्ताचार्य्य हुए? मुरुण्ड राज्यकाल १८५ ईस्वीसे ३८५ तक रहा! आश्चर्यकी बात तो यह है कि

---

१. 'डाइनेस्टीज ऑफ़ कलि एज', पृ० ४४-४५, लन्दन १९१३।

२. प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० २३२।

इतिहासकारोंने किसी भी राजाको नामसे सम्बोधित करना न जाने क्यों उचित नहीं समझा। नामाभावके कारण कठिनाई और भी बढ़ जाती है। अनुयोगद्वारकी अनुश्रुत्यनुसार पादलिप्तका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी ठहरता है। जब मुरुण्ड स्वतन्त्र शासक न होकर कुषाणोंके ही सेवक थे। बृहत्कल्पभाष्य भाग तीन, पृष्ठ ३२९-९३ में एक कहानी आती है, जिससे फलित होता है कि पाटलिपुत्रके मुरुण्डने एक दूत पेशावर भेजा था, जो राजासे तीन दिन तक न मिल सका। इससे पाटलिपुत्रके मुरुण्डों और पुरुषपुर—पेशावरके कुषाणोंके घनिष्ठ सम्बन्धका पता चलता है। साथ ही साथ उपर्युक्त ग्रन्थान्तर्गत विभिन्न सांस्कृतिक उल्लेखोंसे तात्कालिक धार्मिक और राजनैतिक स्थितियोंका धुँधला चित्र अङ्कित होता है। कुषाणोंकी धर्मान्धताके कारण जैनोंको कष्ट झेलना पड़ा। परन्तु कनिष्क और वासुदेवकालमें वे स्वतन्त्रतापूर्वक उपासना कर सकते थे, जैसा कि मथुराके शिलालेखोंसे अवभासित होता है।

दाहड़ और महेन्द्र

पादलिप्तसूरिके प्रसंगमें उपाध्याय महेन्द्र और पाटलिपुत्रके राजा दाहड़का उल्लेख पाया जाता है[1]। यह राजा लेशमात्र भी धर्मकी परवा

---

१. अथो महेन्द्रानामाऽस्ति शिष्यस्तेषां प्रभावभूः।
सिद्धप्राभृतनिष्णातस्तद्वृत्तं प्रस्तुवीमहि ॥
नगरी पाटलिपुत्रं वृत्रारिपुरसप्रभम्।
दाहड़ो नाम राजाऽत्र मिथ्यादृष्टिर्निकृष्टधीः ॥
दर्शनव्यवहाराणां विलोपेन वहन्मुदम्।
बौद्धानां नग्नतां शैवव्रजे निर्जटतां च सः ॥
वैष्णवानां विष्णुपूजात्याजनं कौलदर्शने।
धम्मिल्लं मस्तके नास्तिकानामास्तिकतां तथा ॥

न करता था। बौद्ध साधुओंको अनावृत करवा देता था। शैव साधुओंकी जटाएँ मुड़वा देता था। वैष्णव साधुओंको मूर्ति-पूजा छुड़वानेको बाध्य करता था। जैन साधुओंको सुरापानके लिए मजबूर करता था और ब्राह्मणोंको चरणोंमें प्रणाम करवाता था। पाटलिपुत्रके संघने इस अत्याचारको शान्त करनेके लिए भरौचसे उपाध्याय महेन्द्रको बुलवाया, जिसने अपनी शक्तिसे राजाको प्रवुद्ध कर न केवल जैन ही बनाया, अपितु कई ब्राह्मणों सहित जैन-मुनि-धर्मकी दीक्षा भी अंगीकार करवाई। (प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ३५) तित्थोगालीपयन्ना भी एक कलकी राजाकी सूचना देता है। तात्कालिक कुषाण राजाओंके लेखों एवं ब्रह्माण्ड, वायुपुराणोंसे प्रमाणित होता है कि वह राजा वनस्फर ही था। परन्तु इतिहासविदोंमें एतद्विषयक मतैक्य नहीं है। जिनप्रभसूरि भी कलकी राजाकी सूचना करते हैं। हो सकता है वह वनस्फर ही हो, जिसका समय ईस्वी सन् ८१से १२०तक था।

मुझे यहांपर प्रासंगिक रूपसे सूचित कर देना चाहिए कि इन दिनों

ब्राह्मणेभ्यः प्रणामं च जैनर्षीणां स पापभूः।
तेषां च मदिरापानमन्विच्छन् धर्मनिह्नवी॥
आज्ञा ददौ च सर्वेषामाज्ञाभंगे स चादिशत्।
तेषां प्राणहरं दण्डमत्र प्रतिविधिर्हि कः॥
नगरस्थितसंघाय समादिष्टं च भूभुजा।
प्रणम्या ब्राह्मणाः पुण्या भवद्भिर्वोऽन्यथा वधः।
धन-प्रमादिलोभेन मेने तद्वचनं परैः।
निष्किंचनाः पुनर्जैनाः पर्यालोचं प्रपेदिरे॥
देहत्यागान्न नो दुःखं शासनस्याप्रभावना।
तत् पीडयति को मोहो देहे यायावरे पुनः॥ (?)

—प्रभावकचरित्र, पष्ठ ३४।

बिहारकी कलापर ईरानी प्रभाव पर्याप्त था। बसाढ़की मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें दो मस्तक प्रधान हैं। उनमें वर्तुलाकार टोप और चोंगेदार टोपी है, जो स्पष्टतः विदेशी है। इसका निर्माण-काल मौर्यान्त या शुंगकाल निर्द्धारित किया गया है। मैंने बालकोंके खिलौनेकी कुछ चद्दरें देखी हैं। उनके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि वे ईरानी कलासे बहुत कुछ अंशमें साम्य रखती हैं। यद्यपि मगधीय प्रस्तरोंपर उत्कीर्णित प्राचीनतम कलावशेषोंका सुव्यवस्थित अध्ययन अद्यावधि नहीं हो पाया है। फिर भी अपेक्षित ज्ञान और साधनोंकी अपूर्णताके कारण जो कुछ भी खण्डित सांस्कृतिक प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, उनको देखनेसे पता लगता है कि अशोकके राज्यकालमें ईरानी कलाके कुछ अलंकरण सौन्दर्य-सम्पन्न होनेके कारण बिहारके कलाकारोंने अपना लिये थे। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें ईरानी व्यापारी बनकर मथुरा तक आ गये थे। ऐसी स्थितिमें उनकी कलाका प्रभाव भारतपर पड़ना असम्भव नहीं। जहाँ सांस्कृतिक और बुद्धिजीवी राष्ट्र या मानवोंका पारस्परिक सम्मेलन होता है, वहाँ एक दूसरोंके उन्नतिमूलक तत्त्वोंका आदान-प्रदान होता ही है। बिहारमें मुरुण्ड और कुषाणकालके प्राचीन प्रतीक मृण्मूर्तियाँ ही हैं। पुराण, जैन और चीनी साहित्योंसे स्पष्ट विदित होता है कि बिहारके कुछ भागोंपर विदेशी मुरुण्डोंका आधिपत्य था। बिहारमें सूर्यपूजाका जो विस्तृत प्रचार पाया जाता है, तदनुसार सूर्यकी जो प्राचीन कलापूर्ण संख्यातीत मूर्तियाँ नालन्दादि खण्डहरोंमें उपलब्ध होती हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि वे भी ईरानके ही प्रभावके प्रतीक हों तो आश्चर्य ही क्या है। क्योंकि सूर्य-पूजा ईरानियोंमें शताब्दियों पूर्व ही प्रसिद्ध थी। यों तो श्रमण भगवान् महावीरकालीन सामाजिक आचार-पद्धतिका अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि बिहारमें सूर्य और चन्द्र-पूजा विशिष्ट प्रकारसे की जाती थी। बालक-जन्मके बारहवें दिन सूर्य-चन्द्रकी मूर्तियाँ बनवाकर सूर्य-चन्द्रके दर्शनका विधान समाप्त किया जाता था। सूर्यके प्राचीन अवशेष—

मन्दिर, सरोवर आदि आज भी नालन्दामें वर्त्तमान हैं।[1] परन्तु आश्चर्य है कि इसपर कलाकी दृष्टिसे आजतक कुछ अध्ययन हुआ ही नहीं।

पाटलिपुत्र और वैशालीमें अभीतक पूर्णतया वैज्ञानिक रूपसे खुदाई नहीं हुई। मेरा विश्वास है कि बिहार-सरकार यदि सांस्कृतिक भावनाओंसे उत्प्रेरित होकर उपर्युक्त स्थानोंमें उत्खनन कराये तो न केवल प्राचीन मागधीय उन्नत सांस्कृतिक तत्त्वोंका ही ज्ञान होगा, अपितु मुरुण्ड-समस्या और कला-पर ईरानियोंके प्रभावका प्रश्न भी बहुत-कुछ अंशोंमें सुलझ जायगा।

इन पंक्तियोंका लेखक वैशालीके खंडहरोंको व खुदाईसे प्राप्त मृण्मूर्त्तियोंको देख चुका है, जो पटना-आश्चर्यगृहमें सुरक्षित हैं। आज भी वैशालीमें पुरातन दुर्गकी दीवालोंके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं, कतिपय मूर्त्तियाँ वहाँके विस्तृत जलाशयपर बने एक मंदिरमें सुरक्षित हैं। अन्य ऐतिहासिक सामग्री वहींके एक किसानके पास विद्यमान है।

वज्रस्वामी

इनका जन्म ईस्वी सन् ३०में वैश्य-कुलमें हुआ था। गुरुके[2] स्वर्गवासा-

---

१. मुनि कान्तिसागर—"मेरी नालंदायात्रा"।

२. गुरौ प्रायाद् दिवं प्राप्ते वज्रस्वामिप्रभुर्ययौ।
पुरं पाटलिपुत्राख्यमुद्याने समवासरत्॥

अन्यदा स कुरूपः सन् धर्मं व्याख्यानयद् विभुः।
गुणानुरूपं नो रूपमिति तत्र जनोऽवदत्॥
अन्येद्युश्चारुरूपेण, धर्माख्याने कृते सति।
पुरक्षोभभयात् सूरिः कुरूपोऽभूज्जनोऽब्रवीत्॥

प्रागेव तद्गुणग्रामगानात् साध्वीन्य स आहतः।
धनाढ्य श्रेष्ठिनः कन्या रुक्मिण्यत्रान्वरज्यत॥

प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ६।

तत्रैव (पाटलिपुत्र) महाधनधनश्रेष्ठिनन्दिनीरुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं पतीयन्ति प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभ चूड़ामणिना प्रव्राजिता।

—'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ ६९।

नन्तर वह पाटलिपुत्र उद्यानमें आकर ठहरे। उनकी देहकी कान्ति काम-देवको भी लज्जित करती थी। नगर-जन क्षुब्ध न हों, इस हेतु वे अपना वास्तविक रूप छिपाकर व्याख्यान देने लगे। पर, जनताने सोचा कि वाणीके अनुसार गुरुका रूप नहीं है। तब आपने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया।

पाटलिपुत्रमें जैन-आर्य्याएँ ठहरी हुई थीं। स्थानीयश्रेष्ठिकी पुत्रीने उनके मुखसे वज्रस्वामीके गुणोंकी स्तुति सुनी। अतः उनपर अनुरक्त होकर पितासे कहा कि मेरे स्वामी वज्र ही होंगे, अन्यथा अग्नि-शरण जाऊँगी। अब पिता, पुत्रीसहित विराट् सम्पत्तिको लेकर महाराजके पास आया। सारा वृत्तान्त निवेदित किया। आचार्य्यश्रीने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि "हे भाई, क्या तुम रेणुसे रत्नराशि, तृणसे कल्पवृक्ष, गर्तसे गजेन्द्र, काकसे राजहंस, मातंग-गृहसे राजमहल एवं क्षार जलसे अमृतके अनुसार, कुद्रव्य और विषयास्वादसे मेरे तपोबलका अपहरण करना चाहते हो? भोगयुक्त धनसे तो आत्माके गुणोंका पतन होता है। आपकी पुत्री सचमुच यदि मुझपर अनुराग रखती हैं, तो वह ज्ञानदर्शन ग्रहण करें।" यह सुनकर पुत्री रुक्मिणीने दीक्षा अंगीकार की। फिर यहाँसे वे उड़ीसाकी ओर प्रस्थित हुए।

आर्यरक्षित सूरि

आपका जन्म ईस्वी पूर्व ४में हुआ था। ईस्वी १८में दीक्षा ग्रहण की। आप वेद-वेदांगके पारगामी विद्वान् माने जाते थे। सरस्वतीकी तीव्र साधनासे उत्प्रेरित होकर आप पाटलिपुत्र आये और १४ विद्याओंका गम्भीर अध्ययन किया[1]। इस उल्लेखसे सूचित होता है कि ईसाकी

---

१. अतृप्तः शास्त्रपीयूषे विद्वानप्यार्यरक्षितः।
पिपठीस्तद्विशेषं स प्रययौ पाटलीपुरम्॥

प्रथम शताब्दीमें, पाटलिपुत्रमें ज्ञान-विज्ञानकी सभी शाखाएँ इतनी विस्तृत हो चुकी थीं कि इतर प्रान्तीय लोगोंको अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करनेके लिए यहाँ आना अनिवार्य होता था। आप जैनमुनि होनेके बाद भी पाटलि-पुत्र में आये थे।[1] आपने जैनसाहित्यको धर्मकथानुयोग, चरण-करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग चार विभागोंमें विभाजित किया। ईस्वी ३१ में आपका स्वर्गवास हुआ।

गुप्त और अन्तिम गुप्तोंके समयमें पाटलिपुत्रकी जैनदृष्टिसे कैसी उन्नति रही होगी, पर्याप्त साधनोंके अभावमें कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुप्तोंने अपनी राजधानीका भी परिवर्त्तन कर दिया था। सातवीं शताब्दीमें चीनी यात्री ह्यूआन-चूआङ् पाटलिपुत्रमें आया था। उसने यहाँके स्थूलिभद्रके निर्वाण-स्थानका जो उल्लेख किया है, उसपरसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन दिनों जैन-समाज अवश्य ही उन्नतावस्थामें रहा होगा, और वह स्थान भी सार्वभौमिक प्रसिद्धिको प्राप्त कर चुका होगा। चीनी यात्रीने आगे चलकर सूचित किया है कि कमलदहमें पाख-ण्डियोंके रहनेका स्थान—उपाश्रय है। इससे यह ध्वनित होता है कि जैन मुनियोंका वहाँ निवास रहा करता था। इन दिनों वे नगर-निवास न कर उद्यानमें ही ठहरते थे। पाखण्डी कहनेका कारण जैन-बौद्ध असहिष्णुता ही है। आज भी यह स्थान एक टीलेपर सुरक्षित[2] है। पुरातत्त्व-विभाग या जैन-समाजके नेताओंको चाहिए कि वे वैज्ञानिक दृष्टिसे उसका खनन करवाएँ।

अचिरेणापि कालेन स्फुरत्कुण्डलिनीबलः।
वेदोपनिषदं गोप्यमाप्यष्ट प्रकृष्टधीः॥ 'प्रभावकचरित्र' पृष्ठ ६।

१. अखंडितप्रयाणैः स शुद्धसंयमयात्रया।
सन्वरन्नाययौ बन्धुसहितः पाटलीपुरम्॥ 'प्रभावकचरित्र', पृ० १२।

२. खण्डहरोंका वैभव, पृ० ४४।

नागभट्ट—नागावलोक

इसे इतिहासमें नागभट्ट, नागलोक और आम भी कहते हैं। यह मौर्यवंशीय यशोवर्माका पुत्र था। ग्वालियर इसकी राजधानी थी। राजगृहपर आक्रमण कर उसने समुद्रसेनको परास्त किया था। १२ वर्ष तक छावनी डालकर उनसे लड़ा था। इसके पौत्र भोजका ननिहाल पाटलिपुत्रके शासकके यहाँ था। राजगृहके आक्रमणके बाद ही उनका पारिवारिक सम्बन्ध पाटलिपुत्रके शासकके साथ जुड़ा। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ग्वालियरके शासकको मगधपर आक्रमण करनेके लिए किन तत्त्वोंने उत्प्रेरित किया। क्योंकि ग्वालियरसे मगध पड़ता भी दूर है, एवं मार्गमें अनेक छोटे-मोटे भिन्न-भिन्न राज्य पड़ते थे। यह सचमुचमें एक समस्या है। तात्कालिक और तत्परवर्ती जो कुछ भी ऐतिहासिक साधन-सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उनमेंसे ऐसा कोई भी उल्लेख अवलोकनमें नहीं आया जो समुद्रसेनका ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित कर सके और पाटलिपुत्रके शासकका नाम भी अवलोकनमें नहीं आता। सम्भवतः उन दिनों पाटलिपुत्र साधारण ग्रामके रूपमें था। इस घटनाका उल्लेख केवल प्रभावकचरित्र (रचना काल १३३४ विक्रम) में ही आता है। जिनप्रभसूरिजी, भी मौन हैं। अतः मानना होगा कि चौदहवीं शताब्दी तक इस घटनाको सार्वत्रिक जानकारीका रूप न मिला होगा, अथ च 'विविधतीर्थकल्प'कार अवश्य ही कुछ न कुछ लिखते। आमका राजत्वकाल विक्रमकी नवीं शती पड़ता है। विन्सेण्ट-ए स्मिथकी अर्लि हिस्ट्री आफ इण्डियासे पता चलता है कि आमकालमें मगधपर पाल राजाओंका अधिकार था, जो बौद्ध-मतावलम्बी थे। ईस्वी सनकी ८वीं शताब्दीमें इनकी राजधानी ओदण्डपुर—उदण्डपुरमें थी। यहाँ उन्होंने विराट् बौद्ध विहारका निर्माण करवाया। जो इस समय नगरके वायव्य कोणमें निर्जन पहाड़पर है। इसमें अवलोकितेश्वरको चन्दनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। इसी उदण्डपुरका बौद्ध विहार प्रसिद्ध होनेके कारण ही वर्त्तमान बिहारका

नाम विहार पड़ा जान पड़ता है। शरीफ़ शब्द मख़्दूमशाहकी क़ब्र होनेके कारण जोड़ दिया गया। इनकी क़ब्र ईस्वी सन् १५६९में बनी। इनकी मृत्यु ईस्वी १३८०में हुई, जैसा कि जनरल ग्राफ़ दि रायल-एशियाटिक सोसायटी ग्राफ़ बंगाल १८३९' पृष्ठ ३५० से अवगत होता है। स्मरण रखना चाहिए कि चौदहवीं शताब्दीके ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें उदण्ड-विहार शब्द वर्त्तमान विहारशरीफ़ सूचक अर्थमें आया है। यहांके ज़मींदार बाबू जवाहरलालजी मुचन्तीके संग्रहमें पालकालीन एक बौद्धमूर्ति है, जिसपर उदण्डपुरका नाम स्पष्टोत्कीर्ण है।

पालकालीन मगध बहुत ही उन्नत था। खासकर तत्कालीन शिल्प-कलाका विकास यहाँ चोटीपर था। यद्यपि इस कालसे सम्बन्धित गृह उपलब्ध नहीं है, केवल जैन, बौद्ध एवं वैदिक तथा तन्त्रशास्त्रोंसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकारकी जो प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं, उन्हींपरसे कहना पड़ता है कि कलाकार मस्तिष्क एवं हृदय द्वारा मंथित उन्नत मनोभावोंका व्यक्तीकरण सुकुमार कर द्वारा बड़े सुन्दर ढंगसे कर पाये हैं। इन प्रतिमाओंमें वस्त्र-विन्यास, शारीरिक गठन, एवं हाव-भावकी मुद्राएँ भरत मुनिके नाटच-शास्त्रका मूर्त रूप उपस्थित करती है। तदुपरि जो आभूषण पाये जाते हैं, वे न केवल उन दिनोंके आर्थिक और सामाजिक विकासके ही ज्वलन्त प्रतीक हैं, परन्तु हमें वे इस बातकी शिक्षा देते हैं कि उन दिनों कौन-कौनसे आभूषण ऐसे थे, जिनका प्रथमोल्लेख संस्कृतादि साहित्यिक ग्रन्थोंमें आया, तथा उनमेंसे कब-कब कलाकारोंने उनको पाषाणोंपर अवतारित किया। ये विषय साधारण प्रतीत होते हैं, परन्तु फिर भी प्रतिमा या गृहका निर्माणकाल निर्धारित करना हो तो इनसे बड़ी मदद मिलती है। वे ही आभूषण आगे चलकर प्रान्तीय रूप धारण कर लेते है या एक ही अलंकरण पृथक्-पृथक् प्रान्तोंमें अपने-अपने ढंगसे पनप जाता है। उदाहरणार्थ हँसली, आप किसी प्रान्तके पुरातत्त्वमें देखें, तो उनमें हँसली अवश्य पायेंगे। पर उनका अपना अलग-अलग स्थान है। छठवें कालमें, कर्णकुण्डल, नागावलि

आदि पाये जाते हैं जो अपने एक राज्यकालके सूचक हैं। इन विषयोंके गम्भीर अध्ययन करते समय हम केशविन्यास-कलाकी उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक राज्यकालमें उनमें भी सामयिक परिवर्त्तन हुआ ही करते हैं। परन्तु विहारके विद्वानोंका ध्यान अभीतक इन महत्त्वपूर्ण विषयों-पर आकृष्ट नहीं हो पाया है, यह दुर्भाग्यका विषय है।

यहाँपर प्रासंगिक रूपसे मुझे स्पष्ट कर देना चाहिए कि ईसाकी सातवीं शताब्दीमें पटनाकी हालत सुरक्षित नहीं थी। पालकालीन ताम्रपत्रोंसे अवगत हुआ है कि पाटलिपुत्र भी उनकी राजधानी कभी रही थी। उपर्युक्त पंक्तियोंमें सूचित किया जा चुका है कि सातवीं शताब्दीमें जब श्यूआन-चूआङ्ने पाटलिपुत्रकी यात्रा की थी, तब अशोकके गृह खण्डहरके रूपमें परिणत हो चुके थे। जिस स्थानपर वह बसा था, उसके उत्तर भागमें गंगा तटपर एक दुर्ग विषयक ग्राममें केवल हजार मनुष्य बसते थे। ईस्वी ८१०में धर्मपालका दरबार वहींपर लगता था। मालूम होता है, तबतक पाटलिपुत्र पुनरुत्थानसे गौरवान्वित हो चुका होगा।

मगधकी उन्नतिपूर्ण स्थिति बारहवीं शताब्दीमें आकर पतनोन्मुख हो जाती है। क़ुतुबुद्दीन-सरदार बख़्तियारके पुत्र मुहम्मदने ईस्वी सन् ११९७ के क़रीब विहारपर भीषण आक्रमण किया, इसमें न केवल जानतिक ही क्षति हुई; अपितु जो अकथनीय सांस्कृतिक क्षति हुई, उसे यहाँ किन शब्दों-में व्यक्त किया जाय! हृदय उद्वेगसे भर आता है। हज़ारों ब्राह्मण और बौद्ध-साधु निर्दयतापूर्वक क़त्ल किये गये। साथ-ही-साथ न जाने कितने वर्षोंके अथाह परिश्रम द्वारा संचित विविध विषयक साहित्यिक ग्रन्थोंको बुरी तरह जलाया गया। इस हत्याकाण्डमें जैनोंको भी बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। मुसलमान सरदारोंने बिहारके पाटनगरपर, ईस्वी सन् १२४३में, अधिकार किया।

एक बातका मुझे अवश्य ही आश्चर्य है कि राजगृहमें जो जैन-प्रतिमाएँ पायी जाती हैं, वे मुसलमानोंके अत्याचार होनेके बाद भी अखण्डित कैसे रह

गयीं। हो सकता है, वे भूमिगृहमें रख दी गयी हों; परन्तु वैसे भूमिगृहका न तो आजकल कोई पता ही चला है और न किसीने उनका उल्लेख ही किया है।

वाचनाचार्य राजशेखर

चौदहवीं शताब्दीके जैन-संस्कृत-साहित्यपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है कि इन दिनों जैनों द्वारा जो साहित्य निर्मित हुआ, वह केवल साम्प्रदायिक तत्त्वोंके आधारपर ही नहीं, अपितु जनोपयोगी एवं विद्वद्भोग्य तथा तत्कालीन नागरिक सांस्कृतिक तत्त्वस्फोटक ग्रन्थ भी प्रचुर परिमाणमें निर्मित हुए, जिनमें युगप्रधानाचार्य गुर्वावली मुख्य है। हम इसे ऐतिहासिक दैनन्दिनी भी कह सकते हैं। इसमें उल्लेख आया है कि वाचनाचार्य राजशेखरने अपने सहयोगी मुनियोंके साथ बनारस होते हुए राजगृह, पावापुरी, नालन्दाकी भक्तिसिक्त हृदयसे यात्रा कर, उदण्डविहार अथवा बिहार (पटना) में वि० १३५२में चातुर्मास किया।[1] यद्यपि इसमें पाटलिपुत्रका नामोल्लेख नहीं है। परन्तु, उनके आवागमनकी भौगोलिक स्थितिको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वे पाटलिपुत्र अवश्य ही आये होंगे और महत्त्वपूर्ण घटना घटित नहीं होनेके कारण नामोल्लेख नहीं किया होगा।

---

१. सं० १३५२ जिनचन्द्रसूरिगुरूपदेशेन वा० राजशेखरगणिः सुबुद्धिः राजगणि हेमतिलकगणि-पुण्यकीर्तिगणि—रत्नसुन्दर मुनिसहितः श्रीबृहद्ग्रामे विहृतवान्। ततश्चतत्र्य ठ० रत्नपाल सा० चाहडप्रधान श्रावक प्रोपिताभ्यां स्वभ्रातृ-हेमराज-भागिनेयवांछू श्राविकाभ्यां सपरिवाराभ्यां सा० बोहिथ पुत्रेण सा० मूलदेवश्रावकेण श्रीकौशाम्बी—वाणारसी—काकन्दी-राजगृह-पावापुरी-नालन्दा-क्षत्रियकुण्ड ग्राम-अयोध्या-रत्नपुरादिनगरेषु जिनजन्मादिपवित्रितेषु तीर्थयात्रा कृता।

—युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, पृ० ६०।

इन दिनों विहारमें महत्तियाण[1] जातिके अधिक जैनी थे। उनकी स्थिति आर्थिक दृष्टिसे अच्छी थी। उन लोगोंने अपना एक स्वतन्त्र जैन-मन्दिर भी बनवाया था जो आज भी मथियान महल्लामें बहुत ही जीर्ण दशामें वर्त्तमान है। कुछ लोग इसे खरतरगच्छीय मन्दिर होनेके कारण उठानेके विचारमें हैं; परन्तु प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक-रूपी मन्दिरको हटानेमें बुद्धिमानी नहीं होगी। राजगृह, नालन्दा और पावापुरीके कुछ प्रस्तरोत्कीर्ण एवं प्रतिमा-लेखोंके अन्वेषणसे अवगत हुआ कि १७–१८ शतीतक महत्तियाणोंका प्राधान्य रहा, बादके गौरव-सूचक उल्लेख नहींके बराबर मिलते हैं।

कुंवरपाल-सोनपाल

दोनों भाई आगरेके निवासी थे। आपने आगरेसे विहार स्थित सम्मेदशिखर—पार्श्वनाथ हिल्सके लिए विराट् संघ निकलवाया था। संवत् १६७१में वह संघ पाटलिपुत्र भी आया था। उन दिनों यहाँ ऋषभदेव स्वामी एवं पार्श्वनाथ स्वामीके दो श्वेताम्बर जैन-मन्दिर थे। आज भी यहाँके मन्दिरोंमें जो दो-चार बड़ी जैन-प्रतिमाएँ हैं, उनपर इनका लेख खुदा हुआ है। हो सकता है, इन्होंने यहाँपर प्रतिमाएँ रखी हों। पाटलिपुत्रके जायसवाल जैनीसाह और खण्डेलवाल मयणुने संघको भोज दिया था, इसका वर्णन ठीक उसी समय बने एक रासमें दिया गया है। यह रास तत्कालीन बहुतसे विहारके भौगोलिक तथ्योंकी सूचना देता है। इन दिनों पटनामें

---

१. इस वंशकी विशाल ऐतिहासिक प्रशस्ति (वि० सं० १४४२ आषाढ़ वदि ६) दो पाषाणोंपर वर्तमानमें राजगृहमें स्व० बाबू पूरणचन्दजी नाहरके संग्रहालयमें सुरक्षित है। इसमें फिरोजशाह, उनका मण्डलेश्वर तथा तदधीन सेवक सहणासदुरदीनके नामोल्लेख हैं। विहारके ऐतिह्यतत्त्व गवेषकोंका मैं इसपर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

महत्तियाण जातिके जैन बसते। उपर्युक्त रासमें कहा गया है कि आगे पावापुरी जानेका मार्ग सँकड़ा था, अतः बैलगाड़ियाँ यहींपर छोड़कर डोलियाँ (पालकी) करनी पड़ीं। बानरबन भी पटनाके सन्निकट बताया गया है और महानदी पारकर विहारमें प्रवेश करनेका उल्लेख है। यह उल्लेख शायद बख्तियारपुर और हरनौतके बीच जो विशाल नाले पड़ते हैं, उन्हींसे सम्बन्धित है।

कविवर बनारसीदास

सत्रहवीं शताब्दीके दार्शनिक ग्रन्थ-प्रणेता और हिन्दीके उत्कृष्टतम ग्रन्थ-निर्माता साधक कवियोंमें बनारसीदासका स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आपने हिन्दी-कविता-साहित्यकी दो रूपोंसे अभिवृद्धि की, स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्मित कर और प्राकृत-संस्कृत भाषाओंके प्राचीन ग्रन्थोंका प्रामाणिक अनुवाद कर आपने आध्यात्मिक धाराको ही अपनाया था। भौतिकवादी तत्त्वोंको प्रोत्साहन देनेवाली कविताके निर्माणका कटुफल आप युवावस्थामें ही चख चुके थे। इनका साहित्य जनकल्याणके लिए प्रचार-योग्य है। हिन्दीके जीवनचरित्र-विषयक ग्रन्थोंमें अर्धकथानक इनकी अमर कृति मानी जाती है। इनके पिता खरगसेन पाटलिपुत्र आये थे। उनको यहाँ उदर-रोग भी उत्पन्न हुआ था।[1] इनकी बड़ी पुत्री यानी बनारसीकी बहनका विवाह भी पाटलिपुत्रमें ही वि० सं० १६६४में हुआ था।[2] कविवर स्वयं

---

१. "मासि चारि ऐसी विधि भए, खरगसेन पटने उठि गए

× × ×

साठै करि पटनेसौं गौन, खरगसेन आए निज भौन,

× × ×

२. खरगसेन पटनेंमौं आइ, जहमति परे महा दुख पाइ

उपजी विथा उदरके रोग, फिरि उपसंमी आउबलजोग २४०

—"अर्धकथानक"

नरोत्तमदासके साथ व्यवसायार्थ पटना आये और यहाँ ६-७ मास तक रहे थे। इन उल्लेखोंसे विदित होता है कि उन दिनों पाटलिपुत्रमें श्रीमाल जातिके लोग भी बस गये होंगे, और आज भी उनके कुछ घर हैं, जिनमें बाबू पदमसिंह बदलिया प्रमुख हैं।

हीरानन्द साह

बंगालके राजनैतिक इतिहासमें जगत्सेठका स्थान महत्त्वपूर्ण है। १८ वीं शताब्दीमें उनके वंशके सदस्योंकी परिगणना बंगालके भाग्य-विधाताओंमें की जाती थी। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध पटनासे भी था। स्पष्ट कहा जाय तो न केवल यहाँसे उनका पारिवारिक सम्बन्ध ही था, अपितु उनके कुछ भाई पटनामें रहते भी थे। अतः कहना चाहिए कि जगत्-सेठकी उन्नतिकी पूर्व भूमिका पाटलिपुत्रमें ही निर्मित हुई।

जगत्सेठ और उनके वंशजोंकी सुकृतिपर प्रकाश डालनेवाले गुजराती और अंगरेजी भाषामें कुछ ग्रन्थ मिले हैं। मुझे कलकत्ताके स्वर्गीय बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरके संग्रहसे माणक्यदेवीरास नामक ऐतिहासिक कृति प्राप्त हुई है, जिसमें जगत्सेठकी माताका सम्पूर्ण जीवनचरित्र वर्णित है। इस कृतिको मैं इसलिए प्रमाणित मानता हूँ कि इनके निर्माता यति निहाल, वर्षों तक उनके सान्निध्यमें रहे एवं माणकदेवीके स्वर्गस्थ होनेके ठीक तेरहवें दिन इसकी रचना की।

---

१. आयौ संवत चौसठा, कहौं तहांकी बात। २७७
खरगसेन श्रीमालकैं हुती सुता द्वै ठौर
एक वियाही जौनपुर, दुतिय कुमारी और। २७८
सोऊ व्याही चौसठै, संवत फागुन मास
गई पाड़लीपुर विसैं, करि चिंता दुख नास। २७८ (अर्धकथानक)
बैठे तब उठि बोले साहु, तुम बनारसी पटनें जाहु। (अर्धकथानक)

उपर्युक्त 'रास'में बताया गया है कि गंगानदीके तीरपर, शाहीजादपुरमें बिटाणी गोत्रीय[1] पूरणमलकी धर्मपत्नी गुल्लो बहूकी रत्न-कुक्षिसे संवत् १७३७ श्रावण वदि एकादशीके दिन किशोरकुँवरि—अन्नोका जन्म हुआ। क्रमशः युवावस्था प्राप्त होनेपर हीरानन्दके पुत्र माणिकचन्द्रके साथ उनका विवाह हुआ। धनधान्यसे परिपूर्ण होनेके कारण उनका माणिकदेवी नाम ससुरालमें रखा गया।

बात यह है कि जगत्सेठके पूर्वज गहिलड़ा गोत्रीय हीरानन्द मूलतः नागौरके निवासी थे; पर बंगाल जानेके पूर्व पटनामें बस गये[2]। इनके सात पुत्रोंमेंसे कुछ एक बंगालकी ओर गये एवं कुछ पाटलिपुत्रमें ही रह

---

१. बिटाणी गोत्रीय जैनोंकी पर्याप्त संख्या १७ वीं शताब्दीसे ही शाहीजादपुरमें होनेका उल्लेख सोनपाल, कुँवरपाल संघवर्णनमें (संवत् १६७१) तथा भिन्न-भिन्न तीर्थमालाओंमें पाया जाता है। सम्मेदशिखरके मन्दिरोंमें एक लेख भी पाया गया है।

कविवर बनारसीदासजीका पारिवारिक सम्बन्ध भी यहाँसे था। १७-१८ शतीकी तीर्थमालाओंमें जैनोंके गौरवपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं। पता नहीं, वर्त्तमानमें क्या हाल है।

२. नगर सुवश पटणें वसैं, ओशवंश सिरदार।
गोल गहिलडा जगप्रगट, दौलतवंत दातार ॥१॥'
हीरानन्द नरीन्द्रसम, मानें सहु कोई आंण।
सत पुत्र तेहने प्रगट, अदभुत गुण माणि खांण ॥२॥
मांणकचंद्र नरेन्द्रसम, चौदह विद्या भंडार।
लच्छन अंग वत्तीस तसु, काम तणों अवतार ॥३॥
वर देषित हरषित भए, कीनो तिलक तिवार।
करी सभाई व्याहनी, रची वरात विस्तार ॥४॥

—'माणकदेवी रास'

गये। पाटलिपुत्रमें हीरानन्दने जैन-धर्मके मन्दिर एवं श्रीजिनदत्तसूरिजीकी दादावाड़ी[1] वनवायी थी, जैसा कि उनके दस्तावेजोंसे प्रतीत होता है। वर्त्तमानमें, वह पाटलिपुत्र स्थित समस्त जैन-संस्थाओंके प्रवान कार्यवाहक सेठ मंगरचन्द्रजी शिवचन्द्र श्रावकके अधिकारमें है। इस समय पटना सिटी चौकके उत्तर एक गली पायी जाती है, जिसे हीरानन्द हासकी गली कहते हैं। इसका सम्वन्ध उपर्युक्त हीरानन्दसे ही है। कहा जाता है, आपका वनवाया हुआ मकान भी किसी समय सुरक्षित था; पर वह कालवशात् गंगाके गर्भमें प्रविष्ट हो गया। घाट भी आप ही का वनवाया हुआ है। स्मरण रखना चाहिए कि हीरानन्द, शाहजादा सलीमके कृपा-पात्र एवं खास जौहरी थे[2]। पटना जैसी ही दिल्लीमें भी हीरानन्दकी गली प्रसिद्ध है।

गुजराती साहित्यमें पटना

मगव, जैन-संस्कृतिका प्रवान क्षेत्र होनेके कारण, एवं जैनोंके ऐतिहासिक अति प्राचीन तीर्थ तथा शासनाधीश्वर वर्द्धमान महावीरकी विहार-भूमि होनेके कारण जैन-मुनियोंका एवं वृहत्तर संघोंका आगमन समय-समय पर यहाँ हुआ ही करता था। यद्यपि वर्त्तमान-समान पूर्वकालमें आवागमनकी सुविधा नहीं थी; तथापि भक्त लोग वड़े-वड़े संघोंको लेकर तीर्थ-लाभ प्राप्त करते थे। जैनश्रमण पश्चिम भारतसे पैदल चलकर १८वीं शताब्दीमें अधिकांश रूपसे मगघ आये थे। उनमेंसे वहुतोंने अपने भ्रमणको लिपिवद्ध कर ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया है, जो गुजराती

---

१. यह स्थान वर्त्तमान पटना सिटी स्टेशनके दक्षिणमें पड़ता है।

२. आयौ संवत् इकसठा, चैत मास सित दूज ॥२२३॥
साहिव साह सलीम कौ, हीरानन्द मुकीम।
ओसवाल कुल जौंहरी, वनिक वित्तकी सीम ॥२२४॥
—अर्धकथानक, पृष्ठ २१।

व्यक्त किये हैं, उनपर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्होंने पटनाको प्रमुख मानकर यहाँसे चतुर्दिग् कितनी दूरीपर कौन-सा तीर्थ है, उसका लक्षण कैसा है, मन्दिर कितने हैं, मार्गमें कितने कोसपर कौन-कौन ग्राम पड़ते हैं, उनमे मुखिया कौन है. आदि वातोंका जैसा वर्णन पद्यवद्ध रूपमें किया है, शायद विहारके किसी भी कविने नहीं किया होगा। आपने पाटलिपुत्रकी उत्पत्ति भी दी है, जिसकी चर्चा वहुत पहले मैं कर चुका हूँ। वे भी सूचित करते हैं कि दो जैन-मन्दिर पाटलिपुत्रमें और एक वेंगमपुरमें था। महाराजा नन्दकी पंच पहाड़ी इन दिनों ईंटोंके टीलेके रूपमें प्रसिद्ध थी; यह केवल किंवदन्ती रह गयी थी[1]। स्थूलिभद्रका जन्म-स्थान भी आपने पाटलिपुत्र ही वताया है[2]। एक तीर्थमालामें हाजीपुरको उनकी जन्मभूमि माना है[3]। पटनाके जैनोंको कविने धर्मात्मा और धनवन्त रूपसे उल्लेख किया है। यहाँ मैं सूचित कर दूँ कि उपर्युक्त वर्णन सुना-सुनाया नहीं, वल्कि स्वयं पाद-विहार करते हुए वे पाटलिपुत्र आये थे, चातुर्मासमें रहे थे और अपनी उक्तिको वादमें लिपिवद्ध किया था।

जैन-लेखोंमें पाटलिपुत्र

जिस किसी भी नगरका इतिहास लिखना हो, उसके पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि तत्रस्थ समस्त साधनोंका पर्यवेक्षण हो, जिनमें शिलालेखोंपर

---

१. पंचपहाड़ी परगड़ी जिहाँ छे इंटनीखाण हो
तेहने गुरुमुख सांभली, नन्दपहाडि जाणा हो सु० १३
वही

२. थूलिभद्र पण इणपुरी श्रवजतरिया व्रह्मचार.
वही

३. हाजीपुरपट्टण सुभगाम थूलिभद्र जनम्या तिणिठांम
—शीलविजय, वि० स० १७ भु

विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि प्रस्तरोत्कीर्ण शिलाखण्डोंपर सीमित स्थानमें ही, विशिष्ट भावोंका अङ्कन होता था। इसी कारणसे शिलालेखोंकी यथार्थता असंदिग्ध होती है। पाटलिपुत्रमें जैन-संस्कृतिके व्यापक प्रभाव-सूचक उल्लेख प्राचीन प्राकृत-संस्कृत साहित्यमें विद्यमान हैं। उल्लेख प्रस्तर पर खुदे हुए उतने प्राचीन और कहीं नहीं मिले हैं। पाटलिपुत्रसे सम्बन्धित लेखोंमेंसे कुछ एकका उल्लेख यहाँ नीचे दिया जाता है।

(१) संवत् १६८२, मार्गशीर्ष शुदी ५ सा० फटारमल तस्यात्मज सा० कल्याणमल पुत्र चिन्तामणि श्रीजिनकुशलसूरि० वेगमपुर वासतव्य।

(२) संवत् १६९९ पूर्वदेशे पाडलिपुर नगरे वेगमपुर।

(३) तपागच्छे भ० श्री ५ श्रीहीरविजयसूरि जगतपादुकेभ्यो नमः पम० चन्द्रकुशल गणि नित्यं प्रणमतिश्च। संवत् १७६२ वर्ष कात्तिक शुक्ल ६ सा० वेणिदास पुत्र भीनसेन पुत्र मायाचन्द वीराणी गोत्रे प्रतिष्ठितम् वीराणी मायाचन्द प्र० क० पाडलिपुरे।

तीन लेख इस लेखसे साम्य रखनेवाले उपलब्ध हुए हैं अतः उनका उल्लेख नहीं किया।

(४) १८४८ वर्षे मार्गशिर वदी ५ सोमवारे श्रीपाडली वास्तव्य श्रीसकलसंघ सुमदायेन श्रीस्थूलभद्रस्वामीजी प्रसादस्य कारापितं कार्य्यं-स्वास्वरी श्रतपागच्छीय श्राद्धः श्रीलोढा श्रीगुलावचन्द्रजी प्रतिष्ठितं सकलसूरिभिः।

(५) सं० १८४८॥ भाद्र सुदि ११ श्रसंघेन। श्रुतकेवलि श्री-स्थूलभद्राचार्याणां देवगृहं कारयित्वा तेषां चरणन्यासः कारितः प्रतिष्ठत श्रीअमृतधर्मवचनाचार्यैः॥

(६) संवत् १८४८ मिति भद्र सुदि ११ तिथौ॥ श्रीपाटलिपुत्रे माल्हू गोत्रे सा० हुकुमचन्दजी पुत्र गुलावचन्द भार्या फुल्लों वीवीकया

इष्टसिध्यर्थं श्रीचतुर्विंशतिजिनमातृस्थापना कारिता प्रतिष्ठिता च श्री श्रीजिनभक्तिसूरि प्र शिष्य श्रीग्रमृतधर्म वाचनाचार्यं श्रीरस्तु ।

(७) १८५२ वर्षे पोष शुक्ल ५ मृगुवासरे पडलीपुर वास्तव्य। श्रीसकलसंघसमुदायेन श्रीविशाल स्वामी। श्रीपार्श्वनाथ स्वामी प्रासादस्यजीर्णोद्धरं कारापितं। कार्य्यस्याग्रेश्वरी तपागच्छीय श्राद्धः। कुहाड श्रीज्ञानचन्द्रजी प्रतिष्ठितं च श्रीसकलसूरिभिः शुभं भूयात्।

(८) शुभ संवत् १८७७ वर्षे वैसाख शुक्ल पंचम्यां चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणा चरण पादुका प्रतिष्ठिता श्रीमद्वृहत्खरतरगच्छे भट्टारक श्रीजिनग्रक्षयसूरि पट्टालंकृत श्रीजिनचन्द्रसुरिभिः श्रीमत्पाटलिपुर वास्तव्य समस्तश्रीसंघैः प्रतिष्ठा कारापिता। पं०। गणि श्रीकीर्त्युदयोपदेशात् ॥ श्रीरस्तु।

(९) संवत् १८७७ वर्षे वैशाख शुक्ल पंचम्या चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणाम् चरण पादुका प्रतिष्ठिता भट्टारक श्रीजिनग्रज (?क्ष) यसूरि पट्टालंकृत श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः मनेर वास्तव्य श्रीमालान्वये वदलिया[1] गोत्रे सुश्रावक श्रीकल्याणचन्द्र तत्पुत्र श्रीभग्गुलाल कीर्तचन्द तत्पौत्र किसनप्रसाद ग्रभयचन्द्रादि परिवारेण स्वश्रेयोर्थभ् प्रतिष्ठा करापिता पं। ग-कीर्त्य (द) योपदेशात्।

(१०) श्री संवत् १९१० शाके १७७५ साल मिती वैसाख शुक्ल पंचम्यां गोरो पाटलीपूर सर जिनालय पूर्वक श्रीनेमनाथ मंदिर जेसवाल माणकचन्द तत्पुत्र मटरूमल तत्पुत्र सीवनलाल प्रतिष्ठा कारापितं श्रीअस्तु॥

उपर्युक्त शिलालेखोंमें सतरहवीं शताब्दीके बाद जो सुकृत किये गये थे, उनमेंसे कुछ एकके ही उल्लेख यहाँ हैं। विडाणी गोत्रके जैनोंकी कीर्त्ति

---

१. यह स्थान पटना सिटी स्टेशनके उस पार है। ग्राज भी श्रीजिन दत्तसूरिजीका स्थान बना हुग्रा है।

पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि तीर्थोंमें नामोत्कीर्णित हैं। पटनामें निवास करनेवाले जैनोंकी वंशावली नहीं मिलती और जो कुछ प्राप्त होती भी है, वह ४-५ पीढ़ीसे ऊपर नहीं जा सकती। अतः यह शंका होने लगती है कि यहांके स्थायी निवास करनेवाले जैनी कौन थे? क्योंकि वर्त्तमान पटनामें जो श्वेताम्बर जैनी निवास करते हैं, वे १००-१५० वर्ष पूर्वके नहीं हैं। ये लोग लखनऊ या कानपुरसे आकर यहाँ स्वतन्त्र बस गये या किसीको गोद आये।

गुजराती साहित्यके पाटलिपुर सम्बन्धित उल्लेखोंसे पता चलता है कि उन दिनों यहाँ जैनोंकी संख्या पर्याप्त थी। स्थानीय वयोवृद्ध इतिहास-प्रेमी बाबू पन्नालालजी कोचर (सभापति, पटना-जैन-प्रगतिशील सभा) से मुझे मालूम हुआ है कि ४० वर्ष पूर्व जैनयतियों (काम चलाउ जैन-धर्म गुरु) के उपाश्रय—निवासस्थान चार-पाँच थे, जिनमेंसे गोविन्दचन्दजी गोकुलचन्दजी प्रमुख थे। इनके मरनेके बाद उपाश्रयोंकी सम्पत्तिपर उन्हींके चेले कहलानेवाले उपासक गृहस्थ अधिकार जमा बैठे। गोविन्द-चन्दजीके यहाँ हस्तलिखित प्रतियोंका भी एक अच्छा संग्रह था जो जैन-संस्कृति और विशेषतः आयुर्वेदसे सम्बन्धित था। आप आयुर्वेदमें सिद्धहस्त माने जाते थे। महाराज दरभंगा की ओरसे आपको मासिक वृत्ति भी मिलती थी। इस संग्रहको पटनाके एक जैन''''सिहने कलकत्तामें जाकर बेच दिया। अहिंसक व्यक्तिके लिए इन सांस्कृतिक साधनोंकी हत्याके अतिरिक्त और हिंसा हो ही क्या सकती है? चाँदीके टुकड़ेके ग़ुलामने पटनाकी ऐतिहासिक सामग्रीको सदाके लिए नष्ट कर दिया, क्योंकि, यतियोंके संग्रह मैंने कई स्थानोंपर देखे हैं, उनका ऐतिहासिक दृष्टिसे पर्य-वेक्षण करनेपर मूल्यवान् सूचनाएँ मिलती हैं।

पाटलिपुत्र और जैन-पुरातत्त्व

कोई भी राष्ट्र या अन्य प्रान्त अन्योंके सम्मुख तभी समुचित रूपसे

समादृत हो सकता है, जब उसके पास कलात्मक सम्पत्ति परिपूर्ण हो। पुरातत्त्वके गम्भीर अध्ययनसे ही किसी भी नगरकी प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यताकी उच्चताका पता चल सकता है। अतः जिस नगरपर कुछ भी लिखना हो, उसके पूर्व सर्वप्रथम वहाँके अवशेष या वहाँपर सुरक्षित अन्यान्य त्रुटितांशोंका सर्वांगीण दृष्टिसे अभ्यास करना चाहिए। पाटलिपुत्र इन दोनों पुरातत्त्वका आकर है। जहाँ कहीं भी आज खुदाई होती है, कुछ न कुछ निकलता ही है। यहाँ भूमिसे निकली हुई कलात्मक सम्पत्ति पर्याप्तरूपमें यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं, जिनपर सुव्यवस्थित अध्ययन नहीं हो रहा है। जनता इन्हें पाषाण समझकर छोड़ देती है, कुछ समझदार अपने बाग-बगीचोंमें सजा देते हैं, बस यही नागरिक कर्तव्यकी इतिश्री समझिए। पर उन्हें क्या पता कि ये हमारे नगरके सांस्कृतिक इतिहासके अनन्य प्रतीक हैं। हमारा अतीत इन्हींके कारण चमका था, इनमें एक प्रकारका स्पन्दन है। आजके युगमें हम यदि इनकी उपेक्षा कर बैठेंगे तो बड़ा अनर्थ होगा।

यों तो पाटलिपुत्रके इन खण्डहरोंपर कोई सहृदय, सूक्ष्मदर्शी लिखने बैठे तो आसानीसे १००० पृष्ठ लिख सकता है। मैंने अपना क्षेत्र प्रस्तुत प्रबन्धमें अत्यन्त सीमित रखा है। अतः पाटलिपुत्रमें जो जैन-कलात्मक प्रतिमाएँ, मन्दिर आदि मिले हैं, उनकी एवं स्थानीय संग्रहालयोंमें जो सामग्री मेरे विषयसे सम्बन्धित हैं, उन्हींकी चर्चा करूँगा। पुरातत्त्व सांस्कृतिक इतिहास रूपी भवन-निर्माणमें प्रधान साधन है। स्थानीय पाटलिपुत्र आश्चर्यगृह और सिटीके अनन्य कलाभक्त दीवान बहादुर श्रीयुत राधा-कृष्णजी जालानके संग्रहमें जैन-कलाके उत्कृष्टतम नमूने विद्यमान हैं। जालानजीका संग्रह मैंने देखा है। वहाँ पाँच अष्टधातुकी प्रतिमाएँ तथा चार पाषाण मूर्तियाँ हैं जो सोलहवीं-सत्रहवीं शतीकी हैं। किसी एकको मन्दिर स्थित काष्ठ चौखटके उपरि भागमें रखा गया है, जिसके मध्य भागमें जैन-कलश और चतुर्दश स्वप्न सुन्दर ढंगसे उत्कीर्णित हैं। निःसन्देह

यह जैन-मन्दिरका ही भाग है। क्योंकि चौदह स्वप्न और किसी भी धर्मके अवशेषोंमें नहीं मिलते। यह काष्ठका अलंकरण ओड़िसाका प्रतीत होता है। कारण कि उस पर भुवनेश्वरकी शिखराकृति स्पष्ट है। यह १४वीं शताब्दी-का ज्ञात होता है। आज भी ओड़िसाके कलाकार काष्ठको अपना माध्यम बनाये हुए हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थोंका संकलन भी अच्छा ही है। कुछ जैन-चित्रकलाके नमूने हैं, जिनमें संवत् भी लिखे गये हैं। रंग और रेखाओंके विकासकी दृष्टिसे कलाकारोंको चाहिए कि इनका निष्पक्ष मनोभावोंसे अध्ययन करें।

स्थानीय श्वेताम्बर-मन्दिरके अग्रभागमें विराट् काष्ठ-पट्टिकाके ऊपर एक भावपूर्ण, प्रभावोत्पादक वर-यात्रा उत्कीर्णित है। विहारियों-की घुटनों तक धोती, देहपर अर्धवस्त्तरीय वस्त्र, सिरपर पगड़ी आदि विशिष्ट वेशभूषा एवं पालकीकी आकृति तथा रथचक्र प्रभृति उपकरणोंको देखकर, विना किसी संकोचके कहा जा सकता है कि यह विहारके शिल्पियों द्वारा शुद्ध खनि कलात्मक प्रतीकके नमूने हैं। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है ,कि यह वरयात्रा किसकी होनी चाहिए ? क्योंकि विहारकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमिपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है कि प्रान्तमें घटित घटनाओंमें ऐसी कोई जनश्रुति नहीं, जिसका वर-यात्रासे विशेष सम्बन्ध हो। परन्तु मालूम होता है, यह जैनोंके बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी बारात है। अन्य प्रान्तीय शिल्प-स्थापत्य कलामें भी इसे स्थान दिया गया है।

पटना सिटी (बाड़ेकी गलीवाले) श्वेताम्बर जैन-मन्दिरमें भी तीन प्रतिमाएँ वर्त्तमान हैं, जिनमें दो जैन और एक बौद्ध है। एक जैन-प्रतिमापर सप्तफणी सर्पकी आकृति होनेसे पार्श्वनाथ—जो ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनका ज्ञान होता है। इस मूर्तिमें कुछ ऐसी विशे-षता है जो विहारकी कुछेक मूर्त्तियोंको छोड़कर और कहीं भी न मिलेगी। यह जैन-प्रतिमा स्पष्टतः बौद्धकलासे प्रभावित है। कारण कि प्रतिमापर

इस प्रकार जो उत्तरीय वस्त्र पड़ा हुआ है और जिससे दोनों हाथ ढंके हुए हैं, वह भगवान् बुद्धकी मूर्त्तिके समान ही है। जैन-तीर्थंकरोंकी अद्यावधि जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनपर इस प्रकार वस्त्रचिह्न कहीं नहीं पाया जाता। जैन-स्थापत्यशिल्पके ग्रन्थोंमें तीर्थंकर प्रतिमापर वस्त्राच्छादित करनेका उल्लेख भी वास्तुशास्त्रमें अद्यावधि मेरे अवलोकनमें नहीं आया। प्रतिमाके निम्न भागके उभय पक्षमें त्रिफणयुक्त अधिष्ठातृ अङ्कित हैं। जो धरणेन्द्र और पद्मावती हैं। आभूषणोंमें हँसुली पाई जाती है। वह गुप्तोंके अन्तिम समयके आभूषणोंसे साम्य रखती है। दोनोंकी नाक चिपटी होनेके कारण निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस मूर्त्तिका निर्माण मगध देशमें मागधीय कलाकारों द्वारा हुआ था। गुप्तोंके अन्तिम समयकी लिपिमें 'ये धम्मा हेतुपभवा' बौद्ध-मुद्रालेख भी मूर्त्तिके पृष्ठ भागमें अंकित है। अतः मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि इस मूर्त्तिका निर्माणकाल गुप्तोंका अन्तिम समय होना चाहिए। प्रतिमा श्याम पाषाण-पर उत्कीर्णित है, जो विहारका खास प्रस्तर है।

उपर्युक्त मूर्त्तिके बायें भागमें एक श्याम शिलापर भगवान्‌की प्रतिमा खुदी हुई है। जिसके उभय पक्षमें इन्द्र-इन्द्राणी चामर लिये खड़े हैं। प्रतिमा बड़ी मनोज्ञ और आध्यात्मिक भावोंको लिये हुए है। सौन्दर्यकी दृष्टिसे ऐसी मूर्त्तियाँ कम देखनेमें आती हैं। निम्न भागमें उभय ओर वृषभ और मध्यमें धर्मचक्र है। प्रतिमा ऋषभदेव भगवान्‌की है। उपरि भागमें देवतागण पुष्पमाला लिये खड़े हैं। तदुपरि वाद्योंको अदृश्य हस्त बजा रहे हैं। कल्पवृक्षकी पँखुड़ियाँ हैं। इस प्रकारका अंगविन्यास केवल मगधके कलाकार ही बना सके हैं। मगधकी बनी प्रतिमाएँ दूरसे ही पहचानी जाती हैं। इस प्रकारकी प्रतिमाओंके कुछ चित्र तो आ० स० इ० १८२६ के वृत्तपत्रमें प्रकट भी हुए हैं। मगधके कलाकारोंमें जो प्रतिमा या शिल्प स्थापत्य-कला-निर्माण-विषयक विशेषता पाई जाती है, वह यह कि वे अपने प्रान्तमें प्राप्त पाषाणोंका ही उपयोग करते थे और वह भी

पूर्ण सफलताके साथ। उनपरकी पालिश आजके संगमरमरके पाषाणोंसे कहीं अधिक चमकदार है। जैन-मन्दिरमें एक मुकुटधारी बौद्ध मूर्ति भी अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण है, जिसमें बन्दरका चिह्न अंकित है। कुछ धातु प्रतिमाएँ भी हैं, जो प्राचीन और कलापूर्ण हैं।

पाटलिपुत्र आश्चर्यगृहमें भी जैनतीर्थंकर और यक्षोंकी प्राचीनतम प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जिनमेंसे कुछेक पटनासे ही प्राप्त की गई हैं और अवशिष्ट विहारके अन्य स्थानोंसे। इन प्रतिमाओंके चित्र भी आश्चर्यगृहसे सरलतासे प्राप्त किये जा सकते हैं। उनपर कलात्मक विवेचन डालनेवाला साहित्य अभीतक तैयार नहीं हो पाया है। पटना जैन-समाज अन्य कार्योंमें अपनी क्रियाशीलताका परिचय देनेमें पश्चात्पाद नहीं रहता, पर ऐसे सांस्कृतिक कार्योंमें न जाने क्यों चुप्पी साध लेता है।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे सूचित होता है कि पाटलिपुत्रका महत्त्व जैनदृष्टिसे कितना गौरवपूर्ण है। इतिहासकारोंने अभीतक जैनोंकी ऐतिहासिक दृष्टिको समझा ही नहीं था। अब भी यदि गम्भीर गवेषणा हो तो बहुमूल्य तथ्य प्रकाशमें आ सकते हैं। विद्वानोंकी मान्यता है कि प्राचीन विहारका इतिहास ही भारतका इतिहास है; और विहारके इतिहासका अधिकांश भाग जैन-इतिहाससे सुसम्बन्धित है।